ओ३म्

गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्यकाविषयसूची

प्रथमाध्यायः

द्वितीयाध्यायः

पंचदशाध्यायः

षोड़शाध्यायः

सप्तदशाध्यायः

अष्टादशाध्यायः

गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्य

का

शुद्धाशुद्ध पत्र

पृष्ट	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	८	सुभद्र	सुभद्रा का पुत्र
१६	४	अस्मात्	अस्मान्
२५	१४	मिलाहुआ	तिरस्कृतहुआ
२९	१०	प्रशोच्यान	अशोच्यान्
२८	१३	विष्टचेतसा	विष्टचेतसां
२९	१६	तन्निमित्त	तन्निमित्तं
,,	१७	प्रहिते	प्रहृते
,,	,,	चित	चिद्
,,	१८	प्रवृत्ति	प्रवृत्तिः
,,	२२	मवतिष्टत	मवतिष्ठेत
,,	१९	रश्मिन	रश्मिर्न

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२	१५	सस्य	सः प
३३	२०	श्रिणु	शृणु
३८	४	युवावस्थाएं	अवस्थाएं
४०	१४	तद	तद्
४४	,,	को	को
४८	१३	दह्वति	न दह्वति
,,	१४	नच आपः	च आपः
६१	२२	स्थानंप्राप्नोति	स्थानप्राप्ते
६४	१७	असन्नेवं	असन्नेव
८२	३	दिव्य	दीव्य
८५	१	यतच्हि	यतीष्ठ
११७	१६	धारण	धारणा
११८	२	यमाऽनघ	मयाऽनघ
१२२	२	कदाचन्	कदाचन
१२३	२३	माम	मां
१२६	११	यो० स०	यो० कौ०
१३८	२	प्रयोजनत्वा	प्रयोजनवत्वा
१५०	१९-२०	शान्तमुपासीत्	शान्त उपासीत
१५७	२१	ह्नन	ह्वन
१५८	१९	दृश्यतेयेन	दृश्यते
१६६	११	यज्ञः	अज्ञः
१७५	१	नैष्कर्म्यं	नैष्कर्म्यं
२०६	६	युँजात्	युंज्यात्
२२६	१४	मद्ग्रते	मद्गते
२३७	२	लक्षरूप	लक्षरूपअर्थं
२५१	११	यस्यमात्मा	यस्यआत्मा
२५४	१२	पस्यति	पश्यति
,,	१६	पश्यत् सुहैव	पश्यत्स्विहैव
२६१	१२	देवानां	वेदानां
२७५	८	क्षष्यजो	क्षणाजो
२७६	२१	सच्चितं	संचितं
४०७	११	भयः	भूयः

ओ३म्

॥ अथ गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्यभूमिका ॥

शार्दूलविक्रीड़ितम्

भाष्यं केऽपि वदन्ति वैदिकपथे गीतापरं शाङ्क-
रम् । केचिद् द्वैतपरं वदन्ति निपुणा रामानुजी
यंपरे । एवं भिन्नमतिप्रमाणनिचयं ज्ञात्वा मु-
निर्वैदिको । वक्ष्ये वै श्रुतिसम्मतं सविशदं भाष्यं
प्रदीपप्रभम् ॥ १ ॥

स्रग्धरावृत्तम्

गीतायोगप्रदीपः प्रथयति सुखदं सर्ववेदैकत-
त्वम् । यस्मिन् स्नेहप्रदानं श्रुतिमतिमुनिना
वैदिकंकर्मदत्तम् । वर्त्तिस्नेहान्तवर्त्तिप्रभवति
नितरां वैदिकं ब्रह्मभानम् । तस्माद् भाष्यं
मदीयंश्रुतिपथ विषयं पठ्यतां पक्षशून्यैः॥२॥

(१)

वैदिकभावबतायदिये, जिन दूर कियेसबमोह
मतंगा । मेटदिये सगरेपथ नूतन, दिव्यदिया

जिनवैदिकरंगा । भारतडूबतथाभवसागर पारभयाजिनकेसतसंगा। सोगुरु हैं हमरे उर मेंजिनमेटदियेसबमायिकभंगा ॥

(२)

पूरणब्रह्म लखा जिनके बल एक अखण्ड रमा भवसारे। रूप न रेख अलेख सदा इम भाषत है जिनको श्रुतिचारे। ज्ञानदिनेश चढ़ा जिन से मतमोहनिशाकेमिटे सबतारे । सो गुरु हैं हमरे उरमें जिन पापमहानिधिपारउतारे ॥

(३)

कोउकमानतहैगुरुगोरख, कोउ कबीरकोमानतज्ञानी।कोउदिगम्बरमानत है गुरु कोउक मानतहै शिवध्यानी । कोउकध्यानकरे निसिवासर, पाहनमूरतिहै जिनमानी, हैंमुनिके उरमेंगुरुसो,जिनवैदिकभावनकीगतिजानी॥

(४)

मोह अगाधपयोनिधि में, जिनवेदजहाज़ दियाअतिभारी।भारतदीनदुःखीजनव्याकुल,

जायपड़े उसमें नरनारी। मोह तुफान तरङ्ग-
जिते, जिनदूरकियेक्षणएकमझारी। सो गुरु
हैं हमरेउरमें, जिनका यशपूररहादिकचारी॥

(५)

जात बहेभवसागरथेहम, काढ़लियेजिसने धर
ध्याना। अंजनज्ञानअमूल्यदिया, जिससेअब
देवनिरञ्जनजाना। छूटगएजड़देव उपासन
एक महाप्रभुको प्रभुमाना। धन्य दयामय देव
अमूरत हैसबकेघटमें नहिं छाना॥

(६)

कोउकमूड़मुड़ायफिरे, अरुभेषधरेजगमें दश
नामी। कोउकशीशजटा नखधारके, ढूंढ़फिरे
प्रभुकोसबधामी। कोउदिगम्बरनामधरे पुन
कोउकभैरवकेमतगामी। येसबभेषधरेंजग में
जन, हैं मुनिके गुरुवैदिकस्वामी॥

दोहा

मुनि बिन कबु किनहु न कथा गीतामेंयहज्ञान।
अहंब्रह्म मत टारके एक ईशको ध्यान॥

गीतायोगप्रदीप मे यही अपूरव भेद।
मायावाद मिटायके मूलबखाना वेद॥

—❧:o:☙—
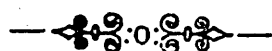
श्रीमद्भगवद्गीता = गीयते इति गीता = जो गान किया जाय उसका नाम गीता है और वह गान विना किसी शब्द विशेष के नहीं होसक्ता, इसलिये वेद के कर्म, उपासना और ज्ञान यह तीनों काण्ड जिस सब्द समुदायात्मक ग्रन्थ विशेष से गान अर्थात् वर्णन कियेजावें उसका नाम गीता है। यद्यपि गीता शब्द का प्रयोग रामगीता, अर्जुनगीता, अवधूतगीता, इत्यादि अनेक ग्रन्थों में कियाजाता है तथापि मुख्य प्रयोग गीता का भगवद्गीता में ही है, क्योंकि वैदककर्म, उपासना, और ज्ञान, इन तीनों काण्डों का गान करने वाली भगवद्गीता से भिन्न अन्य कोई गीता नहीं। और इस त्रिकाण्डरूप वेदका व्याख्यान होने से ही गीता संसारभर के सब पुस्तकों से उत्तम मानीगई है, और बात यह है कि उक्त तीनों वैदिक काण्डों का जैसा सरल और स्पष्ट वर्णन गीता में पायाजाता है वैसा किसी अन्य पुस्तक में नहीं मिलता। यद्यपि ज्ञानकाण्ड में उपनिषदों का पद गीता से उच्च माना गया है, परन्तु जैसा गीताप्रभावशालीग्रन्थ है वैसा उपनिषद् नहीं, कारण यह है कि प्रथम तो उपनिषदों की भाषा गीता के समान सरल नहीं और दूसरे उपनिषदें प्रायः एक २ वेद को आश्रयण करके प्रवृत्त हुए हैं और गीता चारोवेदों को आश्रय करके प्रवृत्त हुई है, जैसाकि "छन्दोभिर्विविधैःपृथ

कू" गी० १३ । ४ इस श्लोक में यह वर्णन किया है कि सब वेदोंने जिस प्रकृति, पुरुष और परमात्मा के स्वरूप को विस्तार पूर्वक वर्णन किया है उस वैदिक विस्तार को गीता के कर्त्ता महर्षिव्यास ने अपनी दार्शनिकयोग्यता से गीता में संग्रह किया है। और गीता का यही सर्वोपरि महत्व है कि वह वैदिक अर्थ को प्रतिपादन करती है॥

ननु—'सर्वोपनिषदोगावोदोग्धागोपालनन्दनः। पार्थोवत्सःसुधीर्भोक्तादुग्धंगीतामृतंमहत्' इत्यादि श्लोकों में लिखा है कि कृष्णजी ने उपनिषद्रूप गौओं से अर्जुन को वत्स बनाकर गीतारूप अमृत दोहन किया है फिर गीताको वैदिक अर्थों का भाण्डार कैसे कहते हो ? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार गीता में वेद के तीनों काण्डों का वर्णन पाया जाता है इस प्रकार उपनिषदों में तीनों काण्डों का वर्णन नहीं, इसलिये केवल उपनिषदों को गीता का मूल मानना ठीक नहीं, यदि केवल उपनिषद् ही गीता का मूल होते तो " यस्यनाहंकृतोभावोबुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि सइमांल्लोकान्नहंति न निबध्यते ॥ गी० १८ । १७ इत्यादि श्लोक जो क्षात्रधर्म को निष्पाप कथन करते हैं कहां से लिये जाते ? यह ज्ञान केवल वेदों में ही मिलता है जिन में धर्म की मर्य्यादा बान्धनेवाले क्षत्रियों का यह अद्भुत ज्ञान वर्णन किया गया है, जैसाकि:—

"येयुध्यंतेप्रधनेषुशूरासोयेतनूत्यजः" ऋ० ८।१।३।२ में यह वर्णन किया है कि जो शूरवीर क्षत्रिय धर्म्मरक्षा के लिये

युद्ध में सन्मुख लड़कर शरीरों को परित्याग करते हैं वह बीर अनुत्तम सुख वाले लोकों को प्राप्त होते हैं अर्थात् उत्तमयोनियों को पाते हैं। और:—

"हत्वायदेवाअसुरान्यदायन्देवादेवत्वमभिरक्षमाणाः ॥ ऋ०८।१९।४ अर्थ—जो तेजस्वी शूरबीर क्षत्रिय देवत्व के विरोधि शत्रुओं को अर्थात् असुरों को युद्ध में मार विजयी होकर अपने देश में आते हैं वह पाप के भागी न होकर अपने तेज तथा पराक्रम का संरक्षण करतेहुए स्वदेश में सुख पूर्वक रहते हैं। इससे विदित होता है कि अपने तेज तथा पराक्रमका संरक्षण करना क्षत्रिय का परमधर्म है, ऐसा क्षत्रिय अपने क्षात्रधर्म का संरक्षण करता हुआ कदापि पाप का भागी नहीं होता और युक्ति यह है कि यदि केवल उपनिषदर्थ को लक्ष्य रखकर ही गीता बनाई गई होती तो उसको उक्त गी० १३।४ में विस्तार से वर्णन किये हुए वेदार्थ का संग्रह न कहाजाता। और जो उपनिषदों को गीता का एकमात्र मूल कथन करने में उक्त श्लोक प्रमाण दिया है वह आधुनिक है। कई एक लोगजो उपनिषदों से बढ़कर अन्य कोई ग्रन्थ ज्ञान का भाण्डार नहीं मानते, यह भाव भी इसी श्लोक से लियागया है। अस्तु इस भाव ने भी स्पष्ट सिद्ध कर दिया कि गीता पौराणिक अर्थ को संग्रह नहीं करती किन्तु उपनिषदों को आश्रयण करती है। इससे भी यह स्पष्ट होगया कि गीता आर्षग्रन्थ है, और जो कई एक लोग गीतापर यह आक्षेप किया करते हैं कि यह आधुनिक ग्रन्थ है और केवल कृष्णजी की प्रशंसा परक है उन लोगों ने स्यात् गीता के गूढ़ सिद्धान्तोंपर कभी भी दृष्टि नहीं दी, यह ग्रन्थ

कृष्ण की प्रशंसापरक नहीं किन्तु अक्षर परमात्मा का वर्णन करता है। जैसाकिः—"समंसर्वेषुभुतेषुतिष्ठन्तंपरमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तंयःपश्यतिसपश्यति" गी० १३। २७ इस श्लोक में वर्णन किया है कि सबभूत विनाशी हैं और एकमात्र परमात्मा ही अविनाशी और सब में स्थिर है। एवं इस समग्र विनाशी संसार में परमात्मा को अविनाशी समझने वाला पुरुष ही परमात्मा का यथार्थ ज्ञाता होसक्ता है अन्य नहीं, इस कूटस्थ नित्य परमात्मा का ज्ञान गीता में अत्यन्त बल पूर्वक भरा हुआ है और १८वें अध्याय में जाकर इस बात को स्पष्ट करादिया हैं कि वस्तु के यथावत् स्वरूप को जानना ही सात्त्विक ज्ञान है और इससे भिन्न"अतस्मिँस्तद्बुद्धिः" अर्थात् जो जिसरूप से नहो उसको उस रूप से जानना मिथ्या ज्ञान कहलाता है, और इसी को तामसज्ञान कहते हैं। एवं सात्त्विक राजस, तामस, इन तीन गुणों के तीनों भावों के भेद से गीता में सच्चाई का चित्र खेंचादिया है। जिन लोगों ने गीता का गुण त्रय विभागयोगाध्याय १४ और प्रकृतिपुरुषविवेकयोगाध्याय १३ तथा दैवासुरविभागयोगाध्याय १६ इन अध्यायों को समझ कर पढ़ा है वह कदापि नहीं कहसक्ते कि गीता में कृष्ण की प्रशंसा भरी है और मध्यम षट्क में कृष्णजी ईश्वर की विभूतियों को वर्णन करते हैं जिनको वैदिक प्रमाणों द्वारा हमने भाष्य में वर्णन किया है, और प्रथम षट्क अर्जुन की मोह निवृत्ति को कथन करता है। इस प्रकार विचार करने से गीता का समग्र अर्थ स्पष्ट होजाता है कि गीता आधुनिक अर्थ का भाण्डार नहीं किन्तु वेदका सार है। और यह आधुनिक अर्थ का भाण्डार

हो ही कैसे सक्ती है जबकि इसको महर्षिव्यास ने ग्रन्थन किया है। जैसाकि:— "व्यासप्रसादाच्छुतवानिमंगुह्यमहं परम्। योगंयोगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम्" गी० १८। ७५ इस श्लोक ने इस वात को स्पष्ट करदिया कि गीता को महर्षिव्यास ने वनाया है और इस से यह बात भी सिद्ध होगई कि योगेश्वर कृष्ण ने इस गीतारूपी शास्त्र का कथन युद्ध के समय किया था ईश्वर कृष्ण ने नहीं।

ननु—युद्ध के समय में इतना विस्तृत अर्थ कृष्णजी ने कैसे ग्रन्थन कर दिया ? उत्तर—कृष्णजी ने अर्जुन को गीता का आशय वर्णन किया, उस आशय को व्यास जी ने अपने कवित्व सामर्थ्य से विस्तृत कर दिया जैसा कि उक्त श्लोक में वर्णन किया गया है। और जो कई एक लोग यह प्रश्न करते हैं कि गीता में अर्थवाद अधिक है इसलिये यह आर्ष ग्रन्थ नहीं। इस का समाधान यह है कि गीता में अर्थवादका वाहुल्य नहीं किन्तु उपचार की अधिकता है, जो वस्तु अलङ्कार से वर्णन की जाती है उसको उपचार कहते हैं जैसा कि :—"कालोऽस्मिलोकक्षयकृत् प्रवृद्धोलोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः" गी० ११। ३२ में कृष्णजीने कालके अलङ्कार से अपने आपको सबका संहार कर्त्ता वर्णन किया है। इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि कृष्णजी ने अपने योगज सामर्थ्य से भविष्यत्का ध्यान धरके ऐसा कहा कि इस काल भगवान् के आगे दुराचारी दुर्योधनादिक मरे ही समझो, यह एक रूपक वांधकर ऐसा कहा है, ऐसे रूपक गीता शास्त्र को उसकी सचाई और उच्चाई से गिरा नहीं सकते,

और जो कृष्णजी की स्तुति की गई है वह उनके योगेश्वर भाव को लेकर की गई है। इस अर्थवाद से गीता दूषित नहीं होती क्योंकि इसका गीता में मिथ्या ज्ञान के प्रचार में तात्पर्य नहीं, किन्तु कृष्णजी की योगज सामर्थ्य के वर्णन में है। जैसा कि पातंजलयोगदर्शन कै० सू० ११ के भाष्य में चित्तबलसेदण्डकारण्य का शून्यकरना, समुद्र का सुका देना, इत्यादि योगी के सामर्थ्य में वर्णन किया गया है। जब यह अर्थवाद महर्षिव्यासजी की रचनाका अलङ्कार है तो कृष्णजी जैसे योगेश्वर की स्तुतिरूप जो अर्थवाद है वह इस गीता शास्त्रको आर्षत्व से कैसे गिरा सकता है। और जब व्यास सूत्रों के साथ तथा व्यासभाष्य के साथ गीता शास्त्र सङ्गत है अर्थात् जिसप्रकार व्याससूत्रों में ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया है तथा पातंजल योगभाष्य में योगी के ऐश्वर्य्य प्रतिपादन किये गए हैं, इसीप्रकार गीता में भी ब्रह्मविद्या और योगी के ऐश्वर्य्य प्रतिपादन किये गए हैं अतः गीता महर्षिव्यास कृत होने से आर्ष है॥

ननु,—जब तुम योगी का ऐसा अपरमित सामर्थ्य मानते हो तो फिर पुराणों में ननु नच क्यों? उत्तर—पुराण अतस्मिँस्तद्बुद्धिरूप तामसज्ञान का भाण्डार हैं अर्थात् उनमें मिथ्याज्ञान की बातें अधिक भरी हैं जैसा कि ब्रह्माके अंगुष्ठ से दक्ष का उत्पन्न होना, ईश्वर का मोहित होकर अज्ञानी बन जाना तथा उसका मच्छ कच्छादि रूपों वाला आकार जन्मना, मोहिनी आदि वस्तुओं पर मोहित होकर अपने ऐश्वर्य्य को नष्ट करना, इत्यादि अनन्त मिथ्या बातें हैं, परन्तु महर्षिव्यास के रचे हुए ब्रह्मसूत्र, तथा गीता में ऐसी एक बात भी नहीं, इसीलिये

इस तामसज्ञान को गी० १८ । २२ में युक्ति रहित लिखा है ।

ननु—महाभारत व्यास जी का बनाया हुआ है उसमें सहस्रों बातें युक्ति विरुद्ध हैं? उत्तर—वास्तव में व्यासजी का बनायाहुआ महाभारत२४ सहस्र श्लोक हैं जैसाकि " चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रेभारतसंहिताम् । उपाख्यानैर्विनातावद्भारतं प्रोच्यतेबुधैः ॥ म०आ०प०१।१०१ इसश्लोक में वर्णन किया गया है इसमें एक भी मिथ्या बात नहीं और अब एक लक्ष श्लोक माना जाता है जिसमें अनेक असंभव बातें पाई जाती हैं ॥

ननु—जब महाभारत में आपके विचारानुसार सहस्रों श्लोक प्रक्षिप्त हैं तो गीता सम्पूर्ण सत्य कैसे समझी गई ? उत्तर—गीता में केवल एक श्लोक प्रक्षिप्त है जिसमें चतुर्भुज नाम आया है, क्योंकि चतुर्भुज नाम पौराणिक है और वह पुराणों से लेकर गीता में डाला गया है । इससे भिन्न गीता में एकभी श्लोक प्रक्षिप्त नहीं, इस बात को हमने अध्याय ११में विस्तार पूर्वक लिखा है। यदि कोई यह कहे कि गीता में कोई श्लोक प्रक्षिप्त होही नहीं सकता ? इसका उत्तर यह है कि जिसप्रकार "प्रकृतिं पुरुषं चैवक्षेत्रंक्षेत्रज्ञमेवच । एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं-ज्ञेयं च केशव ॥" गी० अ० १३ में यह श्लोक प्रक्षिप्त माना गया है । स्वामी शं० चा० तथा रामानुज के समय में यह श्लोक न था और अब कई एक गीता की प्रतियों में मिलता है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह श्लोक अब नया मिलायागया है ।

एवं गी० ११ । ४६ श्लोक भी जिसमें चतुर्भुजका नाम आता है किसी ने गीता में मिला दिया है इसलिये हम इसको प्रक्षिप्त मानते हैं ॥

जिनलोगों को शास्त्र के मर्मका गन्धमात्र भी ज्ञान नहीं, उनके विचार में तो गीता में अध्याय के अध्याय प्रक्षिप्त हैं, जहां जिस श्लोकका अर्थ न सूझा वहीं प्रक्षिप्त कहदिया, और जिस को सब सनातनधर्मियों ने प्रक्षिप्तमाना वह उनकेमतमें ठीक है, ऐसे तामसज्ञान ग्रसित लोगोंकी कथा छोड़कर हम सात्त्विक ज्ञान प्रधान लोगों की दृष्टि इसओर दिलाते हैं कि गीतामेंकेवल एकही श्लोक प्रक्षिप्त है अन्य सब श्लोक गंभीरार्थ का भाण्डार हैं, वेदोपनिषदों का सार हैं, गीतारूपी वैदिकधर्म का सर्वोपरि आधार हैं, जैसाकिः- "सर्वधर्मान्परित्यज्यमामेकंशरणंव्रज" गी०१८। ६६ में यह कथन किया है कि सब अवैदिकधर्मों को छोड़कर एकमात्र परमात्मा की शरण को प्राप्त हो "मां" शब्दके अर्थ यहां वैदिक धर्म के हैं, इसी प्रकार गीता में कई एक श्लोकों में मां शब्द के अर्थ वैदिकधर्म के हैं जैसाकि गी० ९ ।२० में भी मां शब्द के अर्थ वैदिकधर्म के हैं जिनका भाष्य में भले प्रकार समाधान किया है । और वैदिकधर्म की शरण वैदिककर्म तथा वैदिकज्ञान से विना कदापि उपलब्ध नहीं हो सकती, इसलिये ज्ञानयोग और कर्मयोग का गीताशास्त्र में विस्तार पूर्वक वर्णन पाया जाता है, इसी वैदिकज्ञानयोग और कर्मयोग को उक्त श्लोक में आकर शरणरूप कथन कियागया है और इस वैदिकशरण के आगे अन्य सब काल्पित धर्मों को तुच्छमानागया है । मायावादी

लोग शरण के यह अर्थ करते हैं कि भेदज्ञान को मिटादेना ही ईश्वर की शरण है अर्थात् इस सम्पूर्णसृष्टि को स्वप्न समान समझ लेना ही भगवत् शरण है जैसाकि स्वामी शं० चा० ने लिखा है किः—"तस्माद्भ्रान्तिप्रत्ययनिमित्त एवायं संसारभ्रमोनतुपरमार्थइति" अर्थ—भ्रान्ति ज्ञान के कारण ही यह संसाररूपीभ्रम है वास्तव में नहीं। इस शरण से यहां तात्पर्य्य नहीं, यदि इस शरण से तात्पर्य्य होता तो भ्रमरूप मतों को छुड़ाकर भ्रमरूपी शरण का कदापि उपदेश न किया जाता, क्योंकि इनके मत में जैसे संसार भ्रम है इसी प्रकार कृष्ण जी की शरण भी भ्रममात्र ही है, फिर इस मिथ्याभूत वस्तु की प्राप्ति से क्या लाभ। हमारे विचार में गीता ऐसे मिथ्यार्थों का उपदेश नहीं करती किन्तु एकमात्र परमात्मा के यथार्थ ज्ञान का उपदेश करती है जैसाकिः—" यदक्षरंवेदविदोवदन्ति " गी० ८। ११ इत्यादि श्लोकों में परमात्मा के यथार्थ ज्ञान का वर्णन किया है कि जिस प्रकार अक्षर परमात्मा का वेदवेत्ता लोग वर्णन करते हैं और जिसको वीतराग यति लोग ज्ञानद्वारा उपलब्ध करते हैं और जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य्य का आचार करते हैं उस परमात्मा के परमपद को मैं तुम्हें संक्षेप से वर्णन करता हूं, एवंविध परमात्मा का परमपद भगवच्छरण नाम से गीता में वर्णन कियागया है, इस में भ्रान्ति और माया की कथा कथना भ्रममात्र है। इस प्रकार विचार करने से जीव ब्रह्म को एक माननेवाले मायावादियों का मत वेद, उपनिषद् तथा गीता में सर्वथा निर्मूल है। और जो गी० ७। १४—१५ तथा गी० ४। ६ इत्यादि श्लोकों में मायाशब्द का प्रयोग

आया है वह प्रकृति के अर्थों में आया है इनकी ब्रह्मको मोहन करनेवाली मिथ्याभूत माया के विषय में कहीं भी नहीं आया, इसीलिये इसको गुणमयी कथन कियागया है कि यह सत्त्वादि गुणोंवाली है, यही भाव उपनिषदों में है जैसाकिः—"**मायां तु प्रकृतिंविद्यान्मायिनन्तुमहेश्वरम्**" श्वे० ४।१० इत्यादि स्थलों में माया शब्द के अर्थ प्रकृति के हैं, एवं मायावादियों का मायावाद गीता और उपनिषदों में सर्वथा निर्मूल है, इसीलिये स्वा० रामानुज ने मायाशब्द का प्रयोग मिथ्यार्थों में औपचारिक माना है अर्थात् जहां कहीं तात्पर्य्य न बन सका वहां मिथ्यार्थों में मायाशब्द का प्रयोग है। और माया शब्दका प्रयोग मुख्य वृत्ति से कहीं भी मिथ्यार्थों में नहीं आता, इस बातको हमने वेदान्तार्य्यभाष्यभूमिका में विस्तार पूर्वक लिखा है, अतएव विस्तार भय से यहां इसका विस्तार नहीं करते। केवल इतना ही लिखते हैं कि इस मायावाद के कलङ्क को मिटा कर गीताशास्त्र को इस भाष्य में सुवर्ण के समान शुभ्र करादिया है, जिसके पढ़ने से ज्ञात होगा कि माया मोह का गन्ध इस शास्त्र में लेशमात्र भी नहीं। यह ग्रन्थ उस महापुरुष कृष्णका आशय लेकर महर्षिव्यास ने ग्रन्थन किया है जिसके महत्व को महाभारत इस प्रकार वर्णन करता है कि :—"**यत्रधर्मोद्युतिः कान्तिर्यत्र ह्रीः श्रीस्तथा मतिः। यतोधर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततोजयः॥**" म० भी० प० २३। २८ अर्थ—(यत्र) जिस पक्षकी ओर (धर्मः) वैदिक आज्ञा का पालन करना (द्युतिः) तेज (कान्ति) सौन्दर्य्य (ह्रीः) पापसे डरना (श्रीः)

लक्ष्मी (मतिः) बुद्धि, यह सब गुण होते हैं, उसी पक्ष की ओर कृष्ण होते हैं। और जिस पक्षकी ओर कृष्ण होते हैं उस पक्षकी जय होती है। इस श्लोक से यह बात स्पष्ट होगई कि कृष्णजी किसी पक्षके अन्यथा पक्षपाती न थे किन्तु धर्मकी ओर थे। और जो कृष्णजी पर यह कलंक लगाया जाता है कि यह भारत जाति का दाहक युद्धरूप दावानल कृष्णजी के प्रसाद से प्रदीप्त हुए जिससे फल चतुष्टय के बीजभूत सम्पूर्ण भारतरूप महावन के भारतवंशी सुगंधित पुष्प इस भारत युद्धरूप यज्ञ कुण्ड की अग्नि में आत्मसमर्पणरूप आहुति से दग्ध होगए, यह उन आक्षेपकर्त्ता लोगों के अज्ञान का प्रभाव है, कृष्णजी इस युद्धके निमित्त न थे। देखो:— तवपुत्रादुरात्मानःसर्वेमन्युवशानुगाः। प्राप्तकालमिदंवाक्यं-कालपाशेनगुंठिताः। द्वैपायनो नारदश्चकण्वो-रामस्तथाऽनघः। अवारयस्तवसुतं न चासौ त-द्गृहीतवान्॥म०भी०प० २३।२६-२७ अर्थ—व्यास, नारद, कण्वऋषि तथा बलराम, यह सब मिलकर तुम्हारे पुत्रों को समझा रहे कि तुम युद्ध मत करो पर उन दुरात्माओं ने एक न मानी और जब पाण्डव बनवास से घर आए तब भी उनके साथ अच्छा वर्ताव नहीं किया और नाहीं उनके योगक्षेम के लिये कुछ दिया, फिर कृष्णजी ने इस व्यवस्था को देखकर पाण्डवों का पक्ष लिया। यह कथा महाभारत में बहुत विस्तार से है यहां केवल बीजमात्र ही लिखी है, एवं यह कुलघातक संग्राम अटल होगया, उस समय दुर्योधन जैसे दुष्टों को संहार करने से विना

देशका कल्याण कदापि संभव न था, यही कारण अर्जुन को क्षात्रधर्म के उपदेश करने का था, जब दोनों ओर की सेनाओं के योद्धा जुड़कर कुरुक्षेत्र भूमि में इस प्रकार युद्धार्थ उद्यत हुए जैसेकिः—'वादित्रशब्दस्तुमुलः शंखभेरीविमिश्रितः शूराणांरणशूराणां गर्जतामितरेतरम्" "उभयोः सेनयोराजन्महान्व्यतिकरोऽभवत्। अन्योन्यं-वीक्ष्यमाणानांयोधानांभरतर्षभ। कुंजराणां च न दतां सैन्यानां च प्रहृष्यताम्" म० भी० प० २४।६-७ अर्थ—रणमें सूरबीर और आपस में गर्जना करने वाले योद्धाओं के वाद्यों का शब्द शंख और भेरी के शब्द से मिलकर बहुत होने लगा और हे राजन् दोनों सेनाओं के योद्धाओं का देखते २ आपस में बड़ा व्यतिकर अर्थात् परस्पर मिलकर युद्ध होने के लिये जमाव होगया, और हस्ति तथा अन्य साधारण सैनिक भी आपस में युद्ध के लिये एक दूसरेके सन्मुख होगए तब धृतराष्ट्र ने संजय से यह पूछा कि "धर्मक्षेत्रेकुरुक्षेत्रे" अर्थात् धर्म के क्षेत्र कुरुक्षेत्र में मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने फिर क्या किया? इस प्रकार उस समय के योद्धाओं का कुरुक्षेत्र भूमि में युद्धार्थ एकत्रित होना ही गीताका उपोद्घात था। इस कथा प्रसंग में मुख्य प्रयोजन क्षात्रधर्म में प्रवृत्त करते हुए "नैनंछिन्दन्तिशस्त्राणि" इत्यादि आत्मविवेक के वाक्यों द्वारा षट्शास्त्रोंकेभावोंको यों सङ्गत करते हैं कि अर्जुनविषादयोगाध्याय के अनन्तरअर्जुनको उक्तश्लोक द्वारा जीवात्माकी नित्यता प्रतिपादन करके कर्मविभागको प्रतिपादन किया, इस द्वितीयाध्याय में

सांख्यशास्त्र को आत्मविवेकद्वारा संगत करदिया कि जबतक आत्मविवेक नहीं होता तबतक परमात्मविवेक नहीं होसक्ता, इस प्रकार सांख्यादिषट्शास्त्र गीता में गतार्थ होजाते हैं, आधुनिक वेदान्ति और नैयायिकादि सबलोग षट्शास्त्रों के सिद्धान्तों को आपस में भिन्न २ कथन करते हैं जैसाकि आधुनिक नैयायिक २१ प्रकार के दुःखों के ध्वंस को मुक्ति मानते हैं, वह २१ दुःख यह हैंः—शरीर और श्रोत्रादि पांचज्ञानेन्द्रिय छटा मन और इन छओं के शब्दादि छ विषय और इन्द्रियों के द्वारा इन छ विषयों का ज्ञान और सुख तथा दुःख, इन्हीं दुःखों के अभाव को नवीन नैयायिक मुक्ति कहते हैं, शरीरादि २० पदार्थों को दुःख का उत्पादक होने से दुःख कथन कियागया है अर्थात् दुःखसम्बन्धि होने से दुःख शब्द से वह भी कथन कियेगए हैं जैसे विष संम्बन्धि अन्न खाने से विषभक्षण शब्द का प्रयोग आता है इसी प्रकार दुःख सम्बन्धि होने से श्रोत्रादि इन्द्रियों तथा उनके विषयों और उनके ज्ञानों और शरीर तथा सुख में दुःख शब्द का प्रयोग कियागया है, एवं वैशेषिकशास्त्र के मानने वाले भी दुःख नाशकोही "मुक्ति" मानते हैं, सांख्यशास्त्रवाले प्रकृति से पुरुष का असंग होकर रहनाही मुक्ति मानते हैं, यही सिद्धान्त नवीन योगमतावलम्बियों का है। सांख्यशास्त्र वाले प्रकृतिपुरुष के विवेक से मुक्ति मानते हैं और इनके मत में प्रकृति से पुरुष को भिन्न जानलेने से फिर प्रकृति उस पुरुष के बन्धन का हेतु नहीं होती, इनके मत में पुरुष का असंग होजाना ही "मुक्ति" है। योगशास्त्रवालों की कैवल्य मुक्ति में इनसे इतना भेद है कि वह अष्टाङ्गयोग से "मुक्ति" मानते हैं। और पुरुष

को असंग मानने में नवीन सांख्य और योग दोनों समान हैं, मीमांसक लोग अक्षय सुख की प्राप्ति को "मुक्ति" मानते हैं, और नवीन वेदान्तिलोग अविद्या की निवृत्ति से जीव के ब्रह्म बनने को "मुक्ति" मानते हैं, रामानुज के मत में ईश्वर के सत्य सङ्कल्पादि भावों को धारण करने का नाम "मुक्ति" है, और वल्लभाचार्य्य के मत में गोलोक में कृष्णजी के साथ रासलीला करने का नाम "मुक्ति" है, माध्वाचार्य्य के मत में मुक्ति चार प्रकार की है :—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य =विष्णु के लोक में जारहने का नाम सालोक्य है। और उस साकार विष्णु के समीप जा रहने का नाम सामीप्य है। और उसके समान रूपवाला होने का नाम सारूप्य है। और उसके साथ सिंहासनादिकों पर बैठने का नाम सायुज्य है। इस प्रकार के अवैदिक सिद्धान्तों को मानने से आर्य्यशास्त्र का महत्व नष्टप्राय होरहा है, इसी कारण विदेशीयधर्मावलम्बीलोग आर्य्यदर्शनों के ऊपर षट्दर्शनदर्पणादि ग्रन्थों को लिखकर यह सिद्ध करते हैं कि आर्य्यों की मुक्ति पाषाण तुल्य है, इत्यादि आक्षेपों का कारण नवीन वैशेषिकादि मत हैं जिन में केवल दुःखाभाव को ही मुक्ति माना है, मूल दर्शनों में सुखदुःख के अभाव से पत्थर के तुल्य होजाने का नाम मुक्ति कहीं भी नहीं। "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम्" न्या० १।१।२ इत्यादि सूत्रों में जो मुक्ति वर्णन कीगई है, वह अवैदिक नहीं प्रत्युत वैदिक है, क्योंकि इस सूत्र में केवल दुःखाभाव का नाम मुक्ति नहीं किन्तु दुःखाभाव होने से जो जीव की ईश्वर के सत्यसंकल्पादि

धर्मोंके धारणद्वारा दशाविशेष होती है उसका नाम मुक्ति है जैसाकि "जन्मबन्धविनिर्मुक्ताःपदंगच्छन्त्यनामयम्" गी० २।५१ में कर्मयोगरूप बुद्धि से युक्त पुरुष अनामय नाम दुःख रहित पदको प्राप्त होते हैं, पर उस पदमें केवल दुःखाभाव ही नहीं किन्तु दुःखों का अभाव होकर परमात्मा के निरवधिक सुख की प्राप्ति होती है जैसा कि "रसंह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इत्यादि वाक्यों में मुक्त पुरुष को आनन्दका भोक्ता कथन किया गया है, उक्त गीता के श्लोक में न्याय वैशेषिक शास्त्र को संगत कर दिया कि इन दोनों शास्त्रों में केवल दुःखाभाव का नाम मुक्ति नहीं किन्तु दुःख के अभाव और ईश्वर के स्वरूपभूत आनन्द की उपलब्धिका नाम मुक्ति है, और उक्त न्यायसूत्र के यह अर्थ हैं कि तत्त्वज्ञान के होने से मिथ्याज्ञान नाश हो जाता है और मिथ्या ज्ञानके नाश होने से दोष नाश हो जाते हैं और दोषसे प्रवृत्ति, और प्रवृत्ति के नाश से जन्म, और उसके नाश होने से सांसारिक दुःखों का नाश हो जाता है, एवं शुद्ध होकर पुरुष उस परमात्मा की तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति को पाता है इस प्रकार न्याय वैशेषिक शास्त्र की मुक्ति पाषाण के सदृश नहीं और "एषातेऽभिहिता सांख्येबुद्धिर्योगे त्विमांश्रणु" इत्यादि श्लोकों में सांख्य शास्त्र और योगशास्त्र को और "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव" गी० १३।४ इस श्लोक में वेदान्तशास्त्रको संगत कर दिया, ब्रह्मसूत्र यहां मीमांसा शास्त्र का भी उपलक्षण है, इस प्रकार षट्शास्त्र के सिद्धान्त गीता में गतार्थ हो जाते हैं ॥

ननु—जब षट्शास्त्रों के सिद्धान्त आपसमें इस प्रकार विरुद्ध हैं कि सांख्य, योग, केवल प्रकृति पुरुष के विवेक से मुक्ति मानते हैं अर्थात् जीव प्रकृति के तत्त्वज्ञान से मुक्ति मानते हैं और न्याय वैशेषिक वाले सब पदार्थों के तत्त्वज्ञान से, तथा मीमांसक कर्म और वेदान्ती ब्रह्मज्ञान से, एवं भिन्न२ साधनों से उक्तशास्त्रकार मुक्ति मानते हैं, तो फिर ऐसे स्थूल भेदों का विरोध परिहार कैसे हो सकता है ? उत्तर—उक्त शास्त्रों का सिद्धान्त आपस में विरुद्ध नहीं क्योंकि सभी शास्त्र वेदोक्त मुक्ति के ही साधनादि निरूपण करते हैं, भेद केवल इतना है कि यद्यपि मुक्ति का साक्षात् साधन ईश्वर तत्त्वज्ञान है केवल प्रकृति पुरुष विवेकादि ज्ञान नहीं, तथापि जबतक प्रकृति से पुरुष अर्थात् आत्मतत्त्व का विवेक ज्ञान नहीं होता तब तक परमात्मा का तत्त्वज्ञान होना असंभव है । और जब तक यावत् पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य से उनके तत्त्व का ज्ञान नहीं होता तबतक आत्मतत्त्व का विवेकज्ञान होना भी असंभव है, और जब तक यज्ञादि कर्मोंद्वारा पुरुष अन्तःकरणकी शुद्धि को सम्पादन नहीं करता तब तक तत्त्वज्ञान का अधिकारी भी नहीं हो सकता, इसलिये यज्ञादि कर्म और पदार्थतत्त्वज्ञान तथा प्रकृति पुरुष विवेक यह सब मुक्ति के साक्षात् साधन ईश्वर तत्त्वज्ञान का साधन होने से मुक्ति का ही साधन हैं, अतएव मीमांसा यज्ञादि कर्मों को और न्याय, वैशेषिक पदार्थ तत्त्वज्ञान को और सांख्य, योग प्रकृतिपुरुष विवेक को मुक्ति का साधन कथन करते हैं, इस प्रकार उक्त शास्त्रों में मुक्तिके साधनोंका भिन्न २ निरूपणहोने परभी कोईविरोध नहीं क्योंकि प्रक्रिया भेद होने पर भी सबका मुख्योद्देश्य एकही है। एवं पांच दर्शनों में प्रकृतिपुरुष विवेक का वर्णन सर्वाङ्ग पूर्ण

होने से— 'तमेवविदित्वातिमृत्युमेतिनान्यःपन्था-विद्यतेऽयनाय" इस वैदिकभाव में मुक्ति के साक्षात् साधन ब्रह्मज्ञान को महर्षिव्यास ने ब्रह्मसूत्रों में वर्णन किया, और वह ब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार श्रवण, मननादिकों से बिना सर्वथा असम्भव है, अतएव उपनिषदों में कथन किये "आत्मा वाअरेद्रष्टव्यःश्रोतव्योमन्तव्योनिदिध्यासितव्यः" इन श्रवणादि साधनों से आत्मा का साक्षात्कार ब्रह्मसूत्रों ने विस्तार से वर्णन किया "द्रष्टव्यः" के अर्थ परमात्मा की ओर दृष्टि लगाना "श्रोतव्यः" गुरुमुख द्वारा वेद का श्रवण करना, उस श्रवण को तर्क से विचार करने का नाम "मनन" है, श्रवण, मनन किये हुए अर्थ को बारम्बार चिन्तन करने को "निदिध्यासन" कहते हैं, इन श्रवणादि साधनों से मुक्ति के साक्षात् साधन एकमात्र परमात्म विज्ञान को ब्रह्मसूत्र के कर्त्ता उत्तरमीमांसाकार महर्षिव्यास ने पूर्ण किया, इसप्रकार शास्त्रों के सिद्धान्तों में विरोध नहीं ॥

और जो सांख्य, योग, वेदान्त, यह तीन शास्त्र प्रकृति को उपादान कारण मानते हैं और न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, यह तीन परमाणुओं को उपादान कारण मानते हैं, यह विरोध इसलिये नहीं कि परमाणु प्रकृति की एक स्थूलावस्था है अर्थात् प्रकृति के ज्ञान के लिये उसको परमाणुओं की अवस्था से वर्णन कियागया है जैसा कि प्रकृति के बोधनार्थ गुणत्रयसंघातरूप से प्रकृति को वर्णन किया है। एवं परमाणुरूप से भी प्रकृति का ही वर्णन है, और यदि ऐसा न होता तो परस्पर एक दूसरे के माने हुए उपादानकारण

को एक दूसरा अवश्य खण्डन करता, पर ऐसा क्लेश शास्त्रों में कहीं नहीं, एवं सब शास्त्रों का एक मत है। इस अर्थ जात को गीता में स्पष्ट रीति से वर्णन किया गया है जैसाकि "ध्यानेनआत्मनिपश्यन्तिकेचिदात्मान-मात्मना।अन्ये सांख्येन योगेनकर्मयोगेनचापरे" गी० १३ । २४ इस श्लोक में ध्यान से वैशेषिकादि युक्तिप्रधान शास्त्रों के ग्रहण से तात्पर्य्य है, सांख्य योग इसमें स्पष्ट हैं, और कर्म योग से मीमांसा का ग्रहण है, और वेदान्त को इसी अध्याय के चतुर्थ श्लोक में वर्णन कर आए हैं, इस प्रकार गीता षट्शास्त्र के अर्थ का भाण्डार है और कर्मोपासना ज्ञानरूप वेदार्थ का सार है। उक्त कारणों से गीता सर्व मनुष्य मनोहारिणी मानी गई है, इसी कारण से गीता महात्म्य में ऐसे श्लोक पाए जाते हैं कि "मलनिर्मोचनंपुंसांजलस्नानंदिनेदिने।सकृद्गी-ताम्भसिस्नानं संसारमलनाशनम्" अर्थ—शरीर की शुद्धि के लिये प्रति दिन स्नान करना पड़ता है, पर गीता रूपी जल में एक बार स्नान करने से संसाररूपी सम्पूर्ण मल नाश हो जाते हैं॥

ननु—जब गीता महात्म्य के उक्त श्लोक से आप गीता का महत्व वर्णन करते हैं तो "गीतासुगीताकर्त्तव्याकिमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।यास्वयंपद्मनाभस्यमुखपद्मा द्विनिःसृताः" इत्यादि श्लोकों में वर्णन किये हुए भावों को ग्रहण क्यों नहीं करते? उत्तर—यह श्लोक गी० १८ । ७५ से

विरुद्ध है, क्योंकि इस श्लोक में यह लिखा है कि संजय ने व्यासजी के प्रसाद से गीता को सुना, इससे पाया जाता है कि गीता कृष्णजी के मुख से नहीं निकली किन्तु महर्षिव्यास ने ग्रन्थन की है॥

ननु,—जब व्यासजी ने ग्रन्थन की तो गी० १८।७८ की संगति में यह कैसे कथन किया गया कि अब संजय अपनी नीति निपुणता से पाण्डवों की विजय कथन करते हैं? उत्तर—व्यास जी स्वयं महाभारत के युद्ध में उपस्थित थे और उस युद्ध के समाचार को संजय के पास प्रति दिन भेजते रहते थे जिससे संजय ने भावी युद्ध के परिणाम को अनुमानद्वारा जानकर ऐसा कहा, इसको पौराणिक भावों वाले लोग दिव्य दृष्टि कथनकरते हैं, कि व्यासजी ने संजय को ऐसी दिव्य दृष्टि दी थी किजिससे संजय को हस्तिनापुर में बैठे हुए सब युद्ध दीखता था, अस्तु किसी यंत्र विशेष की शक्ति से ऐसा होता हो तो कुछ आश्चर्य्य की बात नहीं, पर यहां खण्डनीय बात यह है कि जिसका नाम झूठ मूठ दिव्य दृष्टि रखा है वह ठीक नहीं, क्योंकि भारत के उस प्रकरण में इस दिव्य दृष्टि से संजय ने ८४ सहस्र योजन ऊंचे सुवर्णके (मेरु) पहाड़ को देखा, और मेघों से मांसकीदृष्टि होते हुए देखी, इत्यादि अनेक बातों को ईश्वरीय नियम विरुद्ध वर्णन कियागया है। कहांतक लिखें अधिक लिखने से ग्रन्थ बढ़ता है, जम्बूद्वीप का जो चित्र उसमें दिया है वह मिथ्या विश्वास सागर के पौराणिक भंवरों से भरा है इसलिये विश्वास योग्य नहीं॥

इस विचार से सारांश यह निकला कि गीता ग्रन्थ का ग्रन्थन

महर्षिव्यासजी ने किया है। अतएव यह ग्रन्थ सब शास्त्रों का सार है और एकमात्र परमात्मा की अनन्य भक्तिका आधार है॥

ननु—गीता में तो बहुत स्थलों में कृष्णजी अपने आपको ईश्वर वर्णन करते हैं फिर इसको ईश्वर की अनन्यभक्ति का आधार कैसे कहा जाता है? उत्तर—अहंरुद्रायधनुरातनोमिब्रह्मद्विषेशरवेहन्तवाउ। अहंजनायसमदंकृणोम्यहंद्यावापृथिवीआविवेश॥ ऋ० ८।७।१२।६

अर्थ—मैं ही रुद्ररूप परमात्मा के धनुषको चढ़ाती हूं और मैं ही वेदके द्वेषियों के मारने के लिये उद्यत होती हूं तथा मैंही दैवी सम्पत्ति के विरोधियों को नाश करती हूं और मैं ही द्यौलोक तथा पृथिवी लोकके भीतर अंतर्य्यामी रूपसे व्याप्त हूं। इस मंत्र में ब्रह्मवादिनी स्त्री की ओरसे परमात्मा ने आत्म भावका प्रकाश किया है अर्थात् अहंग्रह उपासना के भाव से ब्रह्मवादिनी स्त्री अपने आपको परमात्मभाव से कथन करती है, अथवा ब्रह्मको उपास्य समझनेवाली स्त्री परमात्मा के गुणों को धारण करके अहंभाव से परमात्मा का कथन करती है, एवं कई एक सूक्त कृष्ण जी वाले अहंभाव का कथन करते हैं ग्रन्थ विस्तार भय से यहां नहीं लिखे। स्त्री की ओर से इस अहंभाव के प्रकाशित करने का यह भी भाव है कि स्त्रीपुरुष दोनों को वेद का एक जैसा अधिकार है। जैसाकि जिज्ञासुओं की ओर से वेदके अन्य स्थलों में भी यह कथन पायाजाता है कि यह बात हम धीर पुरुषों से श्रवण करें, एवं यहां भी ब्रह्मवादिनी स्त्री की ओर से अहंभाव का कथन है। यही भाव इन्द्रप्रतर्दनाधिकरण में महर्षिव्यास ने ब्रह्मसूत्रों में कथन किया है कि पर-

मात्मा के गुणों को धारण करके जीव परमात्मा का अहंभाव से कथन करसक्ता है, और इसीभाव से कौषीतकी में इन्द्र ने प्रतर्दनको कहा है कि मैं ब्रह्म हूं, अधिक क्या वेदोपनिषदों के अनेक स्थलों में इस प्रकार के अहंभाव का उपदेश पाया जाता है जिसका तात्पर्य्य वक्ता के ब्रह्म होने का नहीं होता किन्तु परमात्मा की ओर से यह उपदेश होता है, इसी भाव से योगेश्वर कृष्ण ने गीता में परमात्मा की ओर से उपदेश किया है, पर इस मर्म को अविद्यान्धतम से तिरोहित नयनों वाले ईश्वरीय योग में अयुक्त पुरुष नहीं जान सकते, इस लिये गीतायोगप्रदीप प्रकाशित किया जाता है। ओ३म् शमिति ॥

आर्य्यमुनि

ओ३म्

। अथ गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते ।

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच ॥

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

पद०—धर्मक्षेत्रे । कुरुक्षेत्रे । समवेताः । युयुत्सवः । मामकाः । पाण्डवाः । च । एव । किं । अकुर्वत । सञ्जय ॥

पदार्थ—(धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे) धर्मका क्षेत्र नाम स्थान जो कुरुक्षेत्र है उसमें (समवेताः) इकट्ठे होकर (मामकाः) मेरे और (पाण्डवाश्चैव) पाण्डु के पुत्र (युयुत्सवः) युद्ध की इच्छा करते हुए (किंअकुर्वत) क्या करते हैं। यह बात राजा धृतराष्ट्र ने सार्थी सञ्जय से पूछी ॥

भाष्य—कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि वह स्थान युद्ध के लिये नियत कियागया था और क्षात्रधर्म की पूर्त्तिका स्थान होने से भी इस स्थानको धर्मक्षेत्र कहा गया ॥

प्रथम इस स्थान में कई एक यज्ञ भी हो चुके थे इस लिये भी इसको धर्मक्षेत्र कहा गया है ॥

सञ्जय उवाच ॥

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

पद०—दृष्ट्वा । तु । पाण्डवानीकं । व्यूढं । दुर्योधनः । तदा । आचार्य्यं । उपसंगम्य । राजा । वचनं । अब्रवीत् ॥

पदार्थ—(पाण्डवानीकं) पाण्डवों की अनीक नाम सेना को (दृष्ट्वातु) देखकर, जो (व्यूढं) विचित्र रचना से सजाई गई थी (दुर्योधनः) राजा दुर्योधन (तदा) तब (आचार्य्यउपसंगम्य) द्रोणाचार्य्य को प्राप्त होकर (वचनंअब्रवीत्) यह वचन बोला ॥

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

पद०—पश्य । एतां । पाण्डुपुत्राणां । आचार्य्य । महतीं । चमूं । व्यूढां । द्रुपदपुत्रेण । तव । शिष्येण । धीमता ॥

पदार्थ—हे आचार्य्य (पश्य) देख (एतां इस (पाण्डुपुत्राणां) पाण्डु के पुत्रों की (महतींचमूं) बड़ी सेना को जो (द्रुपद पुत्रेण व्यूढां) द्रुपद राजा के पुत्र से सजाई गई है (तवशिष्येणधीमता) जो तुम्हारा बुद्धिमान् शिष्य है ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

पद०—अत्रशूराः । महेश्वासाः । भीमार्जुनसमाः । युधिः । युयुधानः । विराटः । च । द्रुपदः । च । महारथः ॥

पदार्थ—(अत्रशूराः) इस सेना में बहुत शूरबीर हैं (महेश्वासाः) बड़े हैं धनुष जिनके और जो (युधिः) युद्ध में (भीमार्जुन समाः) भीम और अर्जुन के समान हैं और जिन के ये २ नाम हैं:—

युयुधान, विराट, द्रुपद और यह सब महारथ हैं ॥

महारथ—उसको कहते हैं जो अकेला ही दश सहस्र सेना को युद्ध में लड़ाए अर्थात् दश हज़ार सेना का जो नेता हो ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्य्यवान् ।
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५॥

पद०—धृष्टकेतुः । चेकितानः । काशिराजः । च । वीर्य्य-वान् । पुरुजित् । कुन्तिभोजः । च । शैब्यः । च । नरपुंगवः ॥

पदार्थ—धृष्टकेतु और चेकितान तथा वीर्य्यवाला काशीराज और बहुत विजयवाला कुन्तीभोज और नरों में श्रेष्ठ राजा शिव का पुत्र ॥

युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

पद०—युधामन्युः । च । विक्रान्तः । उत्तमौजाः । च । वीर्य-वान् । सौभद्रः । द्रौपदेयाः । च । सर्वे । एव । महारथाः ॥

पदार्थ—बड़े पराक्रमवाला युधामन्यु और बलवाला उत्तमौजा तथा सुभद्रा का पुत्र और द्रौपदी के पुत्र यह सब ही महारथ हैं ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायकामम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ।७।

पद०—अस्माकं । तु । विशिष्टाः । ये । तान् । निबोध । द्वि-जोत्तम । नायकाः । मम । सैन्यस्य । संज्ञार्थं । तान् । ब्रवीमि । ते ॥

पदार्थ—(अस्माकंतुविशिष्टाये) जो हमारे साथी हैं (तान्) उनको (निबोध) जान (द्विजोत्तम) हे द्विजों में उत्तम (नायकाममसैन्यस्य) जो मेरी सेना के नायक हैं अर्थात् चलानेवाले हैं (संज्ञार्थं) उनके नाम बोधन के लिये (ते)तुम्हारेलिये(तान्) उनको (ब्रवीमि) कहता हूं ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्चकृपश्चसमितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।८।

पद०—भवान् । भीष्मः । च । कर्णः । च । कृपः । च । समितिंजयः । अश्वत्थामा । विकर्णः । च । सौमदत्तिः । तथा । एव । च ॥

पदार्थ—(भवान्) आप और भीष्मपितामह और कर्ण और सभा को जीतनेवाला कृपाचार्य्य अश्वत्थामा, विकर्ण और सौमदत्ति ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।९।

पद०—अन्ये । च । बहवः । शूराः । मदर्थे । त्यक्तजीविताः। नानाशस्त्रप्रहरणाः । सर्वे । युद्धविशारदाः ॥

पदार्थ—(अन्ये च बहवः शूरा) और बहुत से शूरवीर (मदर्थेत्यक्तजीविताः) मेरे लिये जिन्होंने अपने जीवन को त्याग दिया है अर्थात् मेरे लिये मरने को उद्यत हैं (नानाशस्त्रप्रहरणाः) नाना शस्त्र हैं शत्रु के मारने के उपाय जिनके (सर्वेयुद्धविशारदाः) यह सब युद्ध में विशारद नाम चतुर हैं ॥

अपर्याप्तं तदस्माकंबलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तंत्विदमेतेषांबलंभीमाभिरक्षितम्।१०।

पद०—अपर्याप्तं । तत् । अस्माकं । बलं । भीष्माभिरक्षितं। पर्याप्तं । तु । इदं । एतेषां । बलं । भीमाभिरक्षितं ॥

पदार्थ—(तदस्माकंबलं) वह यह हमारी सेना का बल (अपर्याप्तं) पूरा नहीं, क्योंकि (भीष्माभिरक्षितं) इसके सेनापति भीष्म हैं (इदंएतेषांबलंतु) और पाण्डवों का बल तो (पर्याप्तं) पूरा है क्योंकि (भीमाभिरक्षितं) उनका सेनापति भीमसेन है अर्थात् भीमसेन उभय पक्षपाती नहीं, एक पक्ष में दृढ़ है इसलिये उनका यह बल पूरा है ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षंतु भवंतः सर्व एव हि।११।

पद०—अयनेषु । च । सर्वेषु । यथाभागं । अवस्थिताः । भीष्मं । एव । अभिरक्षन्तु । भवन्तः । सर्व । एव । हि ॥

पदार्थ—(अयनेषुचसर्वेषु) सब भागों में अर्थात् सब गणों में (यथाभागंअवस्थिताः) अपने २ भाग में ठहरे हुए (भीष्मंएव-अभिरक्षन्तु) भीष्म की ही रक्षा करें (भवन्तः) आप (सर्व एवाहि) सब ही ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादंविनद्योच्चैःशंखंदध्मौप्रतापवान्।१२

पद०—तस्य । संजनयन् । हर्षं । कुरुवृद्धः । पितामहः । सिंहनादं । विनद्य । उच्चैः । शंखं । दध्मौ । प्रतापवान् ॥

पदार्थ—इसके अनन्तर (तस्य) उस राजा दुर्योधन का (संजनयन्हर्षं) हर्ष को उत्पन्न करते हुए (कुरुवृद्धः) कुरुवंश में वृद्ध (पितामहः) भीष्मपितामह (सिंहनादंविनद्योच्चैः) सिंहनाद के समान उच्च स्वर से गर्ज के युद्ध के वाद्य विशेष शंख को बजाने लगे ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यंतसशब्दस्तुमुलोऽभवत् ।१३।

पद०—ततः । शंखाः । च । भेर्यः । च । पणवानकगोमुखाः । सहसा । एव । अभ्यहन्यन्त । सः । शब्दः । तुमुलः । अभवत् ॥

पदार्थ—(ततः) इसके अनन्तर (शंखाः) शंख (च) और (भेर्यः) भेरी, पणव, अनक और गोमुख इत्यादि अनेक वाद्य (सहसाएव) शीघ्र ही (अभ्यहन्यन्त) बजाये गये (सःशब्दःतुमुलःअभवत्) वह शब्द तुमुल नाम बड़ा होगया अर्थात् नभोमण्डल को व्याप्त होकर परिपूरित होगया ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवःपांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ।१४।

पद०—ततः । श्वेतैः । हयैः । युक्ते । महति । स्यन्दने । स्थितौ । माधवः । पाण्डवः । च । एव । दिव्यौ । शंखौ । प्रदध्मतुः ॥

पदार्थ—(ततः) उसके पश्चात् (श्वेतैःहयैःयुक्ते) श्वेत घोड़ों युक्त (महति) बड़े (स्यन्दने) रथपर (स्थितौ) ठहरे हुए (माधवः) कृष्ण (च) और (पाण्डवः) अर्जुन (दिव्यौशंखौप्रदध्मतुः) दिव्य शंखों को बजाने लगे ॥

पांचजन्यं हृषीकेषो देवदत्तं धनंजयः।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः।१५।

पद०—पाञ्चजन्यं। हृषीकेशः। देवदत्तं। धनंजयः। पौण्ड्रं। दध्मौ। महाशंखं। भीमकर्मा। वृकोदरः॥

पदार्थ—(पाञ्चजन्यं) पाञ्चजन्य शंख को (हृषीकेशः) कृष्ण ने बजाया और (देवदत्तं) देवदत्त शंख को (धनंजय) अर्जुन ने बजाया और पौण्ड्र नामा जो महा शंख था उसको (भीमकर्मा) बड़े कर्म्मोंवाला जो भीमसेन है उसने बजाया॥

अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥१६॥

पद०—अनन्तविजयं। राजा। कुन्तीपुत्रः। युधिष्ठिरः। नकुलः। सहदेवः। च। सुघोषमणिपुष्पकौ॥

पदार्थ—(अनन्तविजयं) अनन्त विजय नामवाले शंख को (राजा कुन्तीपुत्रःयुधिष्ठिरः) कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने बजाया। नकुल औरसहदेवने सुघोष औरमणिपुष्पक नामा शंखों को बजाया॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः१७

पद०—काश्यः। च। परमेश्वासः। शिखण्डी। च। महारथः। धृष्टद्युम्नः। विराटः। च। सात्यकिः। च। अपराजितः॥

पदार्थ—(काश्यःच परमेश्वासः) काशी का राजा जो बड़ा धनुष

धारी है और जो महारथी शिखण्डी है । धृष्टद्युम्न और विराट और जो शत्रुओं से नहीं जीता जाता ऐसा सात्यकिः ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ।

पद०—द्रुपदः । द्रौपदेयाः । च । सर्वशः । पृथिवीपते । सौभद्रः । च । महाबाहुः । शंखान् । दध्मुः । पृथक् । पृथक् ॥

पदार्थ—द्रुपद राजा और द्रौपदी के पुत्र और महाबल वाला सुभद्र इन सब राजाओं ने युद्ध के उपयोगी अपने २ वाद्यों को बजाया ॥

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।१९।

पद०—सः । घोषः । धार्त्तराष्ट्राणां । हृदयानि । व्यदारयत् । नभः । च । पृथिवीं । च । एव । तुमुलः । व्यनुनादयन् ॥

पदार्थ—युद्ध के वाद्यों का (तुमुलः) वह तीव्र शब्द (नभः) आकाश और (पृथिवीं) पृथिवी को (व्यनुनादयन्) प्रतिध्वनि रूप गूंज पैदा करता हुआ (धार्त्तराष्ट्राणां) धृतराष्ट्र के पुत्रों के (हृदयानि) हृदयों को विदीर्ण करता था ॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥२०॥

पद०—अथ । व्यवस्थितान् । दृष्ट्वा । धार्त्तराष्ट्रान् । कपि-

ध्वजः । प्रवृत्ते । शस्त्रसम्पाते । धनुः । उद्यम्य । पाण्डवः ॥

पदार्थ—(अथ) इसके अनन्तर (धार्त्तराष्ट्रान्) धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि (व्यवस्थितान्) ठहरे हुओं को (दृष्ट्वा) देखकर (पाण्डवः) अर्जुन, कैसा अर्जुन (कपिध्वजः) कपिका चिन्ह है ध्वजा में जिसके ऐसा अर्जुन (शस्त्र संपाते प्रवृत्ते) शस्त्रों के चलाने के समय पर (धनुः उद्यम्य) धनुष को उठाकर बोला :—

अर्जुन उवाच ॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्येरथंस्थापयमेऽच्युत ।२१।

पद०—हृषीकेशं । तदा । वाक्यं । इदं । आह । महीपते । सेनयोः । उभयोः । मध्ये । रथं । स्थापय । मे । अच्युत ॥

पदार्थ—(महीपते) हे राजन् (हृषीकेशं) कृष्ण को (तदा) उस समय (इदंवाक्यं) यह वाक्य (आह) अर्जुन बोला । (सेनयोःउभयोःमध्ये) दोनों सेनाओं के बीच में (मे) मेरा (रथं) रथ (अच्युत) हे कृष्ण (स्थापय) स्थिरकर ॥

अच्युत—कृष्ण को इस अभिप्राय से कहा गया है कि वह किसी देश काल में भी अपनी दृढ़ नीति और दृढ़ प्रतिज्ञा से च्युत नहीं होते थे ॥

हृषीकेश–इसलिये कहा गयाहै कि हृषीक नाम इंद्रियों का है और ईश उनका ईश्वर अर्थात् शम दमादि सम्पन्न होने से कृष्ण को हृषीकेश कहा है ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ।२२।

पद०—यावत् । एतान् । निरीक्षे । अहं । योद्धुकामान् । अवस्थितान् । कैः । मया । सह । योद्धव्यं । अस्मिन् । रण-समुद्यमे ॥

पदार्थ—(यावत्) जबतक (एतान्) इनको (निरीक्षेअहं) मैं देखलूं (योद्धुकामान्अवस्थितान्) जो युद्ध की कामना से स्थिर हैं (कैः) किन के साथ (अस्मिन्रणसमुद्यमे) इस रण में (मयायोद्धव्यं) मुझे युद्ध करना पड़ेगा ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।२३।

पद०—योत्स्यमानान् । अवेक्षे । अहं । ये । एते । अत्र । समागताः । धार्त्तराष्ट्रस्य । दुर्बुद्धेः । युद्धे । प्रियचिकीर्षवः ॥

पदार्थ—(योत्स्यमानान्) युद्ध करनेवालों को (अवेक्षेअहं) मैं देखलूं (येएतेअत्रसमागताः) जो यहां आए हुए हैं और (धार्त्तराष्ट्रस्यदुर्बुद्धेः) धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधन के (युद्धे) युद्ध में (प्रियचिकीर्षवः) जो प्रिय की इच्छा करते हैं ॥

संजय उवाच ॥

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमं ।२४

पद०—एवं । उक्तः । हृषीकेशः । गुडाकेशेन । भारत । सेनयोः । उभयोः । मध्ये । स्थापयित्वा । रथोत्तमं ॥

पदार्थ—सञ्जय नामा सार्थी बोला कि हे भारत (गुडाकेशेन) वशीभूत निद्रावाले अर्जुन ने कृष्ण को यह कहा (हृषीकेशः)

हे कृष्ण (सेनयोःउभयोःमध्ये) दोनों सेनाओं के बीच में (स्थाप यित्वारथोत्तमं) इस उत्तम रथ को स्थापित करके :—

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाचपार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।२५

पद०—भीष्मद्रोणप्रमुखतः । सर्वेषां । च । महीक्षितां । उवाच । पार्थ । पश्य । एतान् । समवेतान् । कुरून् । इति ॥

पदार्थ—(भीष्मद्रोणप्रमुखतः) भीष्म और द्रोणाचार्य्य के सन्मुख और (सर्वेषांचमहीक्षितां) सब राजाओं के सन्मुख (उवाच) कृष्ण बोला कि हे अर्जुन (पश्यएतान्समवेतान्) इन सब युद्ध में जुड़े हुए राजाओं को तू देख ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थःपितॄनथपितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखीं
स्तथा। श्वशुरान्सुहृदश्चैवसेनयोरुभयोरपि।

पद०—तत्र । अपश्यत् । स्थितान् । पार्थः । पितॄन् । अथ । पितामहान् । आचार्यान् । मातुलान् । भ्रातॄन् । पुत्रान् । पौत्रान् । सखीन् । तथा । श्वशुरान् । सुहृदः । च । एव । सेनयोः । उभयोः । अपि ॥

पदार्थ—(तत्र) उस युद्ध में (अपश्यत्स्थितान्पार्थः) अर्जुन ने स्थिर लोगों को देखा (पितॄन्अथपितामहान्) जिनमें से कोई तो पिता के सदृश था कोई पितामह था जैसे भीष्मपितामह (आचार्यान्) आचार्य्य जैसे द्रोणाचार्य्य प्रभृति और (मातुलान्) जैसे शल्य शकुनि आदि (भ्रातॄन्) जैसे दुर्योधनादि (पुत्रान्)

लक्ष्मणादि (पौत्रान्) लक्ष्मणादिकों के पुत्र (सखीन्) जैसे अश्वत्थामा आदि ॥

तान्समीक्ष्यसकौन्तेयःसर्वान्बंधूनवस्थितान्
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।२७।

पद०—तान् । समीक्ष्य । सः । कौन्तेयः । सर्वान् । बन्धून् । अवस्थितान् । कृपया । परया । आविष्टः । विषीदन् । इदं । अब्रवीत् ॥

पदार्थ—दोनों सेनाओं में (सः, कौन्तेयः) वह अर्जुन (सर्वान् बन्धून्अवस्थितान्) सब बन्धुओं को युद्धमें स्थिर देखकर (कृपया-परयाआविष्टः) परम कृपा के बश हुआ २ विषीदन नाम ताप को प्राप्त होता हुआ (इदंअब्रवीत्) यह वक्ष्यमाण वचन बोला :—

अर्जुन उवाच ॥

दृष्ट्वेमं स्वजनंकृष्णयुयुत्सुंसमुपस्थितम् । सी-
दंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।२८।

पद०—दृष्ट्वा । इमं । स्वजनं । कृष्ण । युयुत्सुं । समुपस्थितं । सीदान्ति । मम । गात्राणि । मुखं । च । परिशुष्यति ॥

पदार्थ—अर्जुन बोला कि हे कृष्ण (युयुत्सुं) युद्ध करने की इच्छा करनेवाले (समुपस्थितं) ठहरे हुए इस (स्वजनं) अपने बन्धुवर्ग को (दृष्ट्वा) देखकर (ममगात्राणि) मेरे अङ्ग (सीदन्ति) शिथिलता को प्राप्त होरहे हैं (मुखंचपरिशुष्यति) और मुख सूखा जारहा है ॥

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।

गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।२९।

पद०—वेपथुः । च । शरीरे । मे । रोमहर्षः । च । जायते । गाण्डीवं । स्रंसते । हस्तात् । त्वक् । च । एव । परिदह्यते ॥

पदार्थ—(मेशरीरे) मेरे शरीर में (वेपथुः) कम्प हो रहा है (रोमहर्षः च जायते) और रोम खड़े हो रहे हैं (गाण्डीवं) गाण्डीव नाम वाला धनुष (हस्तात्) हाथ से (स्रंसते) गिर रहा है (त्वक् च एव) और त्वचा भी (परिदह्यते) दाह को प्राप्त हो रही है ॥

नचशक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीवच मे मनः । निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।३०।

पद०—न । च । शक्नोमि । अवस्थातुं । भ्रमति । इव । च । मे । मनः । निमित्तानि । च । पश्यामि । विपरीतानि । केशव ॥

पदार्थ—हे केशव (नच) और न मैं (अवस्थातुंशक्नोमि) ठहरने को समर्थ हूं (भ्रमतिइवचमेमनः) और मेरा मन घूमने के समान चलायमान होरहा है (निमित्तानि) और निमित्तों को भी मैं (विपरीतानिपश्यामि) विपरीत देख रहा हूं ॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे । न कांक्षे विजयंकृष्ण न च राज्यंसुखानिच ।३१।

पद०—न । च । श्रेयः । अनुपश्यामि । हत्वा । स्वजनं । आहवे । न । काङ्क्षे । विजयं । कृष्ण । न । च । राज्यं । सुखानि । च ॥

पदार्थ—(नच) और न (हत्वास्वजनंआहवे) अपने जनों को युद्ध में मारकर (श्रेयःअनुपश्यामि) कल्याण देखता हूं, हे कृष्ण

मैं (विजयंनकाङ्क्षे) विजय की इच्छा नहीं करता (नचराज्यं) न राज्य की और न (सुखानिच) सुखों की ॥

किन्नो राज्येनगोविन्द किंभोगैर्जीवितेनवा ।
येषामर्थेकांक्षितं नो राज्यं भोगाःसुखानिच ॥

पद०—किं । नः । राज्येन । गोविन्द । किं । भोगैः । जीवितेन । वा । येषां । अर्थे । कांक्षितं । नः । राज्यं । भोगाः । सुखानि । च ॥

पदार्थ—हे गोविन्द=गो नाम जो वैदिक वाणी उसको लाभ करनेवाले अर्थात् वेदवित् (नः) हमको (राज्येन) राज्य से (किं) क्या (किं भोगैः) और भोगों से क्या (वा) अथवा (जीवितेन) जीने से क्या (नः) हमको (भोगाःसुखानिच) भोग और सुख जिनके लिये प्यारे हैं (येषांअर्थेकांक्षितंराज्यं) और जिनके लिये राज्य प्यारा है :—

तइमेऽवस्थितायुद्धेप्राणांस्त्यक्त्वाधनानिच ।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।

पद०—ते । इमे । अवस्थिताः । युद्धे । प्राणान् । त्यक्त्वा । धनानि । च । आचार्याः । पितरः । पुत्राः । तथा । एव । च । पितामहाः ॥

पदार्थ—(तइमे) वे ये आचार्यादि (प्राणान्त्यक्त्वा) प्राणों को छोड़ के (धनानिच) और धनों को छोड़कर (युद्धेअवस्थिताः) युद्ध में स्थिर हैं ॥

मातुलाःश्वशुराःपौत्राःश्यालाःसंबंधिनस्तथा

एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।३४

पद०—मातुलाः । श्वशुराः । पौत्राः । श्यालाः । सम्बन्धिनः । तथा । एतान् । न । हन्तुं । इच्छामि । घ्नतः । अपि । मधुसूदन ॥

पदार्थ—मामे, श्वशुरे, पौत्र, साले, और सम्बन्धि (घ्नतःअपि) मुझको यह मारने के लिये तैयार भी हों, हे मधुसूदन तब भी (एतान्नहन्तुंइच्छामि) मैं इनके मारने की इच्छा नहीं करता ॥

अपित्रैलोक्यराजस्य हेतोः किं नु महीकृते ।
निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नःका प्रीतिःस्याज्जनार्दन।

पद०—अपि । त्रैलोक्यराज्यस्य । हेतोः । किंनु । महीकृते । निहत्य । धार्त्तराष्ट्रान् । नः । का । प्रीति । स्यात् । जनार्दन ॥

पदार्थ—(त्रैलोक्यराज्यस्यअपिहेतोः) तीनों लोकों के राज्य के हेतु भी मैं इनको मारने की इच्छा नहीं करता (किंनु) क्या तो (महीकृते) पृथिवी के राज्यके लिये अर्थात् जब मैं तीन लोक के राज्य के लिये भी इनको मारना नहीं चाहता तो इस तुच्छ भूमि के लिये क्या (धार्त्तराष्ट्रान्निहत्य) धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर (नः) हमको हे जनार्दन (काप्रीतिः स्यात्) क्या प्रीति होगी ॥

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।
तस्मान्नार्हा वयंहंतुं धार्त्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वासुखिनःस्याममाधव ३६

पद०—पापं । एव । आश्रयेत् । अस्मान् । हत्वा । एतान् ।

आततायिनः । तस्मात् । न । अर्हाः । वयं । हन्तुं । धार्त्तराष्ट्रान् । स्वबान्धवान् । स्वजनं । हि । कथं । हत्वा । सुखिनः । स्याम । माधव ॥

पदार्थ—(एतान्आततायिनः) इन* आततायियों को (हत्वा) मारकर (पापंएवआश्रयेत्अस्मात्) हमको उलटा पाप ही लगेगा (धार्त्तराष्ट्रान्स्वबन्धवान्) धृतराष्ट्र के पुत्र जो यह हमारे बन्धु हैं (तस्मात्नअर्हाःवयंहन्तुं) इसलिये हम इनको मारना योग्य नहीं समझते, हे माधव (स्वजनंहिहत्वा) अपने जनों को मारकर (कथंसुखिनःस्याम) हम कैसे सुखी हों ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् । ३७ ।

पद०—यद्यपि । एते । न पश्यन्ति । लोभोपहतचेतसः । कुलक्षयकृतं । दोषं । मित्रद्रोहे । च । पातकं ॥

पदार्थ०—(यद्यपिलोभोपहतचेतसः)यद्यपि लोभी चित्तवाले(एते) ये दुर्योधनादि (कुलक्षयकृतंदोषं) कुल के क्षय करने से जो दोष होता है और (मित्रद्रोहेचपातकं) मित्र के साथ द्रोह करने से जो पातक होता है (नपश्यन्ति) उसको नहीं देखते ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन । ३८ ।

पद०—कथं । न । ज्ञेयं । अस्माभिः । पापात् । अस्मात् । निवर्त्तितुं । कुलक्षयकृतं । दोषं । प्रपश्यद्भिः । जनार्दन ॥

* जो अग्नि लगादे, विष दे, शस्त्र लेकर मारने को तैयार हो, धन चुरा ले जाय, भूमि और स्त्री को हर लेने वाला हो, यह छः आततायी कहलाते हैं ॥

पदार्थ—(अस्मात्पापात्निवर्त्तितुं) इन सम्बन्धियों के हत्या रूपी इस पाप से हटने को (कथंनज्ञेयंअस्माभिः) हम कैसे न जानें, हे जनार्दन हम कैसे हैं (कुलक्षयकृतंदोषंप्रपश्यद्भिः) कुल के क्षय करने से जो दोष उत्पन्न होता है उसके जाननेवाले हैं, फिर हमसे यह पाप कैसे न जाना जाय ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।३९।

पद०—कुलक्षये। प्रणश्यन्ति। कुलधर्माः। सनातनाः। धर्मे। नष्टे। कुलं। कृत्स्नं। अधर्मः। अभिभवति। उत॥

पदार्थ—(सनातनाः कुलधर्माः) सनातन जो कुल के धर्म हैं वे (कुलक्षयेप्रणश्यन्ति) कुल के नाश होने से नाश होजाते हैं (धर्मेनष्टे) धर्म के नष्ट होने पर (कुलंकृत्स्नं) सम्पूर्ण कुल को (अधर्मः,अभिभवति) अधर्म तिरस्कृत कर देता है॥

सङ्गति—कुल नाश रूपी अधर्म के कारण स्त्रियें व्यभिचार रूपी दोष में फस जायंगी इस आशय से आगे कहते हैं:—

अधर्माभिभवात्कृष्णप्रदुष्यन्तिकुलस्त्रियः।
स्त्रीषुदुष्टासुवार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।४०।

पद०—अधर्माभिभवात्। कृष्ण। प्रदुष्यन्ति। कुलस्त्रियः। स्त्रीषु। दुष्टासु। वार्ष्णेय। जायते। वर्णसंकरः॥

पदार्थ—हे कृष्ण (अधर्माभिभवात्) अधर्म के कारण (कुलस्त्रियःप्रदुष्यन्ति) कुलीन स्त्रियें दूषित हो जावेंगी (स्त्रीषुदुष्टासु) स्त्रियों के दुष्ट होने पर, हे वार्ष्णेय अर्थात् यादवकुलोद्भव (जायतेवर्णसंकरः) वर्णसंकर उत्पन्न होंगे॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतंतिपितरोह्येषांलुप्तपिण्डोदकक्रियाः।४१

पद०—संकरः । नरकाय । एव । कुलघ्नानां । कुलस्य । च । पतन्ति । पितरः । हि । एषां । लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥

पदार्थ—(कुलघ्नानां कुलस्य च) कुल के नाश करने वालों के और कुल के (नरकाय एव) नरक के लिये ही वर्णसंकर होते हैं (लुप्तपिण्डोदकक्रियाः) दूर हो गई है खानपानादिकों की क्रिया जिनकी, ऐसे (एषां कुलघ्नानां) कुल के नाश करने वालों के पितर (पतन्ति) नरक में पड़ते हैं ॥

भाष्य—"लुप्तपिण्डोदकक्रियाः" इस शब्द के कईएक आधुनिक लोग यह अर्थ करते हैं कि उक्त शब्द के अर्थ मृतक श्राद्ध के हैं, पर यह अर्थ इस शब्द से नहीं निकलते, क्योंकि वर्णसंकरों की उत्पत्ति से अर्थात् व्यभिचार से उत्पन्न हुई सन्तति अपने वृद्ध पुरुषों का सन्मान न करेगी इसलिये "लुप्तपिण्डोदकक्रियाः" यह पितरों को विशेषण दिया गया है और इसी भाव को इससे आगे के श्लोक में प्रकट किया है कि वर्ण-संकर करने वाले दोषों से ही जाति नष्ट होती है, मृतकश्राद्ध न करने से जाति नष्ट नहीं होती। यदि पुत्र को मृतकश्राद्ध का अधिकार न रहने से जाति नष्ट होती तो स्वामीशङ्कराचार्य्यादिक जो संन्यासी होगए उनके पितरों कोभी नरकवास होना चाहिये, पर ऐसे स्थलों में मृतकश्राद्धवादियों को यह अभिमत नहीं कि मृतकश्राद्ध के अभाव से ही पितर नरक में पड़ते हैं।

और बात यह है कि यदि यहां पितृशब्द से मृतपितरों का

ग्रहण होता तो जो धर्मयुद्ध से मरगए वह नरक में कैसे पड़ेंगे। यदि मृतकश्राद्ध न करना ही मृतपितरों के नरक का हेतु है तो धर्म युद्धादिकों के फल तुच्छ होजावेंगे, फिर "धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते" गी० २।३१,इत्यादि श्लोक निष्फल होजावेंगे। इससे सार यह निकला कि यहां वर्णसंकर पर ही ग्रन्थकर्त्ता का तात्पर्य्य है। यदि इसके यही अर्थ किये जायें कि "पिण्डोदकक्रिया" से तात्पर्य्य उसी क्रिया का है जो आधुनिक ग्रन्थकारों ने मृतपितरों के निमित्त मानी है तो इसका उत्तर यह है कि मृतक श्राद्धवादियों के मतमें क्षेत्रज पुत्र को भी पिण्डदान देने का अधिकार है फिर पितर नरक में क्यों पड़ेंगे। यदि यह कहा जाय कि क्षेत्रज को तो अधिकार है पर वर्णसंकर क्षेत्रज को नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि व्यासादिकों के नियोग से जहां पाण्डु आदि की उत्पत्ति मानी गई है वहां ब्राह्मण और क्षत्रिया का क्षेत्र मिलने से वर्णसंकर क्यों नहीं ? अतएव वास्तव में वर्णसंकर के अर्थ यही हैं कि व्यभिचार दोष से जो सन्तति उत्पन्न होती है उसको वर्णसंकर कहते हैं और उन संकरों के पितर इस लिये नरक में पड़ते हैं कि वह संकर अपने वृद्धों का यथायोग्य सत्कार नहीं करते अर्थात् उन वृद्ध पितरों की जीतेजी सेवा न होना ही उनका नरकपात है॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः। उत्साद्यंते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।४२।

पद०—दोषैः। एतैः। कुलघ्नानां। वर्णसंकरकारकैः। उत्साद्यन्ते। जातिधर्माः। कुलधर्माः। च। शाश्वताः।

पदार्थ—(कुलघ्नानां) कुलके नाश करने वालों के (वर्णसंकर

कारकैः) वर्णसंकर करने वाले (एतैः दोषैः) उक्त दोषों से (जातिधर्माः) जाति के धर्म (च) और (कुलधर्माः) कुलके धर्म (शाश्वताः) निरन्तर (उत्साद्यन्ते) नाश को प्राप्त हो जाते हैं ॥

सं०—ननु, जब संसार अनित्य है तो कुल धर्म भी अनित्य हैं, अस्तु, उनके नाश होने से क्या हानि? उत्तर—

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।४३।

पद०—उत्सन्नकुलधर्माणां । मनुष्याणां । जनार्दन । नरके । नियतं । वासः । भवति । इति । अनुशुश्रुम ।

पदार्थ—हे जनार्दन (उत्सन्नकुलधर्माणांमनुष्याणां) नाश हो गए हैं कुलके धर्म जिन मनुष्यों के, ऐसे मनुष्यों का (नरके) नरक में (नियतं) नियमपूर्वक (वासः) निवास (भवति) होता है (इति) ये (अनुशुश्रम) हमने शास्त्र से सुना है ॥

अहोवत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हंतुं स्वजनमुद्यताः ।४४

पद०—अहो । वत । महत्पापं । कर्तुं । व्यवासिताः । वयं । यत् । राज्यसुखलोभेन । हन्तुं । स्वजनं । उद्यता ।

पदार्थ—(अहो) बड़ा आश्चर्य्य है (बत) खेद है (महत्पापं) बड़े पापके (कर्तुं) करने को (वयं) हम लोग (व्यवसिताः) स्थिर हुए हैं (यत्) जिस कारण से (राज्यसुखलोभेन) राज्य के सुख के लोभ से (स्वजनं) अपने बन्धुवर्ग को (हन्तुं) मारने के लिये (उद्यता) तैयार हुए हैं ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।

धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥४५

पद०—यदि । मां । अप्रतीकारं । अशस्त्रं । शस्त्रपाणयः । धार्त्तराष्ट्राः । रणे । हन्युः । तत् । मे । क्षेमतरं । भवेत् ।

पदार्थ—(अशस्त्रं) खाली हाथ (मां) मुझको (अप्रतीकारं) आगे से कोई उपाय न करते हुए को (शस्त्रपाणयः) हाथमें शस्त्रों वाले (धार्त्तराष्ट्राः) धृतराष्ट्र के पुत्र (रणे) युद्ध में (हन्युः) मारें (तत्) वह (मे) मेरे लिये (क्षेमतरं) कल्याणकारी (भवेत्) होगा।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥४६

पद०—एवं । उक्त्वा । अर्जुनः । संख्ये । रथोपस्थे । उपाविशत् । विसृज्य । सशरं । चापं । शोकसंविग्नमानसः ।

पदार्थ—सञ्जय बोला कि हे धृतराष्ट्र (अर्जुनः) अर्जुन (एवं) इस प्रकार (उक्त्वा) कहकर (संख्ये) युद्ध में (सशरं) बाण के सहित (चापं) धनुष को (विसृज्य) छोड़कर (रथोपस्थे) रथ के ऊपर (उपाविशत्) बैठगया, वह अर्जुन कैसा है कि (शोक-संविग्नमानसः) शोक से संविग्न नाम भग्न होगया है मन जिसका।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये, अर्जुनविषादयोगोनाम प्रथमोऽध्यायः॥

अथ

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदंतमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

पद०—तं । तथा । कृपया । आविष्टं । अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं । विषीदन्तं । इदं । वाक्यं । उवाच । मधुसूदनः ॥

पदार्थ—(तं) उस अर्जुन को (तथा) पूर्वोक्त प्रकार से (कृपयाविष्टं) करुणावाले को (अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं) आंसुओं के पूर्ण हो जाने से आकुल नाम व्याकुल हो गए हैं ईक्षण नाम नेत्र जिसके, ऐसे अर्जुन को (विषीदन्तं) जो विषाद को प्राप्त है (इदंवाक्यं) यह वाक्य (मधुसूदनः) कृष्ण (उवाच) बोला ॥

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

पद०—कुतः । त्वा । कश्मलं । इदं । विषमे । समुपस्थितं । अनार्यजुष्टं । अस्वर्ग्यं । अकीर्त्तिकरं । अर्जुन ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (इदं) यह (कुतः) किसलिये (त्वा) तुमको (कश्मलं) जो शिष्ट लोगों से निन्दित पाप हो (विषमे) भयके स्थान में (समुपस्थितं) प्राप्त हुआ है (अनार्यजुष्टं) वैदिक मर्यादासे रहित जो अनार्य्य पुरुष उनसे सेवने योग्य और (अस्वर्ग्यं) नरक के देने वाला (अकीर्त्तिकरं) अपयश के देने वाला, तुमको यह मलिनभाव क्यों उत्पन्न हुआ ॥

भाष्य—भगवान्—उसको कहते हैं जिसमें ऐश्वर्य्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य, मोक्ष, यह छः गुण हों ॥

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३॥

पद०—क्लैब्यं । मास्मगमः । पार्थ । न । एतत् । त्वयि । उपपद्यते । क्षुद्रं । हृदयदौर्बल्यं । त्यक्त्वा । उत्तिष्ठ । परंतप ॥

पदार्थ—(क्लैब्यं) क्लीब भाव जो अधीरता है (मास्मगमः) तुम उसको मत प्राप्तहो (एतत्) यह (त्वयि) तुममें (न उपपद्यते) घट नहीं सक्ता (क्षुद्रं) छोटी (हृदयदौर्बल्यं) जो हृदय की दुर्बलता, इसको (त्यक्त्वा) छोड़कर (परंतप) शत्रुको तपाने वाले हे अर्जुन (उत्तिष्ठ) उठ खड़ा हो ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४॥

पद०—कथं । भीष्मं । अहं । संख्ये । द्रोणं । च । मधुसूदन । इषुभिः । प्रतियोत्स्यामि । पूजार्हौ । अरिसूदन ॥

पदार्थ—(अरिसूदन) हे शत्रु के नाश करने वाले (कथं) किस प्रकार (भीष्मं) भीष्मपितामह को (द्रोणं च) और द्रोणाचार्य्य को (मधुसूदन) * हे मधुसूदन (संख्ये) युद्ध में (अहं) मैं (इषुभिः) बाणों से (प्रतियोत्स्यामि) किस प्रकार हनन करूं? क्योंकि (पूजार्हौ) यह दोनों पूजा के योग्य हैं ॥

---

* मधु नामा दैत्य को मारने के कारण कृष्ण का नाम मधुसूदन था ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव।
भुंजीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

पद०—गुरून् । अहत्वा । हि । महानुभावान् । श्रेयः । भोक्तुं भैक्ष्यं । अपि । इह । लोके । हत्वा । अर्थकामान् । तु । गुरून् । इह । एव । भुंजीय । भोगान् । रुधिरप्रदिग्धान् ॥

पदार्थ—(महानुभावान्) बड़े पुण्यशील (गुरून्) गुरुओं को (अहत्वा) न मारकर (हि) निश्चय करके (भैक्ष्यं) भिक्षा का अन्न (भोक्तुं) भोग करने को (श्रेयः) श्रेष्ठ है (इहलोके) इस लोक में (अपि) भी (अर्थकामान्) अर्थ और काम के देने वाले (गुरून्) गुरुओं को (हत्वा) मारकर (इह एव) इस लोक में ही (रुधिरप्रदिग्धान्) रुधिर से सिंचन किए हुए (भोगान्) भोगों को (भुंजीथ) मैं भोगूंगा ।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्ते
ऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

पद०—नच । एतत् । विद्मः । कतरत् । नः । गरीयः । यद्वा । जयेम । यदिवा । नः । जयेयुः । यान् । एव । हत्वा । न । जिजीविषामः । ते । अवस्थिताः । प्रमुखे । धार्त्तराष्ट्राः ॥

पदार्थ (नच एतत् विद्मः) मैं यह भी नहीं जानता (कतरत्)

कौनसी (नः) हमारे सम्बन्ध में (गरीयः) श्रेष्ठ बात है (यद्वा) अथवा (जयेम) हम जीतेंगे (यदिवा) अथवा (नः) हमको (जयेयुः) वे जीतेंगे (यानूएव) जिनको (हत्वा) मारकर (न) नहीं (जिजीविषामः) हम जीने की इच्छा करते (ते) वे (प्रमुखे) समक्ष में (धार्त्तराष्ट्राः) धृतराष्ट्र के पुत्र (अवस्थिताः) स्थिर हैं ।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं हि तन्मे
शिष्यस्तेऽहंशाधिमांत्वांप्रपन्नम् ॥ ७ ॥

पद०—कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः । पृच्छामि । त्वां । धर्मसं-मूढचेताः । यत् । श्रेयः । स्यात् । निश्चितं । ब्रूहि । तत् । मे । शिष्यः । ते । अहं । शाधि । मां । त्वां । प्रपन्नं ॥

पदार्थ—(कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः) कृपणतारूप जो दोष उससे अपहत नाम मिला हुआ है स्वभाव जिसका, ऐसा मैं (त्वां) तुमको (पृच्छामि) पूछता हूं (धर्मसंमूढचेताः) धर्म विषय में मोह को प्राप्त है चित्त जिसका, उसके लिये (निश्चितं) निश्चय किया हुआ (यत्) जो (श्रेयः) कल्याणरूप (स्यात्) हो (तं) वह (मे) मेरे लिये (ब्रूहि) कहो (अहं) मैं (ते) तुम्हारा (शिष्यः) शिष्य हूं (त्वां) तुमको (प्रपन्नं) प्राप्त हुए (मां) मुझको (शाधि) शिक्षा दो ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

पद०—नहि । प्रपश्यामि । मम । अपनुद्यात् । यत् । शोकं । उच्छोषणं । इन्द्रियाणां । अवाप्य । भूमौ । असपत्नमृद्धं । राज्यं । सुराणां । अपि । च । आधिपत्यं ॥

पदार्थ—(नहिप्रपश्यामि) मैं ऐसी कोई वस्तु नहीं देखता (यत्) जो (ममशोकं) मेरे शोकको (अपनुद्यात्) दूर करे,वह शोक कैसा है जो (उच्छोषणंइन्द्रियाणां) मेरी इन्द्रियों को सुखा रहा है (असपत्नमृद्धंराज्यं) जिसके सदृश कोई और न हो, ऐसे राज्य को (भूमौ) पृथिवी में (अवाप्य) प्राप्त होकर (सुराणांचाधिपत्यं) फिर वह राज्य कैसा हो जो देवताओं का भी आधिपत्य हो अर्थात् देवताओं का भी स्वामी वन जाना जिस राज्य में हो, ऐसे राज्य को प्राप्त होकर भी मैं इस शोक की निवृत्ति किसी प्रकार नहीं देखता ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्यइतिगोविंदमुक्त्वातूष्णीं बभूव ह॥९

पद०—एवं । उक्त्वा । हृषिकेशं । गुडाकेशः । परंतप । न । योत्स्ये । इति । गोविन्दं । उक्त्वा । तूष्णीं । बभूव । ह ॥

पदार्थ—संजय सार्थी बोला कि हे (परंतपः) शत्रुओं को तपाने वाले राजन् (हृषिकेशं) वशीभूतइन्द्रियों वाले *(गोविंद)

* गो नाम वेद वाणी का है उसके लाभ करने वाले को गोविंद कहते हैं ॥

कृष्ण को (एवंउक्त्वा) ऐसा कहकर (गुडाकेशः) गुडाका नाम निद्रा, उसका ईश्वर अर्जुन अर्थात् वशीभूतनिद्रावाला अर्जुन, इस प्रकार कृष्ण को कहकर कि'(न योत्स्ये) मैं युद्ध नहीं करूंगा (तूष्णीं) चुप (वभूव) होगया (ह) प्रसिद्धार्थ में है ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः॥१०॥

पद०—तं । उवाच । हृषिकेशः । प्रहसन् । इव । भारत । सेनयोः । उभयोः । मध्ये । विषीदन्तं । इदं । वचः ॥

पदार्थ—(भारत) हे धृतराष्ट्र (हृषिकेशः) कृष्ण (सेनयोः उभयोः) दोनों सेनाओं के (मध्ये) बीच में (तं) उस अर्जुन को (विषीदन्तं) जो विषाद को प्राप्त हो रहा था (प्रहसन्इव) हंसते हुए के समान (इदंवचः) यह वक्ष्यमाण वचन (उवाच) बोला ॥

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्चभाषसे
गतासूनगतासूंश्चनानुशोचंति पंडिताः।११

पद०—अशोच्यान् । अन्वशोचः । त्वं । प्रज्ञावादान् । च । भाषसे । गतासून् । अगतासून् । च । न । अनुशोचन्ति । पंडिताः।

पदार्थ—(अशोच्यान्) जो सोच करने के योग्य नहीं उन का तुम (अनुअशोचः) शोक करते हो, कि भीष्मद्रोणादि मर जायेंगे और उनके मरने पर फिर मैं इस राज्य का क्या करूंगा (च) और (प्रज्ञावादान्) बुद्धिमानों के जो कथन हैं उनको भाषसे नाम कथन करते हो, वह प्रज्ञावाद यह है कि " **कथं-**

भीष्ममहंसंख्ये" भीष्म और द्रोण जो पूजा के योग्य हैं उनको मैं युद्ध में कैसे मारूं (गतासून) गत प्राणों वाले अर्थात् जो मर गए हैं और (अगतासून्) जो नहीं मरे, उनको (पण्डिताः) पण्डित लोग (न अनुशोचन्ति) नहीं सोचा करते॥

भाष्य—इस श्लोक में कृष्णजी ने आत्मा की नित्यता सिद्ध करने के लिये आत्मा से भिन्न सब देहादि जड़ जगत् को अनित्य माना है, इसी अभिप्राय से कहा है कि अनित्य शरीर के नाश का पण्डित लोग शोक नहीं किया करते॥

स्वामी शं० चा० इस श्लोक का तात्पर्य्य यह निकालते हैं कि इस मिथ्या भूत संसार का बीज शोक मोह हैं उनकी निवृत्ति के लिये यह श्लोक उपक्रमभूत है यथाः—

तथा च सर्वप्राणिनां शोकमोहादिदोषाविष्टचेतसा स्वभावत एव स्वधर्मपरित्यागः प्रतिषिद्धसेवा च स्यात्। स्वधर्मे प्रवृत्तानामपितेषां वाङ्मनःकायादीनां प्रवृत्तिः फलाभिसंधि पूर्विकैव साहंकारा च भवति। तत्रैवं सति धर्माधर्मोपचयादिष्टानिष्टजन्म सुखदुःखसंप्राप्ति लक्षणः संसारोऽनुपरतो भवतीत्यतः संसारबीजभूतौ शोकमोहौ। तयोश्च सर्वकर्मसंन्यास पूर्वकादात्मज्ञानान्नान्यतो निवृत्तिरिति तदुपदिदिक्षुः सर्वलोकानुग्रहार्थमर्जुनं निमित्तीकृत्याऽऽह भगवान् वासुदेवः—अशोच्यानित्यादि—

अर्थ—शोक मोहादि दोष विशिष्टचित्तवाले प्राणियों का यह स्वभाव ही है कि वह स्वधर्म का परित्याग कर देते हैं और धर्म विरुद्ध तथा शास्त्र से निषिद्ध को ग्रहण कर लेते हैं और यदि वह स्वधर्म में प्रवृत्त भी हों तब भी उनकी प्रवृत्ति अहंकार वाली ही होती है—इससे सार यह निकलता है कि धर्माधर्म वाल तथा इष्टाऽनिष्ट जन्म और सुख दुःख वाला संसार मिट नहीं सकता, इसलिये संसार के वीज भूत जो शोक मोह हैं उनकी निवृत्ति सर्व कर्मों के त्यागरूप संन्यास से विना नहीं हो सकती। ऐसे संन्यास का उपदेश करने के अभिप्राय से अर्जुन को निमित्त करके "प्रशोच्यानन्वशोचस्त्वं" यह श्लोक कहा है।

स्वामी शं० चा० और उनके शिष्यों की कृति में गीता इस मिथ्याभूत संसार की निवृत्ति के लिये और सर्व कर्म त्यागरूप संन्यास की प्राप्ति के लिये लिखी गई है इसी अभिप्राय को शङ्कर फ़िलासफ़ी के परमभक्त मधुसूदनस्वामी यों वर्णन करते हैं:—

नहिरज्जुतत्व साक्षात् कारेण सर्पभ्रमेऽपनीते तन्निमित्तभय कम्पादि सम्भवति न वा पित्तोपहितेन्द्रियस्य कदाचितगुड़ेतिक्तता प्रतिभासेऽपि तिक्तार्थितया तत्र प्रवृत्ति सम्भवति । मधुरत्व निश्चयस्य बलवत्वात् एवमात्म स्वरूपा ज्ञान निवन्धनत्वाच्छोच्य भ्रमस्य तत्स्वरूपज्ञानेन तदज्ञानेऽपनीते तत्कार्य्यभूतः शोच्यभ्रमः कथमवतिष्ठत इतिभावः । अर्थ—जब रज्जु के तत्व का साक्षात्कार हो जाता है फिर उस सांप से भय कम्पादि नहीं

होते और जिसको पित्त दोष से गुड़ कटु लगता है वह उस कड़वेपन के लिये कदापि प्रवृत्त नहीं होता, एवं आत्मा के ज्ञान होने से भ्रमरूप जो शोकादिक हैं वह नहीं रहते, इनके मत में शोकादिक मिथ्या हैं जो जीव और ब्रह्म के एकत्वज्ञान से दूर होते हैं और वह एकत्वज्ञान संन्यास से होता है, इसलिये उस सर्व कर्म के त्यागरूप संन्यास का उपदेश करने के लिये " **अशोच्यानन्वशोचस्त्वं** " यह कहा है ॥

यह वह भाव है जिसको लेकर लोक प्रसिद्धि यह है कि '**पढ़ी गीता और घर काहे को कीता**' पर यह भाव गीता में कदापि नहीं, यदि संसार को मिथ्या मानकर संन्यासी बनादेनें का भाव गीता में होता तो ' **स्वधर्ममपिचावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि । युद्धाद्धिमरणंश्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥** गी० २ । ३१, अर्थ—स्वधर्म को देखकर भी तुम्हारा काम डरने का नहीं, क्योंकि युद्ध में मरना क्षत्रिय के लिये कल्याण का हेतु है, क्षत्रिय के लिये अन्य कोई मुख्य कर्तव्य नहीं ॥

अधिक क्या जिस महाभारत का एक अंश मात्र गीता है वह क्षात्र धर्म के विषय का एवं वलपूर्वक उपदेश करता है कि:—

' **यथा राजन् हस्तिपदे पदानिसंलीयन्ते सर्व सत्वोद्भवानि। एवंधर्मान्राजधर्मेषु सर्वान् सर्वावस्थान् संप्रलीनान्निवोध॥** अर्थ—जैसे हस्ति के पाद में सब जन्तुओं के पाद आजाते हैं एवं सारे धर्म राजधर्म के

अन्तर्गत हैं। "अल्पाश्रयानल्प फलान् वदन्ति धर्मानन्यान् धर्म विदोमनुष्याः। महाश्रयं वहुकल्याणरूपं क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्य्याः"॥

अर्थ—आर्य्य लोग और धर्मों को थोड़े आश्रय और थोड़े फल वाले कहते हैं, महा कल्याणरूप केवल एकमात्र क्षात्रधर्म को कहा है। ऐसे क्षात्र धर्म की दृढ़ता के लिये अर्जुन को दृढ़ करते हुए कृष्णजी मिथ्यात्व का उपदेश क्यों करते॥

और जो स्वामी शं० चा० ने यह लिखा है कि:—

"तस्माद्गीतासु केवलादेव तत्व ज्ञानान् मोक्ष प्राप्तिर्न कर्म्म समुच्चितादिति निश्चितोऽर्थः"।

अर्थ—गीता में केवल ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति मानी है, ज्ञान कर्म के समुच्चय से नहीं। यह बात गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है। यदि केवल ज्ञान से ही मुक्ति होती और सर्व कर्मों के त्याग रूप संन्यास के वर्णन में ही गीता का तात्पर्य्य होता तो "नहिदेहभृताशक्यंत्यक्तुंकर्माणिसर्वशः। यस्तुकर्मफलत्यागी ससंन्यासीविधीयते"। गी० १८।११॥

अनाश्रितं कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः"। गी० ६।१॥

अर्थ—देहधारी लोग सर्व कर्मों का त्याग कदापि नहीं कर सक्ते, जो कर्म करता हुआ कर्म के फल को त्यागता है वह

संन्यासी कहा जाता है (२) कर्म के फल की इच्छा न करके जो कर्तव्य कर्मों को करता है वही संन्यासी और वही योगी है और कोई निरग्नि वा निष्कर्म्मी संन्यासी नहीं कहलाता। और "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" बृ०-४।४।२२ उस परमात्मा को वैदिक कर्मरूपी वेदानुवचन से ब्राह्मण लोग जानने की इच्छा करते हैं। इत्यादि अनेक कर्म्मज्ञान के समुच्चय बोधक वाक्यों से पाया जाता है कि गीता ज्ञानकर्म के समुच्चयवाद का ग्रन्थ है, केवल ज्ञान से मुक्ति को नहीं विधान करता। और ब्र० सू० ३।४।२७ में स्वामी शं० चा० ने कर्मों को ज्ञान का सहकारी माना है अर्थात् कर्म ज्ञान की उत्पत्ति में हेतु हैं, और ज्ञान मुक्ति का साक्षात् साधनहै, यह भी एक प्रकार का ज्ञान कर्म का समुच्चयवाद ही है, पर इसको भी यहां गीता भाष्य में उड़ादिया, यहां केवल ज्ञान से ही मुक्ति मानी है॥

ननु—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसस्परस्तात्। तमेवविदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ यजु० ३१।१८ इस वेद मंत्र में केवल ज्ञान को ही मुक्ति का साधन माना है, फिर तुम ज्ञानकर्म का समुच्चय कैसे कथन करते हो? इसका उत्तर यह है कि इस मन्त्र में ब्रह्म का जानना जो विदि क्रिया से विधान किया गया है वह मानस कर्म है उसमें जो ब्रह्म वस्तु का रूप निश्चायक अंश है वह केवल ज्ञानांश है एवं ज्ञानकर्म का समुच्चय ही मुक्ति का साक्षात् साधन हुआ नकि केवल ज्ञान, और "विद्याञ्चाऽविद्याञ्च यस्तद्वेदोभय᳞ँसह" यजु० ४०।१४ इत्यादि वेद मन्त्रों में ज्ञान कर्म के समुच्चय को सम्यक् रीति से वर्णन कियाहै॥

और जो "एषातेऽभिहितासांख्येबुद्धिर्योगेत्विमां श्रिणु । बुद्ध्यायुक्तोययापार्थकर्मबन्धंप्रहास्यसि" गी० २ । ३९ ॥

इसका लापन शङ्करभाष्य में इस प्रकार किया है कि यदि ज्ञान और कर्म का भिन्न २ फल न होता तो उक्त दोनों बुद्धियों का भिन्न २ वर्णन न किया जाता ? इसका उत्तर यह है कि उक्त श्लोक में ज्ञानकर्म के समुच्चय का भेद नहीं किन्तु ज्ञान के अनन्तर अनुष्ठानरूप कर्म्म का विधान है जैसा कि "भिद्यतेहृदयग्रंथिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ मुण्ड० २ । २ । ८

इस श्लोक में दर्शनरूप ज्ञानके अनुष्ठानरूप कर्म से हृदय ग्रंथि का भेदन होना वर्णन किया है, इसी प्रकार कर्मयोग और ज्ञान योग में अनुष्ठान काही भेद है, इसी अभिप्राय से कृष्णजी ने यह कहा है :-एकंसांख्यंचयोगं च यः पश्यति सपश्यति । गी० ५ । ५ ॥

सांख्य योगको बालक पृथक् समझते हैं पण्डित नहीं । इससे स्पष्ट सिद्धकरदिया कि ज्ञान कर्मका समुच्चय है क्योंकि यह बात सर्व सम्मत है कि गीता में सांख्य नाम ज्ञानका है । एवं केवल ज्ञानवादि के मतका खण्डन गीतामें स्पष्ट है ॥

और यदि "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" इसमें सर्वकर्म त्यागरूप संन्यास के विधान का प्रयोजन होता और सब संसार को मिथ्यासिद्ध करने के अभिप्राय से यह श्लोक होता तो "देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनंजरा" ॥ गी० २ । १३

इस श्लोकमें यौवनादि अवस्थाओं को अनित्यप्रतिपादन करके आत्मा का नित्यत्वसिद्ध न किया जाता, इससे आशय यह निकलता है कि गीता संसार को अनित्य सिद्ध करती है अर्थात् यह समग्र संसार प्रलयकालीनध्वंस का प्रतियोगी है इस समग्र संसार का प्रलयकाल में नाश होजाता है अर्थात् अपने प्रकृतिरूप कारण के साथ कार्य्य जगत् कारणावस्था को प्राप्त होजाता है॥

भाष्यकार स्वामी शं०चा० और उनके शिष्य मधुसूदनस्वामी ने जो इस श्लोकके भाष्य में यह सिद्ध किया है कि अर्जुन को इन मिथ्या देहों में सत्यभ्रान्ति हो रही थी उसकी निवृत्तिके लिये यह श्लोक है। यह इसलिये ठीक नहीं कि मिथ्या का अर्थ मायावादियों के मतमें यह है कि जो वस्तु जिस देशकाल में प्रतीत होती हो उसी देशकाल में उसका नाश हो, जैसा कि रज्जु के सर्प का और शुक्ति के रजत का, उसी देशकाल में वाध है। "कौमारंयौवनंजरा" इस कथन करने से कृष्णजी ने यह सिद्ध कर दिया कि जैसे कौमारादि अवस्थाएं अपने देशकालमें होती है एवं यह शरीर भी अपने देशकालमें है इसलिये अनित्य है। वैदिक फ़िलासफ़ी में यह सर्व कार्य्य जगत् अनित्य है, माया वादी लोग इसको मिथ्या इस अभिप्राय से वनाते हैं कि इसके मिथ्या होने से जीव ब्रह्मकी एकता सिद्ध होजाय, जब एकमात्र आत्मा से भिन्न सब वस्तु मिथ्या है तो भेद कहां रहा? पर इस भेद का मिटना अत्यन्त दुष्कर है। देखो इस वक्ष्यमाण श्लोक में जीवात्माओं का परस्पर भेद कथन किया है और आगे सातवें अध्याय में प्रकृति और परमात्मा का भेद वर्णन किया है, जैसाकिः—

'ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति' गी०।१८।६१

इत्यादिकों में जीव ईश्वर का भेद स्पष्ट है, एवं जीव जगत् का भेद, जीव ईश्वर का भेद और जीवों का परस्पर भेद इत्यादि भेदों का जो आधुनिक वेदान्ति खण्डन करते हैं उनका स्पष्ट रीतिसे गीतामें वर्णन पाया जाता है जैसाकि :—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२॥

पद०—न। तु। एव। अहं। जातु। न। आसं। न। त्वं। न। इमे। जनाधिपाः। न। च। एव। न। भविष्यामः। सर्वे। वयं। अतः। परं॥

पदार्थ—(अहं) मैं (जातु) कदाचित् (न आसं) नहीं था यह बात (नतुएव) ठीक नहीं है (इमेजनाधिपाः) यह राजा लोग कभी न थे यह बात भी ठीक नहीं (सर्वेवयं) हम सब लोग (अतःपरं) इसके अनन्तर (न भविष्यामः) न होंगे (न च एव) यह बात भी ठीक नहीं॥

भाष्य—इस श्लोक में कृष्णजी ने जीवात्माओं का नित्यत्व सिद्ध करते हुए यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया कि जीवात्मा परस्पर भिन्न हैं। इस श्लोक के भाष्य में स्वामी शं० चा० यह लिखते हैं कि यहां जीवात्माओं में जो बहुत्व वर्णन किया गया है वह देहों के भेदके अभिप्राय से वर्णन किया है आत्मा के भेद के अभिप्राय से नहीं॥

ज्ञात होता है कि यहां यह लेख अद्वैतवाद को लेशमात्र भी न देखकर लिखा गया है, इसलेख से अद्वैतवादी स्वामी के मत में अभ्युपगम विरोध भी आता है वहइसप्रकार कि वेदान्त के अंशा-धिकरण में स्वामी ने जीवात्माओं को नाना माना है और प्रयो-

अनवस्थाधिकरण में भी इसी प्रकार जीवात्माओं का भेद माना है क्योंकि इससे विना उक्त अधिकरणों में पुण्य पाप की व्यवस्था नहीं बन सक्ती थी और यहां उससे विरुद्ध जीवात्मा को एक मान लिया है एवं पूर्वोत्तर विरोध और अभ्युपगमविरोध है ॥

ननु अविद्योपाधि से जीवात्माओं में नानात्व है और वास्तव में एकत्व है फिर इस में क्या दोष है? उत्तर–प्रथम तो उक्त श्लोकों में अविद्यारूप उपाधि का वर्णन ही नहीं और दूसरी बात यह है कि "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" इस तत्वोपदेश के प्रकरण में इस मिथ्योपदेश का क्या प्रकरण था? यहां आत्मा का नित्यत्व अभिप्रेत था नकि मिथ्यात्व। और युक्ति यह है कि यदि मिथ्यात्व ही अभिप्रेत होता तो आत्मा के नित्यत्व को मिथ्या क्यों न माना जाता उसका भी तो इस श्लोक में उपदेश है। इत्यादि तर्कों से स्पष्ट है कि इस श्लोक में कृष्णजी ने परमार्थभूतजीवों के भेद का उपदेश किया है नकि मिथ्याभूत भेद का, यह भेद औपनिषद है जिसको गीता में ग्रन्थन किया गया है जैसाकि:—"नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनाना मेकोबहूनां यो विदधाति कामान्" श्वे० ५।१३

जो नित्य जीवों में नित्य है चेतनों में चेतन है अर्थात् बहुत से चेतनों में चेतन है। स्वामी रामानुज इस श्लोक में यह लिखते है कि:— "अज्ञानकृतभेददृष्टिवादेतुपरमपुरुषस्य परमार्थ दृष्टेर्निर्विशेषकूटस्थनित्यचैतन्यात्मयाथा त्म्यसाक्षात्काराान्निवृत्ताज्ञानतत्कार्यतया अज्ञान कृतभेददर्शनंतन्मूलोपदेशादिव्यवहाराश्चनसंग-

च्छन्ते" अर्थ—यदि अज्ञानकृतभेद ही इस श्लोक में इष्ट होता तो कूटस्थनित्य आत्म पदार्थ के बोधन करने के लिये यह उपदेश न किया जाता। वहुत क्या "**नह्यनुन्मत्तःकोऽपिमणि कृपाण दर्पणादिषु प्रतीयमानेषुस्वात्मप्रतिविम्बेषु तेषांस्वात्मनोऽन्यत्वंजानंस्तेभ्यःकमप्यर्थमुपदिशति**" अर्थ—अननुमत्त अर्थात् उन्मत्तसे विना कोई भी ऐसा नहीं कह सकता कि जो मणि कृपाणादिकों में प्रतिबिम्बित पुरुष है उसको उपदेश करना प्रारम्भ करदे। एवं कृष्णजीने उक्त श्लोक में कल्पित अर्जुनादिकों को उपदेश नहीं किया किन्तु तात्त्विक अर्जुनादिकोंको ही तात्त्विक उपदेश किया है। इससे मायावादियों का मत खण्डन हो जाता है॥

सङ्गति—ननु यदि आत्मा नित्य है तो उसमें जन्म मरणादि व्यवहार क्यों होते हैं? उत्तरः—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।१३।

पद०—देहिनः। अस्मिन्। यथा। देहे। कौमारं। यौवनं। जरा। तथा। देहान्तरप्राप्तिः। धीरः। तत्र। न। मुह्यति॥

पदार्थ—(देहिनः) देहवाला जो जीवात्मा उसको देहान्तरों की प्राप्ति इस प्रकारहोतीहै जिसप्रकार(देहे)एक शरीरमें (कौमारं) वाल्यावस्था(यौवनं)युवावस्था(जरा)वृद्धावस्था होती है (तथा) इसप्रकार (देहान्तरप्राप्ति) अन्य देहोंकी प्राप्ति, इस जीवात्माको होती है (धीरः) धीर पुरुष (तत्र) वहां (न मुह्यति) मोहको प्राप्त नहीं होता॥

भाष्य—सार यह निकला कि युवा होने पर जैसे कोईपुरुषरोने नहीं बैठ जाता कि मेरा कुमारपन चलागया इसलिये मैं नष्ट होगया किन्तु वह यह समझता है कि यह स्थूल शरीर अनित्य है और एक देह में अनेक युवावस्थाएं होती हैं, एवं जीवात्मा के अनित्य शरीर अनेकधा उत्पन्न होते हैं और अनेकधा नष्ट होते हैं, धीरपुरुष इनमें मोह नहीं करते। इस श्लोक से चारवाक के मतका खण्डन स्पष्ट रीतिसे किया गया ॥

सं०—ननु जब यह जन्म मरणादिभाव अनित्य हैं तो जीव को इनके ग्रहण त्यागादिकों में दुःख क्यों होता है? उत्तर :—

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेयशीतोष्णसुखदुः खदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तां-स्तितिक्षस्वभारत ॥ १४ ॥

पद०—मात्रास्पर्शाः। तु। कौन्तेय। शीतोष्णसुखदुखदाः। आगमापायिनः। अनित्याः। तान्। तितिक्षस्व। भारत ॥

पदार्थ 'मीयन्तेआभिर्विषयाइतिमात्रा-इंद्रियाणि' जिनसे विषयों का ज्ञान होता है उन इन्द्रियों का नाम मात्रा है। हे कौन्तेय (मात्रास्पर्शाः) इन्द्रियों केसम्बन्ध(शीतोष्णसुखदुखदाः) शीत उष्ण और सुखदुखके देने वाले हैं और आगमापायिनः नाम आने जाने वाले हैं इसलिये (अनित्याः) अनित्य हैं (तान्) उन को हे भारत, तितिक्षस्व नाम सहार ॥

भाष्य—इस श्लोक में अनित्यशब्द आया है जिसके अर्थ सदा एक रस रहने वाली वस्तु के नहीं, किन्तु नियत समय तक रहने वाली वस्तु के हैं इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि गीता मिथ्यार्थ

को प्रतिपादन नहीं करती किन्तु शरीरादि मोहरूप पदार्थोंको अनित्य सिद्ध करती है, जब विद्वान् की इन पदार्थों में अनित्य बुद्धि होजाती है तो वह शीतोष्णादि सहारने में कष्ट नहीं मानता इसी भावको इस अगले श्लोक में वर्णन किया है :—

यं हि न व्यथयंत्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखंधीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।१५।

पद०—यं । हि । न । व्यथयन्ति । एते । पुरुषं । पुरुषर्षभ । समदुःखसुखं । धीरं । सः । अमृतत्वाय । कल्पते ॥

पदार्थ—(यं पुरुषं) जिसपुरुष को (एते) यह विषय (नव्य थयन्ति) कष्ट नहीं उत्पन्न करते (समदुःखसुखं) समेदुःखसुखेयस्य-जिसको सुख और दुःख सम हैं, हे पुरुषर्षभ, ऐसा धीर (अमृत्वाय) मुक्ति के लिये कल्पते नाम योग्य होता है ॥

भाष्य—अमृतशब्द यहां इस अभिप्राय से आया है कि सुख दुःख की तितिक्षा करनेवाला पुरुष मरणसे भय नहीं करता सर्वथा निर्भय रहता है। इस श्लोक से यह स्पष्ट हो गया कि दुःखादि पदार्थों में जिसकी अनित्यबुद्धि है वह कदापि दुःखी नहीं होता और युद्ध से उपराम होने का प्रसङ्ग भी यही था। संसार को मिथ्या सिद्ध करने का यहां कोई प्रसङ्ग न था, यदि संसार का मिथ्यात्व ही अर्जुन को बोधन करना इष्ट होता तो **स्वधर्ममपिचावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि** ' इत्यादि कथन न किया जाता, क्योंकि मिथ्यावादियों के मतमें स्वधर्मभी मिथ्याही है फिर उसमें क्या विशेषता ॥

सं०—ननु जब देहादि पदार्थ अनित्य हैं तो इनकी अनित्यता

सबको क्यों नहीं प्रतीत होती जिससे सब निर्भय होकर युद्धादि उत्तम कामों से न डरें ? उत्तर —

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

पद०—न । असतः । विद्यते । भावः । न । अभावः । विद्यते । सतः । उभयोः । अपि । दृष्टः । अंतः । तु । अनयोः । तत्त्वदर्शिभिः ।

पदार्थ—(न असतः) जो देहादि असत् पदार्थ अर्थात् अनित्य पदार्थ हैं उनकी (भावः) नित्यता नहीं होसकती और (सतः) नित्य पदार्थ की कभी (अभावः) अनित्यता नहीं हो सकती, असत् वह जो सत् न हो अर्थात् अनित्य हो (उभयोः) इन दोनोंका (अन्तः) तत्त्व (तत्त्वदर्शिभिः) तत्त्वदर्शी लोगोंने जानाहै साधारण प्राकृतलोग इस तत्त्वको नहीं जान सकते, इसलिये उन्हें अभिनिवेश अर्थात् मरणसे भय बना रहता है ॥

भाष्य—स्वामी शं० चा० जी ने इसके यह अर्थ किये हैं कि :—

"तदिति सर्वनाम सर्वं च ब्रह्म तस्य नाम तदिति तद्भावस्तत्त्वं ब्रह्मणो याथात्म्यं तद्द्रष्टुं शीलं येषां ते तत्त्वदर्शिनः" ॥

अर्थ-(तद्) यह सर्वनाम संज्ञक शब्द है, औरयह सब ब्रह्म है इसलिये ब्रह्मकानाम तद् है (तद्भावस्तत्वं) ब्रह्मके भाव कानाम तत्त्वहैं अर्थात् जिन लोगों ने जीवको ब्रह्म मान लिया है वहीशङ्करमत में तत्त्वदर्शी कहलाते हैं-तत्त्वशब्द के अर्थ यहां शङ्करमत के कदापि नहीं घटते क्योंकि तत्त्वशब्द के अर्थ **'तत्त्ववित्तुमहावाहोगुणकर्म विभागयोः'** गी० ३ । २८ ॥ **'तत्त्वदर्शिनः'** गी० ४ । ३४ ॥

'संन्यासस्यचमहावाहोतत्त्वमिच्छामिवेदितुं' गी० १८। १। इत्यादि अनेक स्थलों में स्वामी शं० चा० स्वयं तत्त्व के अर्थ यथार्थपन के करते हैं, फिर यहां इस के अर्थ ब्रह्म बनने के कैसे हो सकते हैं ? वस्तुतः बात यह है कि मायावादियों को कहीं नाम मात्र का सहारा मिलना चाहिये फिर यह अपनी अघटन घटनापटीयसीमाया का ऐसा जाल फैला देते हैं कि जिसमें से निकलना दुर्घट होजाता है, अतएव सब मायामोह जालमें फसकर शास्त्रके तत्त्वसे वञ्चित रह जाते हैं। अन्यथा क्या कारण है कि ऐसे स्पष्ट अर्थाभासों को पढ़ सुनकर भी लोग शङ्करमत के माया जालको मोह जाल नहीं कहते। इस श्लोक में प्रकृत भी यही था कि भाव और अभावके यथार्थपन को जाननेवाले तत्त्वदर्शी देहों में ममत्व नहीं करते और यही अर्जुनको वोध करना था, इसमें जीव ब्रह्म की एकता का क्या प्रकरण ? और इससे अग्रिम श्लोक में यह कथन कियाहै कि "अविनाशीतुतद्विद्धियेनसर्व मिदंततं" इसमें भी नित्यानित्य का विचार है और आगे "अन्तवन्त इमेदेहा" गी० २। १८। इत्यादिकोंमें देहादि-कों की अनित्यता आत्मा की नित्यता स्पष्ट कहदी है फिर जीव ब्रह्म की एकता की क्या कथा ?

औरजोस्वामीशं०चा०जीनेइसश्लोकसे "शीतोष्णादीनि नियतानियतरूपाणिद्वंद्वानिविकारोऽयमसन्नेवमरीचि जलवान्मिथ्याऽवभासत इति मनासि निश्चित्य तितिक्षस्वेत्यभिप्रायः" अर्थ—शीतऔर उष्णादिपदार्थ मृगतृष्णा के जलके समान मिथ्या प्रतीत होते हैं यह निश्चय करके

वृ तितिक्षाकर, यह भाष्य कियाहै । यह गीताके आशयसे सर्वथा विरुद्ध है, गीता में किसी स्थान में भी मिथ्याशब्द का प्रयोग इनके मिथ्यावादके अभिप्राय से नहीं आया और न किसीश्लोक में यह तात्पर्य्य है कि आधुनिक मायावादियों के समान ब्रह्मसे भिन्न सब वेदशास्त्र गुरुआदिमिथ्याहैं। प्रत्युत जीव, ईश्वर, प्रकृति, इन तीन पदार्थों को गीता में अनादि अनन्त सिद्ध किया गयाहै॥

स्वामीरामानुज इस श्लोकमें यह लिखते हैं किः—"अन्तवन्तइमेदेहाइत्यनन्तरमुपपाद्यते, अतोयथोक्तएवार्थः" "अन्तवन्तइमेदेहा" इस कथन से इस श्लोक में शरीरों को अनित्य सिद्ध किया है संसार को मिथ्या बना देने का उक्त श्लोक का आशय नहीं । स्वामी शं० चा० के शिष्य मधुसूदन स्वामी ने तो इस श्लोक से आधुनिक वेदान्तकी सम्पूर्ण फ़िलासफ़ी निकाली है अर्थात् "तत्त्वमसि" की समग्र कथा इसी में भरदी है, जीवको ब्रह्म बनानेका कोई उपाय इसके टीका करने में उठा नहीं रखा, वाचारम्भणन्यायभी उक्त स्वामी ने इस में विस्तार पुर्वक लिखाहै, वाचारम्भणन्याय का उत्तर जो जिज्ञासु देखना चाहें वह वेदान्तार्य्यभाष्य ब्र० सू० २ । १ । १४, आरंभणाधिकरण में देख लें, यहां हम विस्तारके भयसे नहीं लिखते ॥

इस लेख से गीता का सत्यार्थ जिज्ञासुओं को यह ज्ञात होगा कि इस प्रकार गीता के अर्थ भी मायावादी अपनी ओर खींचते हैं, यही कारण है कि जिससे लोग गीता के अनन्त अर्थ कर लेते हैं, हमारे विचार में यह उनकी बुद्धि का दोष है गीता के अक्षरों का दोष अंशमात्र भी नहीं । देखो आगे के श्लोक में आत्मा का अविनाशित्व स्पष्ट है :—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ॥
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति १७

पद०—अविनाशि । तु । तत् । विद्धि । येन । सर्वं । इदं । ततं । विनाशं । अव्ययस्य । अस्य । न । कश्चित् । कर्त्तुं । अर्हति ।

पदार्थ—(अविनाशि) विनाशरहित (तु) पुनः (तत्) उसी को (विद्धि) जान (येन) जिसने (इदंसर्वं) यह सब (ततं) विस्तार किया है (अस्यअव्ययस्य) इस अव्यय के (विनाशं) विनाश को (कश्चित्) कोई एक (कर्त्तुं) करने को (अर्हति) योग्य (न) नहीं ॥

भाष्य—इस श्लोक ने स्पष्ट कर दिया कि जिस आत्मा के ज्ञान से यह सब वस्तुजात प्रकाशित हैं अर्थात् जिससे यह सब जड़वर्ग जाना जाता है उसको तुम (अविनाशि) विनाश न होने वाला जानो । इस अव्यय अविनाशी का कोई विनाश नहीं कर सक्ता, इससे इतर कार्य्यजात जगत् विनाशी है ॥

ननु "येन सर्वमिदंततं" इस कथन से तो यह सिद्ध होगया कि जिस परमात्मा ने इस जगत् को बनाया है केवल वही अविनाशी है और सब विनाशी हैं फिर जीव भिन्न कहां रहा? उत्तर—इसमें परमात्मा का वर्णन नहीं क्योंकि प्रथम तो यहां परमात्मा का प्रकरण ही नहीं और गी० २।१८ में शरीर अर्थात् जीवात्मा को नित्य कथन करके उसके देहों को अनित्य कथन किया है इससे स्पष्ट होजाता है कि इस श्लोक में जीवात्मा का ही वर्णन है परमात्मा का नहीं । अब रही यह बात कि जीवके विषयमें "येनसर्वमिदंततं" यह क्यों कथन किया है? इसका उत्तर यह है कि तनु विस्तारेका

जो ततं बना है इसका यही अर्थ है कि जिस सूक्ष्मरूप चिच्छक्ति ने ज्ञानका विस्तार किया है वह ज्ञानी अविनाशी है। यद्यपि अविनाशी होनेमें परमात्माभी आजाता है पर उसका यहां प्रकरण नहीं, यहां प्रकरण जीवात्मा की नित्यता बोधन करके अर्जुनको युद्ध से निर्भय करने का है जैसाकि इस अग्रिम श्लोकमें स्पष्ट है॥

अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥

पद०—अन्तवन्तः। इमे। देहाः। नित्यस्य। उक्ताः। शरीरिणः। अनाशिनः। अप्रमेयस्य। तस्मात्। युद्धयस्व। भारत॥

पदार्थ—(इमेदेहाः) यह देह (अन्तवन्तः) अन्तवाले हैं अर्थात् विनाशी हैं और (नित्यस्य शरीरिणः) नित्य जो जीवात्मा है उसके यह देह अनित्यकथन कियेगए हैं। वह कैसा है जोअनाशी और अप्रमेय है अर्थात् रूपादि रहित होनेसे अप्रमेय नाम दुर्विज्ञेय कथन किया गयाहै, आत्माको नित्य समझकर और देहों की अनित्य समझकर हे भारत तू (युद्धयस्व) युद्धकर। यह उपसंहार जीवात्मा की नित्यता को बोधन करता है॥

सं०—ननु जब शरीरी जीवात्मा मरता नहीं तो फिर उसके मारनेमें क्या दोष है ? और उसको अविनाशी बोधनकरनेवाला शास्त्र और उस शास्त्रकाकर्त्ता परमात्मा इस दोषका भागीहुआ जिसने ऐसी फ़िलासफ़ीका उपदेश किया? इसका उत्तरयह है:—

य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते॥१९

पद०—यः। एनं। वेत्ति। हन्तारं। यः। च। एनं। मन्यते।

हतं । उभौ । तौ । न । विजानीतः । न । अयं । हन्ति । न । हन्यते ॥

पदार्थ—(एनं) इस परमात्माको (यः) जो (हन्तारं) हनन करनेवाला मानता है औरजो इसको (हतं) मरजानेवाला मानता है (उभौतौनविजानीतः) वह दोनों नहीं जानने (न अयं) न यह (हन्ति) हनन करता है (न हन्यते) न मारा जाता है ॥

भाष्य—शङ्करभाष्य में इस श्लोकको जीव पक्षमें लगाया है उक्त श्लोक कठ०२।१९ से लिया गया है, वहां ईश्वरके प्रकरण में यह श्लोक आया है, इसलिये इस प्रकारके श्लोकोंमें जीवब्रह्म की एकता नहीं हो सकती क्योंकि यहां जीवका प्रकरण नहीं।

एतदालम्बनंश्रेष्ठमेतदालम्बनंपरम् । एतदालम्बनंज्ञात्वाब्रह्मलोकेमहीयते । कठ० २ । १७

अर्थ—ओं शब्द का अर्थ ब्रह्म जो पूर्व प्रतिपादन कियागया है वही (आलम्बन) सहारा उपासक के लिये श्रेष्ठ है, वही सहरा (परं) सबसे बड़ा है, इसी आलम्बन को जानकर ब्रह्मलोक में महीयते नाम पूजाजाता है अर्थात् ब्रह्मदर्शीलोगोंमें श्रेष्ठ समझा जाता है। इस प्रकरण के विषयवाक्यों से यह गीता के श्लोक लिये गए हैं देखो:—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

पद०—न । जायते । म्रियते । वा । कदाचित् । न । अयं ।

भूत्वा । भविता । वा । न । भूयः । अजः । नित्यः । शाश्वतः । अयं । पुराणाः । न । हन्यते । हन्यमाने । शरीरे ॥

पदार्थ—(न जायते) वहपरमात्मा कभी उत्पन्ननहीं होता और (न म्रियते) न मरता है (अयंभूत्वा) यह होकर (भूयः) फिर कल्पान्त में (भवितान) न होगा यह नहीं, किन्तु सदैव होगा। वह अज है, नित्य है, (शाश्वतः) निरंतर (पुराणः) प्राचीन है (न हन्यते हन्यमानेशरीरे) शरीरके नाश होनेसे यह नाश नहीं होता॥

सं०—ननु परमात्माका तो तुम्हारेमतमें शरीरही नहीं फिर यह कैसे कहा कि 'न हन्यतेहन्यमानेशरीरे' उत्तर—'यःपृथिव्यांतिष्ठन्पृथिव्यामन्तरोऽयंपृथिवनिवेद यस्यपृथिवीशरीरं ॥ बृ० ३ । ७ । १ इत्यादिकोंमें प्रकृति को परमात्मा का शरीर माना है और उस प्रकृतिरूपी शरीर के नाश होने से वह नाश नहींहोता अर्थात् परमात्माकूटस्थनित्य है॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ॥
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंतिकम्॥२१

पद०—वेद। अविनाशिनं। नित्यं। यः। एनं। अजं। अव्ययं। कथं। सः। पुरुषः। पार्थ। कं। घातयति। हन्ति। कं।

पदार्थ—जो इस (अविनाशि) नाश रहित (अव्ययं) विकार से रहित को (वेद) जानता है (सः पुरुषः) वह पुरुष (कथं) किस प्रकार से (पार्थ) हे अर्जुन (कंघातयति) किसके मारने का प्रयोजक बनता है और (हन्तिकं) किसको मारता है अर्थात् जो परमात्मा के कूटस्थ नित्य स्वरूप को जान लेता है वह इस बात को भी जान लेता है कि परमात्मा किसी को हनन नहीं

करता स्वकर्मों से ही लोग जन्म मरण को प्राप्त होते हैं॥

सं०—जब यहां जीवात्मा की नित्यता का निरूपण पूर्व से चला आता था तो परमात्मा विषयक उक्त तीनों श्लोकों का क्या प्रकरण था? उत्तर—जिस प्रकार जीवात्मा विषयक यह सन्देह था कि वह वास्तव में जन्म मरण में आता है वा नहीं? इसी प्रकार परमात्मा विषयक भी यह सन्देह था कि भारतादि महायुद्धों की हिंसा का परमात्मा प्रयोजक है वा नहीं? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये परमात्मा विषयक उक्त तीनों श्लोक यहां सङ्गत समझकर उद्धृत किये गए, इसी अभिप्राय से "**नादत्ते कस्यचित्पापं**" इत्यादि श्लोकों में परमात्मा को पाप पुण्य का हेतु नहीं माना। शङ्करभाष्य में जो उक्त तीनों श्लोकों की व्याख्या जीव पक्ष में की है यह उपनिषद् के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, यदि यह कहा जाय कि शङ्करमत में जीव ईश्वर दोनों एक हैं तो उत्तर यह है कि "**प्रकरणाच्च**" ब्र० सू० १।३।५ इत्यादि सूत्रों में शङ्कराचार्य्य जीने जीव ईश्वर का भेद माना है, आत्मा का प्रकरण जीव ईश्वर उभय साधारण समझकर महाभारत में यह उपनिषद् उद्धृत किया गया। अब फिर पूर्व प्रकृत जीव के प्रकरण को सिंहावलोकन न्याय से ग्रन्थन करते हैं॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय-
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

पद०—वासांसि। जीर्णानि। यथा। विहाय। नवानि।

गृह्णाति । नरः । अपराणि । तथा । शरीराणि । विहाय । जीर्णानि । अन्यानि । संयाति । नवानि । देही ।

पदार्थ—(वासांसि जीर्णानि) पुराने वस्त्रों को छोड़कर जैसे पुरुष (नवानि) नवीन वस्त्रों को (गृह्णाति) धारण करता है (तथा) इस प्रकार (नरः) जीव (जीर्णानि शरीराणि विहाय) पुराने शरीरों को छोड़कर (अन्यानि नवानि शरीराणि) और नए शरीरों को (देही) जीवात्मा (संयाति) प्राप्त होता है ॥

नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

पद०—न । एनं । छिन्दन्ति । शस्त्राणि । न । एनं । दहति । पावकः । न । च । एनं । क्लेदयन्ति । आपः । न । शोषयति । मारुतः ।

पदार्थ—(एनं) इस जीव को (शस्त्राणि) शस्त्र (न) नहीं (छिन्दन्ति) काट सक्के, इसको (पावकः) अग्नि (दहति) जला नहीं सक्की (नच आपः) और पानी इसको (न क्लेदयन्ति) गला नहीं सक्के (मारुतः) वायु इसको (न शोषयति) सुखा नहीं सक्की ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः २४

पद०—अछेद्यः । अयं । अदाह्यः । अयं । अक्लेद्यः । अशोष्यः । एव । च । नित्यः । सर्वगतः । स्थाणु । अचलः । अयं । सनातनः ॥

पदार्थ—(अयं) यह जीवात्मा (अछेद्यः) शस्त्रों से छेदन नहीं किया जासक्का (अदाह्यः) अग्नि से दाह नहीं होता (अक्लेद्यः) जलों से गलाया नहीं जा सक्का (अशोष्यः) वायु से सुखाया

नहीं जासक्ता (नित्यः) नित्य है, कभी नाश नहीं होता (सर्वगतः) सर्व वस्तुओं के भीतर जा सक्ता है अर्थात् अप्रतिहतगति है (स्थाणुः) कूटस्थ नित्य है इसी लिये अचल कहा गया है और (सनातनः) सदैव से है जैसाकि "द्वासुपर्णासयुजासखाया" इत्यादि मंत्रों में सनातन वर्णन किया गया है ॥

शङ्करभाष्य में सर्वगत के अर्थ सर्वव्यापक के किये हैं जो जीव विषयक असम्भव हैं। देखो—यहां स्थाणु शब्द जैसे निश्चल को कहता है और स्थाणु शब्द के मुख्य अर्थ गति के अभाव वाले पदार्थ के हैं एवं (सर्वगतः) शब्द यहां योग्यतावश से सर्व वस्तु विषयक गति शील के हैं सर्वव्यापक के नहीं। यदि जीव सर्वव्यापक होता तो बन्धन में कदापि न आता ॥

सं०—अब निम्नलिखित दो श्लोकों से इस बात को वर्णन करते हैं कि आत्मा को उत्पत्ति विनाश वाला मानकर भी तुम शोक नहीं कर सक्ते :—

अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।२५।

पद०—अव्यक्तः। अयं। अचिन्त्यः। अयं। अविकार्यः। अयं। उच्यते। तस्मात्। एवं। विदित्वा। एनं। न। अनुशोचितुं। अर्हसि ॥

पदार्थ—(अयं) यह जीवात्मा (अव्यक्तः) सूक्ष्म है इसीलिये अचिन्त्य है, इन्द्रिय गोचर नहीं, (अविकार्यः अयं उच्यते) यह अविकारी कहा गया है (तस्मात्) इस लिये (एनं) इस जीवात्मा को (एवंविदित्वा) ऐसा जानकर (न अनुशोचितुंअर्हसि) तुम शोक करने योग्य नहीं हो ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि।२६

पद०—अथ। च। एनं। नित्यजातं। नित्यं। वा। मन्यसे। मृतं। तथापि। त्वं। महाबाहो। न। एनं। शोचितुं। अर्हसि॥

पदार्थ—(च) और (अथ) यदि (एनं) इसको (नित्यजातं) नित्य उत्पन्न होता हुआ मानो वा नित्य ही (मृतंमन्यसे) मरता हुआ मानो (तथापि) तब भी (महाबाहो) हे बड़े बल वाले (त्वं न एनं शोचितुमर्हसि) तुमको इसका शोक योग्य नहीं॥

जातस्यहिध्रुवोमृत्युर्ध्रुवंजन्ममृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।२७

पद०—जातस्य। हि। ध्रुवः। मृत्युः। ध्रुवं। जन्म। मृतस्य। च। तस्मात्। अपरिहार्ये। अर्थे। न। त्वं। शोचितुं। अर्हसि॥

पदार्थ—(जातस्य) उत्पत्तिवालेपदार्थ का (ध्रुवः) अवश्यमेव (मृत्युः) मरण होता है (च) और (ध्रुवंजन्म) निश्चय पूर्वकजन्म, मरणधर्म वाले पदार्थ का होता है (तस्मात्) इसलिये (अपरिहार्ये) जो अटल अर्थात् मिट न सके (अर्थे) ऐसे अर्थ में तुमको शोक करना ठीक नहीं॥

अव्यक्तादीनिभूतानि व्यक्तमध्यानिभारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।२८

पद०—अव्यक्तादीनि। भूतानि। व्यक्तमध्यानि। भारत। अव्यक्तनिधनानि। एव। तत्र। का। परिदेवना॥

पदार्थ—(अव्यक्तादीनि) इन्द्रियागोचर जो प्रारम्भ में प्रकट न हो (भूतानि) यह सब प्राणी ऐसे हैं कि प्रारम्भ में प्रकट नहीं

होते और (व्यक्तमध्यानि) मध्यमेंइन्द्रियगोचर होते हैं (अव्यक्त-निधनानि) अंतमें फिर अव्यक्त होजाते हैं (तत्र) ऐसी दशा में (कापरिदेवना) फिर शोक करना वा रोना क्या ॥

भाष्य—शङ्करभाष्य में इसके यह अर्थ किये गए हैं कि इस मिथ्या भ्रान्तिभूत विश्ववर्ग का क्या शोक करना है और इसी अर्थ को मधुसूदन स्वामी ने अबलम्बन किया है जैसा कि:— "तथाचाज्ञानकल्पितत्वेनतुच्छान्याकाशादिभू-तान्युदिश्यशोकोनोचितः" अर्थ—अज्ञान से कल्पना किये हुए जो यह सब आकाशादि भूत हैं इनका शोक उचित नहीं। इनके मतमें ब्रह्मके आश्रितजो अविद्या थी उस अविवेकसे यह सम्पूर्ण संसार उत्पन्न हुआ है इसी लिये शोक नहीं करना चाहिये। हमारे विचार में तो सर्व शोकों का आकर इनका ब्रह्म ही बनगया, जिसको आच्छादन करके अज्ञान ने यह नानाविध शोक मोहादि दुःखजात की राशी इस संसार को उत्पन्न कर दिया, जिनके मतमें ब्रह्ममें मोह होजाता है उनके मतमें जीवको मोह होजाने की तो कथा ही क्या ॥

वस्तुतः यह श्लोक कार्य्य जो शरीरादि हैं उनकी अनित्यता को प्रतिपादन करता है मायावादियों के मायाकृत मोहको नहीं क्योंकि आगे के श्लोक में आत्मा की नित्यता और शरीर की अनित्यता कथन की है ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति

श्रुत्वाप्येनंवेदनचैवकश्चित् ॥ २९ ॥

पद०—आश्चर्यवत् । पश्यति । कश्चित् । एनं । आश्चर्यवत् । वदति । तथा । एव । च । अन्यः । आश्चर्यवत् । च । एनं । अन्यः । शृणोति । श्रुत्वा । अपि । एनं । वेद । न । च । एव । कश्चित् ॥

पदार्थ—(आश्चर्य्यवत्) अद्भुतके समान कोई एक पुरुष इस को देखता है अर्थात् आत्माका तत्व नहीं जानता, आत्माकाज्ञान बड़ा दुर्गम है, इसके तत्त्वको श्रवणमात्रसे पुरुष नहीं जान सकता (च) और (अन्यः) दूसरा इसको (आश्चर्य्यवत्) अद्भुत के समान (वदति) कथनकरताहै अर्थात् कोई शरीर को आत्मा कथन करता है, कोई इन्द्रियों को आत्मा बतलाता है, कोई प्राणको आत्मा कथनकरता है यही उसमें आश्चर्य्य है (च) और (आश्चर्य्यवत्) आश्चर्य्य के समान (एनं) इस आत्माको (अन्यःशृणोति) कोई सुनता है (श्रुत्वाअपिएनं) सुनकर भी इस के तत्व को (न च एव कश्चित् वेद) कोई ठीक २ नहीं जानता ॥

भाष्य—यह श्लोक इस अभिप्राय से कथन कियागया है कि अनेकधा सुनने पर भी जो जन्म मरणादिकों का मोह बना रहता है इसका कारण यह है कि शरीर से जीवात्मा के भिन्न होने का जबतक साक्षात्कार नहीं होता तबतक मृत्यु का भय बना रहता है जब पुरुष साधन सम्पन्न होकर शरीरादिकों को अनित्य और इस सत्चित्रूप अपने आपको साक्षात् कर लेता है फिर शरीर के नाश होने का भय नहीं रहता ॥

अद्वैतवादी लोग इसको इस प्रकार लगाते हैं कि "ब्रह्माऽभिन्नमपिमद्भिन्नमिव" अर्थ — ब्रह्मसे यह जीव अभिन्न भी है फिर इसको ब्रह्मसे भिन्न देखना आश्चर्य्य है अर्थात् इस

श्लोक को भी जीव ब्रह्मकी एकता में लगाते हैं पर यह भाव इस श्लोक से कदापि नहीं निकल सकता, क्योंकि आगेका श्लोक इस से सर्वथा विरुद्ध है और आधुनिक अद्वैतवादी टीकाकारोंने तो इसपर ऐसा रंग चढ़ाया है कि :—"यतोवाचोनिवर्तन्तेअप्राप्यमनसासह"·इत्यादि सब उपनिषद्वाक्यजो परमात्माके प्रकरण के थे वह भी इसी में सङ्गत करादिये और अविद्या के वशीभूत होकर जो अपने आपको न जानना इसी को आश्चर्य्य शब्दसे कथन किया है पर इनके यह अर्थ यहां गंधमात्र भी नहीं निकलते क्योंकि यहां आत्मा की नित्यताका प्रकरण है जैसाकि इस अग्रिम श्लोकमें वर्णन किया जाता है :—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणिभूतानिनत्वंशोचितुमर्हसि ३०

पद०—देही । नित्यं । अवध्यः । अयं । देहे । सर्वस्य । भारत । तस्मात् । सर्वाणि । भूतानि । न । त्वं । शोचितुं । अर्हसि ॥

पदार्थ—(अयंदेही) यह जीवात्मा (नित्यं) सदा (अवध्यः) अविनाशी है, हे भारत (सर्वस्यदेहे) सब प्राणीमात्रके देहमें (अयं देही) यह जीवात्मा नित्यअवध्य है अर्थात् नाशरहित है (तस्मात्) इसलिये (सर्वाणिभूतानि) सब प्राणियों को (त्वं) तू (शोचितुं) सोचने के लिये (नअर्हसि) योग्य नहीं है अर्थात् जीवात्मा अविनाशी है मरता नहीं इसलिये तुम जीव हत्याके भयसे क्षात्रधर्म को छोड़कर भिक्षादि अनुचित वृत्तियों का आश्रयण न करो ॥

सं०—यहांतक जीवात्माकी नित्यता और शरीरकी अनित्यता लिखकर ज्ञात्रधर्मका उपदेश किया, अब साक्षात्क्षात्रधर्म का उपदेश करते हैं ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते

पद०—स्वधर्मं। अपि। च। अवेक्ष्य। न। विकम्पितुं। अर्हसि। धर्म्यात्। हि। युद्धात्। श्रेयः। अन्यत्। क्षत्रियस्य। न। विद्यते॥

पदार्थ—(च) और (स्वधर्म्म) अपने धर्म को (अवेक्ष्य) देखकर भी (न विकम्पितुंअर्हसि) तुमको कांपना योग्य नहीं (धर्म्यात्) धर्म पूर्वक (युद्धात्) युद्ध से (हि) निश्चय करके (श्रेयः) कल्याण का मार्ग (अन्यत्) और (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय के लिये (न विद्यते) कथन नहीं किया गया॥

भाष्य—इस श्लोक से सर्वथा स्पष्ट हो गया कि क्षात्र धर्म की दृढ़ता के लिये गीता का उपक्रम है, मायावादियों के मनोरथ मात्र के अद्वैतवाद तथा मनोरथमात्र से सर्वत्याग रूप संन्यास के लिये नहीं॥

जिस क्षात्रधर्म को स्वधर्म कहा है उसका वर्णन महाभारत में विस्तार पूर्वक है जैसाकि:—

(१) ब्राह्मणानांयथाधर्मो दानमध्ययनं तपः।
क्षत्रियाणांतथाकृष्णसमरेदेहपातनम्। म: शा: ५५।१४

(२) यथाहिरश्मयोऽश्वस्यद्विरदस्याङ्कुशोयथा
नरेन्द्रधर्मोलोकस्य तथा प्रग्रहणंस्मृतं। म० शा० ५६।५

(३) अधर्मः क्षत्रियस्यैषः यच्छय्यांमरणंभवेत्।
विसृजन्श्लेष्ममूत्राणिकृपणंपरिदेवयन्। म० शा० २३

(४) अविक्षतेनदेहेनप्रलयं योधिगच्छति। क्ष

त्रियोनास्यतत्कर्मप्रशंसन्तिपुराविदः। म० शा० । २४

(५) न गृहेमरणंतात् क्षत्रियाणां प्रशस्यते।
शौण्डीर्याणां मप्यशौण्डीर्य्यमधर्म्यं कृपणंचतत्॥
म० शा० ९७ । २५

अर्थ—(१) जिस प्रकार ब्राह्मणों का धर्म यज्ञ, दान, तप, करने का है एवं क्षत्रियों का धर्म युद्ध में देहत्याग का है॥

(२) जिस प्रकार गर्वित घोड़े को उसकी रासें स्थिर रखती हैं और जिस प्रकार मत्तहस्ति को अङ्कुशवश में रखता है इस प्रकार क्षात्रधर्म लोक मर्य्यादा की स्थिरता का हेतु है॥

(३) क्षत्रिय के लिये यह महाअधर्म है जो बीमार होकर खाट पर पड़कर मरना है जिसमें श्लेष्म मलमूत्रादि त्याग से अति कृपणता से देह त्यागा जाता है॥

(४) जो क्षत्रिय (क्षत) घाव से रहित देह को त्याग कर देता था अर्थात् विना शस्त्र प्रहार के देह त्याग करता था उसको प्राचीन क्षत्रिय लोग क्षत्रिय नहीं गिनते थे॥

(५) गृह में मर जाना क्षत्रियों का प्रशंसित नहीं गिना जाता था किन्तु ऐसा मरना निन्दित से निन्दित अधर्म और अति कायर का काम समझा जाता था॥

यह क्षात्रधर्म था जिस भावको लेकर कृष्ण जीने कहा है कि—
"स्वधर्ममपिचावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि" कि तुम स्वधर्म को देखकर भी भीरू नहीं बन सकते, क्योंकि तुम्हारा स्वधर्म भी युद्ध में मरने को ही कल्याण मानता है नकि भीख मांगने को और यह युद्ध तुम्हारे पूर्व पुण्यों के प्रताप से उपस्थित हुआ है॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनःक्षत्रियाःपार्थलभंतेयुद्धमीदृशम्।३२

पद०—यदृच्छया । च । उपपन्नं । स्वर्गद्वारं । अपावृतं । सुखिनः । क्षत्रियाः । पार्थ । लभन्ते । युद्धं । ईदृशं ॥

पदार्थ—(यदृच्छया)अकस्मात(उपपन्नं)आकर यहयुद्धतुम्हारे लिये उपास्थित हुआ है और यह (स्वर्गद्वारं अपावृतं) खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है, (युद्धंईदृशं) ऐसे युद्ध को (सुखिनः क्षत्रियः) बड़े पुण्यात्मा क्षत्रिय, हे पार्थ (लभन्ते) लाभ करते हैं ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततःस्वधर्मंकीर्तिंचहित्वापापमवाप्स्यसि ३३

पद०—अथ । चेत । त्वं । इमं । धर्म्यं । संग्रामं । न । करिष्यसि । ततः । स्वधर्म्मं । कीर्तिं । च । हित्वा । पापं । अवाप्स्यसि ।

पदार्थ—(अथ चेत) यदि तुम इस धर्म पूर्वक (संग्रामं) युद्ध को (न करिष्यसि) न करोगे (ततः) तो (स्वधर्म्मं) अपने धर्म को (च) और (स्वकीर्तिं) अपनी कीर्ति को (हित्वा) नाश करके (पापं) पाप को (अवाप्स्यसि) प्राप्त होगे ॥

अकीर्तिंचापिभूतानिकथयिष्यंतितेऽव्ययां।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।३४

पद०—अकीर्तिं । च । अपि । भूतानि । कथयिष्यंति । ते । अव्ययां । सम्भावितस्य । च । अकीर्तिः । मरणात । अतिरिच्यते ।

पदार्थ—(च) और (ते) तुम्हारे (अव्ययां) हमेशा के लिये (अकीर्तिः) अपयश को (भूतानि) लोग (कथयिष्यन्ति) कथन

करेंगे और वह तुम्हारी अपकीर्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ रहेगी अर्थात् तुम्हारा यह अपयश प्रलयकाल तक स्थायी रहेगा (च) और (सम्भावितस्य) बड़े माने हुए पुरुष की अकीर्ति (मरणात्अतिरिच्यते) मरण से भी अधिक होती है ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यंते त्वां महारथाः ।
येषांचत्वंबहुमतोभूत्वायास्यसिलाघवम् ।३५

पद०—भयात् । रणात् । उपरतं । मंस्यन्ते । त्वां । महारथाः । येषां । च । त्वं । बहुमतः । भूत्वा । यास्यसि । लाघवं ॥

पदार्थ—(भयात्) भय से डरकर (रणात्उपरतं) रण से हटा हुआ (महारथाः) योद्धा लोग (त्वां) तुमको (मंस्यन्ते) मानेंगे (येषां) जिनके मध्य में (त्वं) तुम (बहुमतः भूत्वा) बड़े माने हुए होकर (लाघवं) छोटेपन को (यास्यसि) प्राप्त होगे ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यंति तवाहिताः ।
निंदंतस्तवसामर्थ्यंततोदुःखतरंनुकिम् ।३६।

पद०—अवाच्यवादान् । च । बहून् । वदिष्यन्ति । तव । अहिताः । निन्दन्तः । तव । सामर्थ्यं । ततः । दुःखतरं । नु किं ॥

पदार्थ—(अवाच्यवादान्) कुवाच्य वादों को जो तुम्हारे योग्य नहीं (बहून्) ऐसी बहुत सी बातों को (तव) तुम्हारे (अहिताः) शत्रु लोग (वदिष्यन्ति) कथन करेंगे, कोई कहेगा कि अर्जुन वास्तव क्षत्रिय नहीं, कोई कहेगा भीरू है, एवं अनेक कुवाच्यवाद हैं जिनसे (तव) तुम्हारी (सामर्थ्यं) शक्ति को (निन्दन्तः) निन्दा करते हुए अवाच्यवाद कहेंगे, (ततः) इससे परे (दुःखतरं) अधिक दुःख क्या है ?

हतोवाप्राप्स्यसिस्वर्गं जित्वावाभोक्ष्यसे मही म्।तस्मादुत्तिष्ठकौंतेययुद्धायकृतनिश्चय:।३७

पद०—हतः । वा । प्राप्स्यसि । स्वर्गं । जित्वा । वा । भोक्ष्यसे । महीं । तस्मात् । उत्तिष्ठ । कौन्तेय । युद्धाय । कृतनिश्चयः ॥

पदार्थ—(हतः वा) यदि तुम मारे गए तो (स्वर्गं) स्वर्ग को (प्राप्स्यसि) प्राप्त होगे (जित्वा वा) यदि जीत गए तो (महीं) पृथिवी को (भोक्ष्य से) भोगोगे (तस्मात्) इस लिये हे कौन्तेय कुन्ती के पुत्र अर्जुन (कृतनिश्चय) निश्चय वाले होकर युद्ध के लिये (उतिष्ठ) उठो ॥

सुख:दुखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाययुज्यस्वनैवं पापमवाप्स्यसि।३८

पद०—सुखदुःखे । समे । कृत्वा । लाभालाभौ । जयाजयौ । ततः । युद्धाय । युज्यस्व । न । एवं । पापं । अवाप्स्यसि ॥

पदार्थ—(सुखदुःखे) सुख और दुःख इन दोनों को (समेकृत्वा) समान समझकर (लाभालाभौ) लाभ और अलाभ को समान मानकर (जयाजयौ) हार और जीत को अर्थात् हानि लाभ का विचार छोड़कर केवल स्वधर्म के लिये (युद्धाय) युद्ध के लिये (युज्यस्व) जुड़ो अर्थात् युद्ध करो (एवं) इस प्रकार (पापं) हिंसारूप पाप को (न अवाप्स्यसि) नहीं प्राप्त होगे अर्थात् जब तुम क्षात्रधर्म की मर्य्यादा को पूर्ण करते हो और दुर्योधन जैसे आततायि लोगों के वध करने के लिये उद्यत हो तो फिर तुमको पाप क्यों लगेगा । आततायियों का वध करना वैदिक लोगों के लिये पाप नहीं ॥

भाष्य—गीता में यह स्वधर्म का उपदेश अर्जुन को तात्त्विक किया गया है अर्थात् इसमें कोई मिथ्यापन नहीं, इस क्षात्रधर्म प्रधान भाव को कौन अन्यथा लापन कर सकता है, इस सच्चाई को कौन छिपा सकता है, यह वह स्थल है जहां आकर मायावादियों का माया का मोह जाल मनोरथमात्र भी नहीं चलसका और नाहीं अद्वैतवाद के अर्थों का गन्धमात्र भी उक्त श्लोकों में कोई लासकता है, सच है। सच को कौन छिपा सकता है और मिथ्या को सत्य कौन बना सकता है, इस लिये उक्त श्लोकों का भाष्य मायावादियों ने विना ननु नच किये क्षात्रधर्म प्रधान कर दिया, पर फिर भी इसमें इतना मायावाद का मोह डालही दिया देखो:—"नैवंयुद्धंकुर्वन्पापमवाप्स्यसि, इत्येषउपदेशः प्रासङ्गिकः" गी० २।२८ शं० भा० अर्थ—उक्त क्षात्रधर्म को पूर्ण करता हुआ पाप को नहीं प्राप्त होता यह बात प्रासङ्गिक है अर्थात् गीता में मुख्य प्रसङ्ग कर्मत्याग रूप संन्यासी बनाने का है वा सबको ब्रह्म बना देने का है और क्षात्रधर्म, प्रसङ्ग सङ्गति से कथन किया गया है॥

यह लेख स्वामी शं० चा० का गीता के आशयसे सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि मुख्य प्रसङ्ग गीता में अर्जुनके गिरते हुए मनको महाबलिष्ठ बना देना ही है और प्रसङ्ग सङ्गतिसे वर्ण चतुष्टय के धर्मभी इसमें सङ्गत हैं। इसी प्रसङ्ग सङ्गति में शमदम प्रधान मुनियों का मोक्ष धर्मभी इसमें निरूपण कियागया है पर मुख्यधर्म 'स्वधर्ममपिचावेक्ष्य' इत्यादिकोंसे अर्जुनको स्वधर्मपरआरूढ़ करना ही है॥

ननु यदि इस ग्रन्थ में मुख्यधर्म क्षात्रधर्म था तो कर्मयोग

और ज्ञान योग तथा मोक्षधर्मका अधिक उपदेश इस ग्रन्थमें क्यों कियागया है ? उत्तर–जिनलोगोंने महाभारतका पाठकिया है उन को ज्ञात होगा कि यह ग्रन्थ मुख्यतया क्षात्रधर्म को वर्णनकरता है और प्रसङ्ग सङ्गति से ओर धर्म भी इसमें सङ्गत हैं क्योंकिगीता महाभारतरूप अम्बुधि का एक विन्दु मात्र है इसलिये इसमें वर्णन किये गए कर्मयोगादि धर्म मुख्य नहीं कहे जा सकते ॥

और बात यह है कि ज्ञानयोग औरकर्मयोग तो केवल विचार और अनुष्ठान का नाम है जो क्षात्रधर्म में भी अत्यावश्यक है फिर इन धर्मोंकी प्रधानता कैसे ?

और जो स्वामी शं० चा० के मतमें संसार से निवृत्तिके लिये गीता शास्त्रका उपक्रम है यह ठीक नहीं किन्तु अभ्युदय और निश्रेयस्, इन दोनों के लिये गीता शास्त्रका उपदेश कियागयाहै और (अभ्युदय) इसलोक की श्री क्षात्रधर्म के विना सर्वथा असंभव है; इसलिये कृष्णजीने लोकमर्य्यादा के एकमात्र मूल क्षात्र धर्मको प्रारम्भ में दृढ़ किया है, इसीकी दृढ़ता के लिये ' नैनंच्छिन्दन्तिशस्त्राणि ' इत्यादि आत्मज्ञानका आदेश है, इसी की दृढ़ताके लिये भिक्षावृत्तिको तुच्छवतलाकर " स्वधर्ममपिचावेक्ष्य " इत्यादि उपदेश है ॥

अधिक क्या क्षात्रधर्म प्रमुख गीता शास्त्रका प्रारम्भ इस ग्रंथ का भूषण है जिसको मिथ्या मानकर मायावादियों ने इस ग्रन्थ के बलको नष्ट कर दियाहै और अपनी मायाके मनोरथ में पड़कर भारतको मिथ्यार्थ भूमि वनादिया है ॥

औरक्षात्रधर्मकेप्रकरण मेंजो 'नैनंच्छिन्दान्तिशस्त्राणि'

यह कथन किया गया है यह सांख्यमतिहै जिसको पाकर अर्जुन जंबुकसे मृगेन्द्र वन गया, इसी को नित्यानित्य वस्तु का विवेक कहते हैं, जिस विवेक ने अर्जुन का क्षणभर में कलेवर बदल दिया ॥

सङ्गति—अब इसके दृढ़ अनुष्ठान के लिये कर्मयोगका कथन करते हैं :—

एषा तेऽभिहितासांख्येबुद्धियोंगेत्विमांशृणु। बुद्ध्यायुक्तो यया पार्थ कर्मबंधंप्रहास्यासि।३९

पद०— एषा । ते । अभिहिता ।सांख्ये । बुद्धिः । योगे ।तु। इमां । श्रृणु । बुद्ध्या । युक्तः । यया । पार्थ । कर्मवन्धं । प्रहास्यसि॥

पदार्थ-(ते) तुम्हारा (एषा)यह(सांख्ये)सांख्यविषयमें अर्थात् सदसद् विवेचन विषय में (बुद्धिः)ज्ञान, मैंने कथन किया है और (योगेतुइमाश्रृणु) कर्मयोग विषय में इस बुद्धिज्ञान को तू सुन जो आगे कथन किया जाता है, हे पार्थ (ययाबुद्ध्या) जिस बुद्धिसे (युक्तः) युक्त होकर तुम (कर्मवन्धं) कर्मका जो वन्धन है उससे (प्रहास्यसि) छूटजाओगे ॥

भाष्य—कर्मका वन्ध सकामकर्म से होता है और तुमको निष्काम कर्म का उपदेश किया जाता है इसलिये कर्म के वन्धन से छूट आओगे ॥

शङ्करभाष्यमें इसकेयह अर्थ कियेगये हैं (कर्मवन्धं) **कर्मणैव धर्माऽधर्माख्योवन्धःकर्मवन्धः** (तंप्रहास्यसि) **ईश्वर प्रसादनिमित्तंज्ञानंप्राप्नोतिरित्यभिप्रायः ।** अर्थ— कर्म वन्धके अर्थ यह हैं कि जो धर्म और अधर्मरूप कर्मों से वन्धन होता है उसका नाम कर्मवन्ध है और वह ईश्वर की कृपा

से जो ज्ञानकी प्राप्ति होती है उससे वह वन्धन दूर होता है ॥

मधुसूदन स्वामी इसके यह अर्थ करते हैं कि अर्जुन कर्म का अधिकारी था इसलिये उसको कर्मका महत्व वोधन करनेकेलिये यह श्लोक कहा है, जैसाकि :—

अत्यन्तमलिनान्तःकरणत्वात्वहिरङ्गसाधनंकर्म्मैवत्वयाऽनुष्ठेयं नाधुनाश्रवणादियोग्यतापितव जाता । अर्थ—वहिरङ्ग साधन जो कर्म हैं अभीतुम उन्हींका अनुष्ठान करो, तुमको अभी श्रवणादिकों की योग्यता नहीं ॥

अस्तु यदि यह वातभी मानीजाय कि अर्जुनको मलिन अन्तःकरणवाला होने से पहलेकर्मकाही अधिकारी समझागया तो फिर "वुद्ध्यायुक्तोययापार्थकर्म्मबन्धंप्रहास्यसि" इस वुद्धि से कर्मके वन्धनसे छूट जायगा एवं कर्मयोग को ज्ञानयोगसे श्रेष्ठ क्यों कथन किया गया ? इसका उत्तर मायावादी लोग यह देते हैं कि कर्म्मसे ज्ञानका प्रतिवन्धरूपपाप दूर किया जाता है इस अभिप्राय से यह कहा है कि इस कर्म योग से कर्मके वन्धन को साग दोगे ॥

इत्यादि, मायावादियों की अनेक कल्पनाएं यहां काम नहीं दे सकतीं, यहां तो महर्षिव्यास ने ज्ञानसे कर्म को श्रेष्ठ सिद्ध कर दिया, जो पूर्व ज्ञानरूपी सांख्य वुद्धिको वर्णन करके फिर कर्म से वन्धन की निवृत्ति को कथन किया। मायावादियों के मतमें कर्म की प्रतिष्ठा ज्ञानसे बहुत कम है यहां तक कि "कर्माचितोलोकःक्षीयते" इत्यादि वाक्यों पर यही बल दिया जाता है कि कर्म का फल अनित्य है। फिर यहां कर्म को वन्धकी निवृत्ति का

मुख्य कारण कैसे मानागया, हमारे मतंमेंतो ज्ञानकर्म का समुच्चय है जिससे कोई दोष नहीं, ज्ञान होने के अनन्तर अनुष्ठानरूप कर्म से बन्धकी निवृत्ति होती है इसमें कोई दोष नहीं ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्यधर्मस्यत्रायतेमहतोभयात्॥४०॥

पद०—न । इह । अभिक्रमनाशः। अस्ति । प्रत्यवायः । न । विद्यते । स्वल्पं । अपि । अस्य । धर्मस्य । त्रायते । महतः । भयात्॥

पदार्थ—(इह) इस कर्मयोग में (अभिक्रमनाशः) जिस फल का कर्मसे प्रारम्भ किया जाय उसको अभिक्रम कहते हैं अर्थात् इस कर्मयोग का प्रारम्भ करके भी यदि छोड़ दिया जाय तोभी इसमें अन्यकार्य्यों के समान अधूरा रहने का दोष नहीं लगता (प्रत्यवायः) उस पापको कहते हैं जो सन्ध्यावन्दनादि नित्य कर्मों के न करने से लगता है वह प्रत्यवाय इस कर्मयोगमें नहीं लगता (स्वल्पं) थोड़ा सा (अपि) भी इस कर्मयोगरूप धर्म का अंश भी यदि किया जाय तोभी (महतः) बड़े (भयात्) भयसे (त्रायते) रक्षा करता है ॥

सं०—ननु तुम्हारे कर्मयोग के तो कई एक मार्ग हैं,कोई साकार उपासना को कर्मयोग कहते हैं, कोई नानाविध कर्मकाण्डरूप पशु मेधादिकों को कर्मयोग कहते हैं, ऐसा अव्यवस्थित कर्मयोग बड़े सें बड़े भय से कैसे रक्षा कर सकता है ? उत्तर—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।
बहुशाखाह्यनंताश्चबुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।

पद०—व्यवसायात्मिका । बुद्धिः । एका । इह । कुरुनन्दन ।

बहुशाखाः । हि । अनन्ता । च । बुद्धयः । अव्यवसायिनां ॥

पदार्थ—हे कुरुवंशको आनन्दित करनेवाले अर्जुन (व्यवसायात्मिका) व्यवसाय नाम निश्चयका है वहहो आत्मा अर्थात्स्वरूप जिसका उसका नाम व्यवसायात्मिकाहै अर्थात् निश्चयवालीबुद्धि (इह) इस संसारमें (एका) एक है (च) और (अव्यवसायिनां) अनिश्चयात्मिक लोगों की (बहुशाखाः) बहुत शाखों वाली और (अनन्ता) अनन्त (बुद्धयः) बुद्धियें हैं ॥

भाष्य—इस निश्चयात्मिक कर्मयोग कोही वेद विधान करता है, "वेदाहमेतंपुरुषंमहान्तमादित्यवर्णंतमसः परस्तात्।तमेवविदित्वातिमृत्युमेतिनान्यःपंथाविद्यतेऽयनाय:" यजु० ३१।१८ अर्थ—उस परमात्मा को जानकर ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति होतीहै। एक मात्र परमात्म दर्शनसे भिन्न और कोई कल्याण का मार्ग नहीं। "एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयंध्रुवंविजरःपराकाशादयमात्मामहान्ध्रुवः" बृ०४ ४।२० अर्थ—एकही प्रकारसे वह परमात्मा द्रष्टव्य है जो (ध्रुव)एकरस (विजरः) विकार रहित है। "मृत्योःसमृत्युमाप्नोति यइहनानेवपश्यति" कठ०४।११ "असन्नेवसभवति असद्ब्रह्मेतिवेदचेत्" तै० ६।१ इत्यादि अनेक वेदोपनिषदों के वाक्य इस कर्म योग अर्थात् ज्ञानके अनुष्ठानरूप मुक्ति को एकही बतलाते हैं। इसपरमात्माके एकत्व निष्ठभावको छोड़कर शङ्करभाष्यादि भाष्यों में और ही अर्थ किये हैं जो इस प्रकरण

से सङ्गति नहीं रखते, हां इतने अंशमें सङ्गत हैं कि इन्होंने भी एक यथावास्थित बुद्धि को मानकर काम्यकर्मों से स्वर्गादि फलों का खण्डन किया है कि क्रिया विशेषवाली, अध्यासमात्रसे फल देने वाली नाना बुद्धियों का इन्होंने भी बलपूर्वक खण्डन किया है वह इस अग्रिम श्लोक में कहते हैंः-

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।४२

पद०—यां । इमां । पुष्पितां । वाचं । प्रवदन्ति । अविपश्चितः । वेदवादरताः । पार्थ । न । अन्यत् । अस्ति । इति । वादिनः ॥

पदार्थ—(अविपश्चितः) विपश्चित् नाम पण्डित का है जो विपश्चित् नहीं उसको अविपश्चित् कहते हैं, वे अविपश्चित् लोग (यां) जिस (इमां) यह जो, जन्मकर्मफलप्रदां इस वाक्यसे आगे के श्लोक में वर्णनकी जायगी (पुष्पितां) फूलीहुईके समान (वाचं) वाणी को (प्रवदन्ति) कहते हैं, हे पार्थ वह (वेदवादरताः) वेदों के वादमें रतहैं अर्थात् वेदों के अन्यथा अर्थ करनेमें ही रत हैं और वेदों का मर्म नहीं जानते (अन्यत्) इससे भिन्न (न अस्ति) कोई फल नहीं है (इतिवादिनः) ऐसा कथन करने वाले हैं ॥

भाष्य—वेदों के अर्थाभास में रत लोगों का यह विचार है कि सब मनोरथ यज्ञादि काम्यकर्मोंसे ही सिद्धहो जाते हैं किसी अन्यपुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं, जैसेकि किसी एक यज्ञ का फल पुत्र प्राप्ति माना जाता है, किसी का दृष्टि होना, जैसाकि सोमयज्ञकाफल ब्रह्महत्यादि पापों को दूरकरने वाला माना जाता है, एवं कई एक और वेदको न समझने वाले यज्ञोंमें पशुवध मानते हैं, इस प्रकार के वेदवादमें फूलोंके समान इस वाणी को पुष्पित

बनाते हैं पर वास्तव में इसमें कुछ तत्त्व नहीं ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।४३।

पद०—कामात्मानः । स्वर्गपराः । जन्मकर्मफलप्रदां । क्रिया विशेषबहुलां । भोगैश्वर्य्यगतिंप्रति ।

पदार्थ—(कामात्मानः) वह लोग कामात्मा हैं अर्थात् उनकी आत्मा में कामना है (स्वर्गपराः) और वह लोग स्वर्ग को चाहने वाले हैं इस लिये वह ऐसी वाणी की शरण लेते हैं जो (जन्म-कर्मफलप्रदां) जन्मरूपी जो कर्म उसके फल के देने वाली है, फिर वह कैसी है (क्रिया विशेष बहुलां) क्रिया की जो विशेषता उसकी है अधिकता जिसमें अर्थात् व्यर्थ क्रिया की है अधिकता जिसमें (भोगैश्वर्य्यगतिंप्रति) भोग और ऐश्वर्य्य की गति के लिये ऐसी वाणी का आश्रय लेते हैं ॥

भाष्य—कामी लोग अपनी कामनाओं की सिद्धि के लिये नाना प्रकार के अर्थवाद वेद में कल्पना कर लेते हैं कोई कहता है इसके पढ़ने से शत्रु मरजाता है, कोई कहता है इसके करने से राज्य मिल जाता है, इत्यादि अनेक अर्थों की कल्पना करते हुए पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाते हैं, इसलिये ऐसे अर्थवाद से हटाने के लिये कृष्ण जी अर्जुन को आगे के श्लोक में निश्चयात्मिक सत्यबुद्धि का उपदेश करते हैं :—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिकाबुद्धिःसमाधौनविधीयते४४

पद०—भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां । तया । अपहृतचेतसां । व्यव-

सायात्मिका । बुद्धिः । समाधौ । न । विधीयते ।

पदार्थ—(भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां) भोग और ऐश्वर्य्य में जो लगे हुए हैं (तया) उस पुष्पित वाणी से (अपहृत चेतसाम्) हरा गया है मन जिनका, उनकी (व्यवसायात्मिकाबुद्धिः) निश्चय वाली बुद्धि (समाधौ) परमात्मा में नहीं विधान की जाती ॥

भाष्य—जो लोग भोग और ऐश्वर्य्य में लगे हुए हैं और पूर्वोक्त अर्थवाद की बुद्धि से जिनका चित्त हरा गया है अर्थात् स्थिर नहीं, उनकी बुद्धि परमात्मा के एकत्व में कदापि नहीं ठहरती । कभी वह लोग अजन्मा परमात्मा का जन्म वर्णन करते हैं, कभी उसके अनन्तशरीर वर्णन करते हैं, कभी उस निराकार के अनन्त आकार वर्णन करते हैं एवं सदैव उनकी अनिश्चयात्मा बुद्धि उस परमात्मा में रहती है वेद और वैदिक वचन इसका निषेध करते हैं जैसाकि "वेदाहमेतंपुरुषंमहान्तं" इस वेदमंत्रमें परमात्मा के ज्ञान को ही मुक्ति का साधन माना है । "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इहनानेवपश्यति" वृ० ४।४।१९ "सर्वं तंपरादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वंवेद" वृ० ४।५।७ इत्यादि वचनों में यह कथन किया है कि वह मरन से भी मरन को प्राप्त है जो परमात्मा में नानापन देखता है अर्थात् परमात्मा निराकार भी है, साकार भी है, जन्मता भी है, मरता भी है, इत्यादि विरुद्ध धर्मों का जो आश्रय मानता है। इस प्रकार वैदिक और औपनिषद् वचनों में परमात्मा की प्राप्ति के लिये अनिश्चयात्मिक मतिका निषेध किया गया है ॥

सं०—ननु वेद उन उत्तम जिज्ञासुओं का विषय है जो अज्ञानादि दोषों से रहित होते हैं फिर उनमें अर्थाभास की सम्भावना

कैसे ? फिर वेदवादरता क्यों कहा ? उत्तर—

त्रैगुण्यविषयावेदानिस्त्रैगुण्योभवार्जुन।निर्द्वन्द्वोनित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेमआत्मवान्॥४५॥

पद०—त्रैगुण्यविषयाः। वेदाः। निस्त्रैगुण्यः। भव। अर्जुन। निर्द्वन्द्वः। नित्यसत्त्वस्थः। निर्योगक्षेमः। आत्मवान्॥

पदार्थ—तीनों गुणों का जो भाव हो उसको त्रैगुण्य कहते हैं अर्थात् तीनों गुणों वाले जो पुरुष हैं उनका विषय वेद है इस लिये 'त्रैगुण्यविषयाःवेदाः' कहा, हे अर्जुन यह मनुष्य तीनों गुणों का भाव है अर्थात् तीनों गुणों वाला है इसलिये वेदके अर्थाभास में फस जाता है और तु (निस्त्रैगुण्यः) अर्थात् तीनों गुणों से रहित हो (निर्द्वन्द्वः) शीत, ऊष्ण, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि द्वन्द्वों से रहित होजा (नित्यसत्त्वस्थः) सदा सत्व गुण में स्थिर होजा अर्थात् सत्त्वप्रधान होजा (निर्योगक्षेमः) अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति करने को योग कहते हैं, और प्राप्त वस्तु की रक्षा को क्षेम कहते हैं, इस प्रकार का निष्कामकर्म कर कि जिससे अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा की चिन्ता नहो (आत्मवान्) "आत्मा विद्यतेयस्य स आत्मवान्" अर्थात् तुम आत्मिक बल-वान् बनो॥

भाष्य—प्रकृति के तीनों गुणों में जो लोग फसे हुए हैं वह अर्थाभास और अर्थवाद से कदापिं नहीं बच सकते। सत्त्वप्रधान लोग ही वेदार्थ में वेदवाद से बच सकते हैं इस अभिप्राय से "नित्यसत्त्वस्थः" यहशब्दकहा है और जोलोग यह अर्थ करते हैं कि वेद तीनों गुणों वाला है और तुम तीनों गुणों से परे हो जाओ यह अर्थ कदापि सत्य नहीं होसकते, क्योंकि यदि यह

अर्थ सच्चे होते तो "नित्यसत्त्वस्थः" यह न कहा जाता क्योंकि सत्त्व भी तीनों गुणों में से एक गुण है फिर निस्त्रैगुण्य कैसे? इसलिये निस्त्रैगुण्य के अर्थ सत्त्वप्रधान के हैं, अतएव वेदों की न्यूनता इस श्लोक में नहीं, किन्तु सत्त्व की प्रधानता का उपदेश है—इसलिये "यावानर्थउदपाने" यह वक्ष्यमाण श्लोक सङ्गत है। अन्यथा मोक्षार्थ का श्रोत वेद को कदापि वर्णन न किया जाता और नाही विज्ञानी ब्राह्मणको मोक्षार्थं का एकमात्र साधन वेद बतलाया जाता, इस स्थल में वेदों का महत्त्व वर्णन किया गया है जैसाकि:—

यावानर्थउदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥४६॥

पद०—यावान्। अर्थः। उदपाने। सर्वतः। संप्लुतोदके। तावान्। सर्वेषु। वेदेषु। ब्राह्मणस्य। विजानतः॥

पदार्थ—(यावान्) जितना (अर्थः) प्रयोजन (उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके) सब ओर से जल बहने वाली बावड़ी में होता है अर्थात् कोई उसमें से खेती को जल देता है, कोई गौ आदि को पिलाता है, कोई स्वयं पीता है, एवं सर्व प्रयोजन सिद्धि के लिये वह जलाशय पर्य्याप्त होता है (तावान्) उतना ही (सर्वेषु) सब (वेदेषु) वेदों में (विजानतः) विज्ञानी ब्राह्मण को होता है, एवं विज्ञानी ब्राह्मण की दृष्टि में धर्म सम्बन्धि सर्वार्थ की सिद्धि का आकर वेद है। पर उस मोक्षार्थी के लिये मोक्षोपयोगी बातें ही उपादेय हैं॥

सं०—ननु जब विज्ञानी ब्राह्मण के लिये केवल मुक्ति सम्बन्धि साधन ही उपादेय हैं फिर उसे कर्मों से क्या? उत्तर—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।४७

पद०—कर्मणि । एव । अधिकारः । ते । मा । फलेषु । कदाचन । मा । कर्मफलहेतुः । भूः । मा । ते । सङ्गः । अस्तु । अकर्मणि ॥

पदार्थ—(कर्मणि) कर्ममेंही (एव) निश्चयकरके (ते) तुम्हारा (अधिकारः) अधिकार है (माफलेषु) फलों में (कदाचन) कदापि नहीं (माकर्मफलहेतुःभूः) तुम कर्म फलके हेतु मतबनो (ते) तुम्हारा (अकर्मणि) अकर्मों में (सङ्गः) संग (मा अस्तु) मतहो ॥

भाष्य—पूर्वश्लोकमें यह संदेह हुआ था कि विज्ञानी ब्राह्मण के लिये मुक्तिसाधन सम्बन्धि कर्मों से भिन्न अन्य कर्मोंकी आवश्यकता नहीं, इस संदेहकी निवृत्ति के लिये इस श्लोकने यह प्रतिपादन किया कि निष्काम कर्म सदैव करने चाहियें, फलका सङ्कल्प रखकर कर्म नहीं करने चाहियें ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते

पद०—योगस्थः । कुरु । कर्माणि । सङ्गं । त्यक्त्वा । धनंजय । सिद्ध्यसिद्ध्योः । समः । भूत्वा । समत्वं । योगः । उच्यते ॥

पदार्थ—(धनंजय) हे अर्जुन (कर्माणि) कर्मों को (योगस्थः) योग में स्थिर होकर (कुरु) करो (सङ्गंत्यक्त्वा) सङ्गकोछोड़कर (सिद्ध्यसिद्ध्योः) सिद्धिअसिद्धिमें अर्थात् कार्य्य सिद्धहो अथवा न हो, उक्तदोनो दशाओं में (समःभूत्वा) सम होकर जो कार्य्य किया जाता है उसका नाम योगहै, इसलिये कहा है कि (समत्वं योगः उच्यते) उक्तदोनों दशाओंमें सम रहने का नामही योग है ॥

दूरेणह्यवरंकर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।४९

पद०—दूरेण । हि । अवरं । कर्म । बुद्धियोगात् । धनंजय । बुद्धौ । शरणं । अन्विच्छ । कृपणाः । फलहेतवः ॥

पदार्थ—(धनंजय) हे अर्जुन (बुद्धियोगात्) निष्काम कर्म-रूपी योग से (दूरेण) अधिकता करके (हि) निश्चय से (कर्म अवरं) कर्म छोटा है, इस लिये (बुद्धौ) परमात्मारूपी बुद्धि में (शरणं) आश्रय को (अन्विच्छ) ढूंढ़ और (फलहेतवः) फल के हेतु जो सकाम कर्म हैं फिर वह (कृपणाः) कृपण हो जाते हैं अर्थात् फल देने के लिये समर्थ नहीं रहते ॥

भाष्य—जो परमात्मा में निश्चय रखकर निष्काम कर्म करता है उसके आगे सकामकर्म तुच्छ हैं इस श्लोक का मूल भूत यह उपनिषद्वाक्य है:— "**यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरंगार्गिविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैतिसब्राह्मणः**" वृ० ३ । ८ । १०

अर्थ—जो इस अक्षर परमात्मा को न जानकर मरता है वह कृपण है और जो जानकर इस लोक से प्रयाण करता है वह ब्राह्मण है ॥

बुद्धियुक्तोजहातीहउभेसुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।५०

पद०—बुद्धियुक्तः । जहाति । इह । उभे । सुकृतदुष्कृते ।

तस्मात् । योगाय । युज्यस्व । योगः । कर्मसु । कौशलं ॥

पदार्थ—(बुद्धिः) निष्काम कर्मरूप बुद्धि से (युक्तः) युक्त अर्थात् निष्काम कर्म करने वाला पुरुष (उभे) दोनों (सुकृत दुष्कृते) पुण्य और पाप को (जहाति) छोड़ देता है (तस्मात्) इसलिये (योगाय) निष्कामकर्मरूपीयोग के लिये (युज्यस्व) तुम लगो (योगः) योग (कर्मसु) कर्मों में (कौशलं) चतुराई है ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ताहि फलं त्यक्त्वामनीषिणः ।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताःपदंगच्छंत्यनामयम् ५१

पद०—कर्मजं । बुद्धियुक्ताः । हि । फलं । त्यक्त्वा । मनीषिणः । जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः । पदं । गच्छन्ति । अनामयं ॥

पदार्थ—(बुद्धियुक्ताः मनीषिणः) निष्कामकर्मरूप बुद्धियुक्त मनन शील पुरुष (कर्म्मजं फलं त्यक्त्वा) कर्म्म से उत्पन्न होने वाले फल को छोड़कर (अनामयं) रोगरहित (पदं) पदको (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं जैसाकि उपनिषद् में भी लिखा है कि :—"तद्विष्णोःपरमंपदं सदापश्यन्तिसूरयः" अर्थ—उस (विष्णु) व्यापक परमात्मा के परमपद को विद्वान् लोग सदा देखते हैं ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदागंतासिनिर्वेदंश्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।५२

पद०—यदा । ते । मोहकलिलं । बुद्धिः । व्यतितरिष्यति । तदा । गंता । असि । निर्वेदं । श्रोतव्यस्य । श्रुतस्य । च ॥

पदार्थ—(यदा) जब (ते) तुम्हारे (मोहकलिलं) मोहरूपी कलङ्क को (बुद्धिः व्यतितरिष्यति) बुद्धि तैर जायगी (तदा) तब (गंताअसि निर्वेदं) तुम निर्वेद अर्थात् वैराग्य को प्राप्त हो

जाओगे (श्रोतव्यस्य) जो सुनने योग्य है और (श्रुतस्य च) जो कुछ तुमने सुना है अर्थात् जो तुम्हारे स्मृतिपथ में है अथवा आगे को सुनोगे, उन सब वस्तुओं से तुमको वैराग्य हो जावेगा॥

भाष्य—शङ्करमतमें अहंममेदमिति—मैं यह हूं और यह मेरा है इस प्रकार का अध्यास जब निवृत्त हो जायगा तो वैराग्य होगा, एवंविध अध्यास निवृत्तिका नाम वैराग्य शङ्करमत मेंही है, वैदिक मत में नित्यानित्य वस्तुओं के विवेक का नाम वैराग्य है, संसार को मिथ्या मान लेने का नाम वैराग्य नहीं॥

सं०—किस अवस्था में योगकी प्राप्ति होती है अब इस बात को कथन करते हैं:—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचलाबुद्धिस्तदायोगमवाप्स्यसि५३

पद०—श्रुतिविप्रतिपन्ना। ते। यदा। स्थास्यति। निश्चला। समाधौ। अचला। बुद्धिः। तदा। योगं। अवाप्स्यसि॥

पदार्थ—(श्रुतिविप्रतिपन्ना) श्रुतिसे विप्रतिपन्न अर्थात् संशय को प्राप्त (ते) तुम्हारी (यदा) जब (बुद्धिःनिश्चलास्थास्यति-समाधौ) परमात्मा में बुद्धि निश्चल होगी (तदायोगंअवाप्स्यसि) तब तुम योगको प्राप्त होगे॥

भाष्य—इस श्लोक में योग पद भाष्य करने योग्य है स्वामी शं०चा०इसकेयहअर्थ करते हैं कि (योगंअवाप्स्यसि) "**विवेकप्रज्ञासमाधिंप्राप्स्यसि**" अर्थात् विवेकरूपजो बुद्धि है उस को प्राप्त होता है और मधुसूदन स्वामी इसके यह अर्थ करते हैं कि "**योगंजीवपरमात्मैकलक्षणंतत्त्वमस्यादिवा-**

क्यजन्यमखण्डसाक्षात्कारं सर्वयोगफलंअवाप्स्यसि” अर्थ—जीव और परमात्माका एक रूप होजाना जो तत्त्वमसि आदि वाक्यों से अखण्ड का साक्षात्कार है उसका नाम योग है। अखण्डार्थ इनके मतमें यह कहलाता है कि भागत्याग लक्षणा से जैसे कि सोऽयं देवदत्त में पूर्वदेश जिस देशमें उसको देखाथा और एतद्देश छोड़कर देवदत्तकेशरीर मात्रका ग्रहण होता है, एवं जीवकीअल्पज्ञता और ईश्वरकी सर्वज्ञता छोड़कर जो एक चेतनमात्रका ग्रहण किया जाता है इसका नाम अखण्डार्थ है। यह अर्थ मायावादियोंने गीताके आशयसे सर्वथा विरुद्ध कल्पना किये हैं, गीता में योगके अर्थ दूसरी वस्तुके साथ जुड़ने के हैं अर्थात् उसके साथ सम्बन्ध पाना, जैसाकि :—“परंज्योतिरुपसम्पद्यस्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते” छा०८।३।४ अर्थ—उस परं ज्योति परमात्मा को पाकर अपने स्वरूपसे जीव स्थिर होता है। इस प्रकारकी स्थिरताकेलिये यहांयोग शब्दआया है देखो:—“योगयुक्तात्मा” गी०६।२९ “योगवित्तमा” गी०१२।१ “योगसंज्ञितं” गी०६।२३ “योगसन्यस्तकर्माणं” गी०४।४१ “योगसंसिद्धः” गी०४।३८ ‘योगसंसिद्धिं’ गी०६।३७ “योगसेवया” गी०६।२० ‘योगस्थः’ गी०२।४८ “योगस्य” गी०६।४४ “योगं” गी० २।५३ इत्यादि अनेक स्थानों में योग शब्द के अर्थ अन्यवस्तु के साथ युक्त होने के ही हैं। फिर गीतामें योग शब्द के अर्थ जीवब्रह्म की एकताके कैसे हो सकते हैं ?

ननु जीव ब्रह्म की एकता भी तो एक प्रकार का योगही है

फिर योगशब्दका प्रयोग इसमें क्योंनहीं आता ? उत्तर—जीव ब्रह्म की एकताको अद्वैत मतमें योग इसलिये नहीं कहा जासक्ता कि अद्वैतमत में जीवका जीव भाव मिटकर ब्रह्मके साथ एकता होती है, इसलिये इसको योग नहीं कह सक्ते, प्रत्युत आत्म विनाश कह सक्ते हैं और यदि योग से यहां तात्पर्य्य जीव ब्रह्मके ऐक्य से होता तो इससे आगे स्थिर प्रज्ञा वाले पुरुष का लक्षण न पूछा जाता, इस प्रष्टव्य से पाया जाता है कि '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' यो०१।१।२ इस योग सूत्रके अनुकूल योग से यहां तात्पर्य्य चित्तवृत्ति निरोध का है जीव ब्रह्मकी एकता का नहीं। इसीलिये अर्जुन ने निम्नलिखित प्रश्न पूछा है कि :—

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीतव्रजेत किम्

पद०—स्थितप्रज्ञस्य । का । भाषा । समाधिस्थस्य । केशव । स्थितधीः । किं । प्रभाषेत । किं । आसीत । व्रजेत । किं ॥

पदार्थ—(केशव) हे कृष्ण (स्थितप्रज्ञस्य) जिसकी बुद्धि उक्त प्रकार से स्थिर है ऐसे (समाधिस्थस्य) समाधि में स्थिर पुरुषका (भाषा) लक्षण (का) क्या है (स्थितधीः) जिसकी स्थिर बुद्धि है, (किंप्रभाषेत) वह क्या बोलता है (किंआसीत) और किस प्रकार स्थिरता करके इन्द्रियों का निरोध करता है (किंव्रजेत) और इन्द्रियों के किन २ विषयों को ग्रहण करता है ?

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मनातुष्टःस्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

पद०—प्रजहाति । यदा । कामान् । सर्वान् । पार्थ । मनोगतान् । आत्मनि । एव । आत्मना । तुष्टः । स्थितप्रज्ञः । तदा । उच्यते ॥

पदार्थ—हे पार्थ (कामान्) चित्तके सङ्कल्पादिकों को (मनोगतान्) जो मनकेभीतर तक पहुचगएहैं उनको (यदा) जब (प्रजहाति) त्यागदेता है और जब (आत्मनिएव) आत्मामेंही (आत्मना) अपने आप करके (तुष्टः) प्रसन्न होता है (स्थितप्रज्ञः) स्थितप्रज्ञा वाला (तदाउच्यते) तब कहा जाता है ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।५६

दुःखेषु ।अनुद्विग्नमनाः। सुखेषु । विगतस्पृहः।वीतरागभयक्रोधः। स्थितधीः । मुनिः । उच्यते ॥

पदार्थ—और बात यह है कि (स्थितधीः) स्थिरबुद्धि वाला (मुनिः) मुनि (उच्यते) वह कहा जाता है जो (दुःखेषुअनुद्विग्नमनाः) जो दुःखों में उदासीनतावाले मनवाला न हो अर्थात्दुःख को तितिक्षा से सहारे और (सुखेषु) सुखों में (विगतस्पृहः) जिस की इच्छा दूर होगई हो अर्थात् सुखकीभीइच्छा न करे (वीतराग भयक्रोधः) जिसकी (राग) विषयों में प्रीति और (भय) उन विषयों के नाश होजानें से भीति और (क्रोधः) जब उन विषयों के हरण के लिये कोई और आ उपस्थित हो तो उसपर चित्तका अत्यन्तरुष्ट होजाना, उक्त राग, भय, क्रोधादिकों से रहित जो स्थिर बुद्धि पुरुष है वह मुनि कहा जाता है ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।५७

पद०—यः । सर्वत्र । अनभिस्नेहः । तत् । तत् । प्राप्य । शुभाशुभं । न । अभिनन्दति । न । द्वेष्टि । तस्य । प्रज्ञा । प्रतिष्ठिता ॥

पदार्थ—(यः) जो (सर्वत्र) सब स्थानोंमें (तत् तत्प्राप्य) तिस२ प्रियाप्रिय विषय को प्राप्त होकर (अनभिस्नेहः) प्रेम नहीं रखता (नअभिनन्दति) न प्रसन्न होता है (नद्वेष्टि) न द्वेष करता है (तस्य प्रज्ञा) उसकी बुद्धि (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित अर्थात् स्थिर होती है

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ५८

पद०—यदा । संहरते । च । अयं । कूर्मः । अङ्गानी । इव । सर्वशः । इन्द्रियाणि । इन्द्रियार्थेभ्यः । तस्य । प्रज्ञा । प्रतिष्ठिता॥

पदार्थ—(अयं) योगी (यदा) जब (कूर्मअङ्गानीइव) कछुएके अंगों के समान (इन्द्रियार्थेभ्यः) इन्द्रियोंके अर्थों से (इन्द्रियाणि) इंद्रियों को (सर्वशः) सब शब्दादि विषयों से (संहरते) संहार कर लेता है अर्थात् रोक लेता है (तस्यप्रज्ञा प्रतिष्ठिता) उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है ॥

विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥५९॥

पद०—विषयाः । विनिवर्तन्ते । निराहारस्य । देहिनः । रस-वर्जं । रसः । अपि । अस्य । परं । दृष्ट्वा । निवर्त्तते ॥

पदार्थ—(निराहारस्य देहिनः) विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध न करते हुए भी इस जीवात्मा के (विषयाः) विषय

(विनिवर्तन्ते) निवृत्त होजाते हैं, पर वह विषय (रसवर्जं) रस की तृष्णा छोड़कर निवृत्त होते हैं अर्थात् जब उसकी इन्द्रियों का विषय के साथ सम्बन्ध नहीं उस समय उसको विषयों के रस का विचार बना रहता है इस लिये "रसवर्जं" यह कहा। (रसः अपि अस्य) रस भी इसका (परंदृष्ट्वा) परको देखकर (निवर्त्तते) निवृत्त होजाता है अर्थात् परमात्म ज्ञान के होने पर उसको विषयों में रस प्रतीत नहीं होता ॥

यततोह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः। इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः।६०

पद०—यततः। हि। अपि। कौन्तेय। पुरुषस्य। विपश्चितः। इन्द्रियाणि। प्रमाथीनि। हरन्ति। प्रसभं। मनः॥

पदार्थ—हे कौन्तेय (यततः हि अपि) यत्न करते हुए भी (पुरुषस्यविपश्चितः) विज्ञानी पुरुष के भी (मनः) मनको (प्रसभं) बलात्कार से (प्रमाथीनि इन्द्रियाणि) प्रमथनशील इन्द्रिय (हरन्ति) हर लेते हैं अर्थात् इन्द्रिय ऐसे प्रमाथी हैं कि सदैव उद्वेगवाले रहते हैं इसलिये मनको वह बलात्कार से हरलेते हैं। इसका उपाय आगे के श्लोक में बतलाया जाता है :—

तानि सर्वाणिसंयम्ययुक्तआसीतमत्परः।वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्यप्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६१॥

पद०—तानि। सर्वाणि। संयम्य। युक्तः। आसीत। मत्परः। वशे। हि। यस्य। इन्द्रियाणि। तस्य। प्रज्ञा। प्रतिष्ठिता॥

पदार्थ—(तानिसर्वाणि) उन सब इन्द्रियों का (संयम्य) संयम करके (युक्तः) जो समाहित अर्थात् निग्रहीत मन वाला

(आसीत) है (मत्परः) मेरे मन्तव्य को मानने वाला है और (वशेहियस्यइन्द्रियाणि) जिसकी इन्द्रिय वशीभूत हैं (तस्यप्रज्ञा) उसकी बुद्धि (प्रतिष्ठिता) स्थिर होती है ॥

ध्यायतोविषयान्पुंसःसंगस्तेषूपजायते।संगात्संजायतेकामः कामात्क्रोधोऽभिजायते। ६२

पद०—ध्यायतः । विषयान् । पुंसः । सङ्गः । तेषु । उपजायते । सङ्गात् । संजायते । कामः । कामात् । क्रोधः । अभिजायते ॥

पदार्थ—(विषयान्) विषयों का (ध्यायतः) ध्यान करते हुए (पुंसः) पुरुष का (तेषु) उनमें (सङ्गः, उपजायते) सङ्ग होता है (सङ्गात्) सङ्ग से (कामः) काम (संजायते) उत्पन्न होता है और (कामात्) काम से (क्रोधः) क्रोध (अभिजायते) उत्पन्न होता है ॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशोबुद्धिनाशात्प्रणश्यति।

पद०—क्रोधात् । भवति । संमोहः । संमोहात् । स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशात् । बुद्धिनाशः । बुद्धिनाशात् । प्रणश्यति ॥

पदार्थ—(क्रोधात्) क्रोध से (संमोहः) मोह (भवति) होता है (संमोहात्) मोह से (स्मृतिविभ्रमः) स्मृति का भूल जाना (स्मृतिभ्रंशात्) स्मृति के भूलने से (बुद्धिनाशः) बुद्धिका नाश (बुद्धिनाशात्) बुद्धि के नाश से प्रणश्यति नाम मनुष्य नाशको प्राप्त हो जाता है ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन् ।आ-

त्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।६४।

पद०—रागद्वेषवियुक्तैः। तु। विषयान्। इन्द्रियैः। चरन्। आत्मवश्यैः। विधेयात्मा। प्रसादं। अधिगच्छति॥

पदार्थ—(रागद्वेषवियुक्तैः इन्द्रियैः) रागद्वेष से वियुक्त इन्द्रियों से (विषयान्चरन्) जो विषयों को भोगता है और वह कैसे इन्द्रिय हैं जो (आत्मवश्यैः) अपने वशीभूत हैं, ऐसा (विधेयात्मा) अर्थात् वशीकृत मन वाला पुरुष (प्रसादंअधिगच्छति) प्रसन्नता को प्राप्त होता है॥

सं०—ननु चित्त के प्रसाद से क्या लाभ होता है? उत्तर—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥६५॥

पद०—प्रसादे। सर्वदुःखानां। हानिः। अस्य। उपजायते। प्रसन्नचेतसः। हि। आशु। बुद्धिः। पर्यवतिष्ठते॥

पदार्थ—(प्रसादे) चित्तके प्रसन्न होने पर (अस्य) इस जीवात्मा के (सर्वदुखानां) सब दुखोंकी (हानिउपजायते) हानिहोती है (प्रसन्नचेतसः) प्रसन्न चित्तवाले की (हि) निश्चय करके (आशु) शीघ्र बुद्धि (पर्यवतिष्ठते) स्थिर होती है॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्यनचायुक्तस्यभावना।न
चाभावयतःशांतिरशांतस्यकुतःसुखम्।६६।

पद०—न। अस्ति। बुद्धिः। अयुक्तस्य। न। च। अयुक्तस्य। भावना। न। च। अभावयतः। शान्तिः। अशान्तस्य। कुतः। सुखं॥

पदार्थ—(अयुक्तस्य) जो वशीभूत मनवाला नहीं है उसकी

(बुद्धिः) बुद्धि (न अस्ति) नहीं होती (न च अयुक्तस्य) और ना ही अयुक्तपुरुषकी (भावना) निदिध्यासनरूप चित्तकी वृत्तिहोती है (च) और (अभावयतः) विना भावना वालेको (शान्तिः) शान्ति नहीं होती और (अशान्तस्य) अशान्तको (सुखंकुतः) सुख कहां ॥

सं०—अयुक्तको बुद्धि क्योंनहींहोती इसकावर्णनआगेकरतेहैं:—

इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि॥६७॥

पद०—इन्द्रियाणां । हि । चरतां । यत् । मनः । अनुविधीयते । तत् । अस्य । हरति । प्रज्ञां । वायुः । नावं । इव । अम्भसि ॥

पदार्थ—(इन्द्रियाणां) इन्द्रियोंके (चरतां) विचरते हुए (यत्) जो (मनः) मन (अनुविधीयते) उनके पीछे छोड़ दिया जाता है (तत्) वहमन (अस्य) इसकी (प्रज्ञां) बुद्धिको (हरति) हरलेताहै (इव) जैसे कि (वायुः) वायु (अम्भसि) समुद्र में (नावं) नौका को हरलेता है ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ६८

पद०—तस्मात् । यस्य । महाबाहो । निगृहीतानि । सर्वशः । इन्द्रियाणि । इन्द्रियार्थेभ्यः । तस्य । प्रज्ञा । प्रतिष्ठिता ॥

पदार्थ—(महाबाहो) हे बड़े बलवाले अर्जुन (तस्मात्) इस लिये (यस्यइन्द्रियाणि) जिस पुरुष के इन्द्रिय (इन्द्रियार्थेभ्यः) इन्द्रियों के विषयों से (सर्वशः निगृहीतानि) सब ओरसे रुके हुए हैं (तस्यप्रज्ञा) उसकी बुद्धि (प्रतिष्ठिता) स्थिर होती है ॥

यानिशासर्वभूतानांतस्यांजागर्त्तिसंयमी। यस्यांजाग्रतिभूतानि सानिशापश्यतोमुनेः ६९

पद०—या। निशा। सर्वभूतानां। तस्यां। जागर्त्ति। संयमी। यस्यां। जाग्रति। भूतानि। सा। निशा। पश्यतः। मुनेः॥

पदार्थ—(सर्वभूतानां) सब प्राणियोंकी (यानिशा) जो रात्रि है (तस्यां) उसमें (संयमीजागर्त्ति) संयमी जागता है और (यस्यां जाग्रतिभूतानि) जिसमें और प्राणी जागते हैं (पश्यतः मुनेः) मनन शीलपुरुषके लिये (सानिशा) वह रात्रि है॥

भाष्य—इस श्लोकका आशय यह है कि जिन सांसारिक विषयों में लगे हुए संसारी लोग जागते हैं उनमें संयमीजितेन्द्रिय पुरुष सोताहै और जिनमें संयमी जागता है अर्थात् शमदम सम्पन्न है, उनमें संसारी लोग सोते हैं। इस श्लोक में स्पष्टरीति से शम दमादि साधनों का विधान किया है और मायावादियोंने इसके यह अर्थ किये हैं कि जो अपने आपको ब्रह्मजानता है वह जागता है और जो अपने आपको ब्रह्म नहीं जानता वह सोता है। यह अर्थ श्लोक के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं, क्योंकि:—

"ध्यायतोविषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते" गी: २।६२

इत्यादि श्लोकों से स्पष्ट है कि यहां चित्तवृत्तिका निरोध कथनकिया गया है न कि स्वयंब्रह्मबनकर जागना औरअन्यथा सोना। यदि ऐसा होता तो आगेके श्लोक में इस प्रकारकी निश्चलता न वर्णन की जाती जैसाकि:—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्।

तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे
स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

पद०—आपूर्यमाणं। अचलप्रतिष्ठं। समुद्रं। आपः। प्रविशन्ति। यद्वत्। तद्वत्। कामाः। यं। प्रविशन्ति। सर्वे। सः। शान्ति। आप्नोति। न। कामकामी॥

पदार्थ—(समुद्रं) समुद्रको (आपः) जल (यद्वत्) जिस प्रकार (प्रविशन्ति) प्रवेश करतेहैं, वह कैसासमुद्र है (आपूर्यमाणं अचल प्रतिष्ठं) सब ओरसे भरा हुआ है जिसकी अचलप्रतिष्ठा है अर्थात् जो अपनी मर्यादाको उल्लङ्घन नहीं करता (तद्वत्) उसके समान (कामा) कामनायें (यंप्रविशन्ति) जिसकोप्रवेशकरती हैं (सशान्तिआप्नोति) वह शान्तिको प्राप्त होता है (न कामकामी) काम की कामना करने वाला शान्ति को नहीं प्राप्त होता॥

विहायकामान् यः सर्वान्पुमांश्चरतिनिःस्पृहः।
निर्ममोनिरहंकारःसशांतिमधिगच्छति।७१।

पद०—विहाय। कामान्। यः। सर्वान्। पुमान्। चरति। निःस्पृहः। निर्ममः। निरहंकारः। सः। शान्ति। अधिगच्छति॥

पदार्थ—(यःपुमान्) जो मनुष्य (सर्वान्कामान् विहाय) सब कामनाओं को छोड़कर (निःस्पृहः) निरिच्छित होकर (चरति) विचरता है (निर्ममः) बिना ममतावालाऔर (निरहंकारः) अहंकारसे रहित (सशान्तिअधिगच्छति) वह शान्तिको प्राप्तहोता है

एषाब्राह्मीस्थितिः पार्थ नैनांप्राप्यविमुह्यति।

स्थित्वास्यामंतकालेऽपिब्रह्मनिर्वाणमृच्छति

पद०—एषा । ब्राह्मी । स्थितिः । पार्थ । न । एनां । प्राप्य । विमुह्यति । स्थित्वा । अस्यां । अंतकाले । अपि । ब्रह्मनिर्वाणं । ऋच्छति ॥

पदार्थ—हे पार्थ (एषाब्राह्मीस्थितिः) यह ब्रह्म विषयणी स्थिति है (एनांप्राप्य) इसको प्राप्त होकर (न विमुह्यति) कोई मोह को प्राप्त नहीं होता (स्थित्वाअस्यां अंतकाले अपि) इसमें अंतकाल में भी स्थिर होकर (ब्रह्मनिर्वाणं) ब्रह्म में जो गति है अर्थात् तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति है उसको (ऋच्छति) प्राप्त होता है।

स्वामी शं० चा० इसका यह भाष्य करते हैं कि:-"**एषाय-थोक्ताब्राह्मीब्रह्मणिभवेयंस्थितिः सर्वंकर्मसंन्यस्य ब्रह्मरूपेणैवावस्थानमित्येतत् । हेपार्थनैनांस्थितिं प्राप्यलब्ध्वा न विमुह्यति न मोहंप्राप्नोति**" अर्थ— यह जो पूर्वोक्त ब्रह्म विषयक स्थिति कथनकी गई है वह सबकर्मों को छोड़कर ब्रह्मरूप से स्थिर होने का नाम ब्राह्मी स्थिति है।

एवं विध ब्रह्म बन जाना इस श्लोक में कथन नहीं किया गया, यदि एवं विध ब्रह्म बन जाना इस श्लोक का आशय होता तो पूर्व श्लोक में सर्व कामनाओं को छोड़ने से जो शान्ति कथन की गई है उसकी सङ्गति इसके साथ न मिलती और नाहीं इन्द्रियों के निरोध से शान्ति का कथन किया जाता। इन्द्रियों के निरोध से शान्ति का कथन करना इस बात को सिद्ध करता है कि नि-ष्कर्मता से ब्रह्म बनने का कथन इस अध्याय में नहीं किन्तु पर-

मात्मा के गुणों के धारण करने से जो तद्धर्मतापत्तिरूप ब्रह्म में स्थिति है उसका नाम यहां ब्राह्मी स्थिति है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिवद्धे श्री मद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्य भाष्येसांख्ययोगोनाम द्वितीयोऽध्यायः॥

—o—
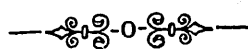
अथ

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

सं०-ननु, "विहायकामान् यःसर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः" गी०२।७१ "प्रजहातियदाकामान् सर्वान्पार्थमनोगतान्" गी० २।५५ इत्यादि गीता के श्लोकों में निष्कामता का महत्व वर्णन किया गया है और "वेदाहमेतं पुरुषंमहान्तमादित्यवर्णंतमसः परस्तात्" यजु० ३१।१८ "नायमात्माप्रवचनेनलभ्यो न मेधया न वहुनाश्रुतेन" कठ० ६।२३ इत्यादि वेदोपनिषदों में भी यह पाया जाता है कि केवल ज्ञान से मुक्ति होती है, फिर कर्म की क्या आवश्यकता है? फिर "नेहाभिक्रमनाशोऽस्तिप्रत्यवायो न विद्यते" गी० २।४० इत्यादिकों में जो कर्मयोग का कथन किया गया है उसका क्या फल? अर्थात् केवल ज्ञान से ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, की प्राप्ति हो सकती है फिर कर्मों

के करने से क्या प्रयोजन ? इस आक्षेप सङ्गति से सांख्ययोग के अनन्तर यह कर्मयोगाध्याय प्रारंभ किया जाता है ॥

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्द्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।१

पद०—ज्यायसी । चेत् । कर्मणः । ते । मता । बुद्धिः । जनार्द्दन । तत् । किं । कर्मणि । घोरे । मां । नियोजयसि । केशव ॥

पदार्थ—"सर्वैर्जनैरर्द्यते याच्यते इतिजनार्द्दनः" जो सब जनों से प्रार्थना किया जाय उसका नाम जनार्द्दन है। (जनार्द्दन) हे कृष्ण (चेत्) यदि (ते) तुमको (कर्मणः) कर्मों से (ज्यायसी) बड़ी (बुद्धिः मता) और कोई बुद्धि प्रतीत होती है (तत्) तो फिर (घोरेकर्मणिमां) घोर कर्मों में मुझे (किंनियोजयसि) क्यों जोड़ते हो, अर्थात् "विहायकामान् यः सर्वान्" इत्यादि श्लोकों में जो कामनाओं का त्याग कथन किया है उससे विरुद्ध "युद्धाद्धिमरणंश्रेयः" इत्यादि कर्मों में मुझे क्यों फसाते हो ?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकंवदनिश्चित्य येनश्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।२

पद०—व्यामिश्रेण । इव । वाक्येन । बुद्धिं । मोहयसि । इव । मे । तत् । एकं । वद । निश्चित्य । येन । श्रेयः । अहं । आप्नुयां ॥

पदार्थ—(व्यामिश्रेण) मिले हुए (वाक्येन) वाक्य से (मे)

मेरी (बुद्धिं) बुद्धि को (मोहयसि इव) मोह के समान कर रहे हो (तत्) इस लिये (एकंवदनिश्चित्य) निश्चय करके एक बात कहो (येन) जिससे (अहं) मैं (श्रेयः) कल्याण को (प्राप्नुयां) प्राप्त होऊं ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

पद०—लोके। अस्मिन्। द्विविधा। निष्ठा। पुरा। प्रोक्ता। मया। अनघ। ज्ञानयोगेन। सांख्यानां। कर्मयोगेन। योगिनां॥

पदार्थ—(अनघ) हे निष्पाप (अस्मिन्लोके) इसलोक में (द्विविधानिष्ठा) दो प्रकार का निश्चय (पुरा मया प्रोक्ता) प्रथम मैने कहा है (ज्ञानयोगेन सांख्यानां) जो सदसद् निवेचन करनेवाले सांख्य लोग हैं उनकी ज्ञानयोग से निष्ठा कथन की है और (कर्मयोगेन) कर्म योग से (योगिनां) योगियों की निष्ठा कथन की है। कर्मों के करने में और युक्ति यह भी है कि:—

न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥४

पद०—न। कर्मणां। अनारम्भात्। नैष्कर्म्यं। पुरुषः। अश्नुते। न। च। संन्यसनात्। एव। सिद्धिं। समधिगच्छति॥

पदार्थ—(कर्मणां) कर्मोंके (अनारम्भात्) आरम्भ करने से विना (नैष्कर्म्यं) निष्कर्मता को (पुरुषः) पुरुष (न अश्नुते) नहीं पासकता (न च) और न (संन्यसनातएव) संन्याससेही (सिद्धिं) सिद्धिको (समधिगच्छति) प्राप्त हो सकता है॥

भाष्य—संन्यासीभी तभी कहला सक्ता है किजब प्रथम काम करके फिर उसका त्याग करता है। त्यागमात्रसे कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं होता किन्तु उस काममें निपुण होकर फिर उसके फल की इच्छा न करके सिद्धि को प्राप्त होता है ॥

सं०—कर्मके करने में और युक्ति यह दी जाती है:-

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५ ॥

पद०—न। हि। काश्चित्। क्षणं। अपि। जातु। तिष्ठति। अकर्मकृत्। कार्यते। हि। अवशः। कर्म। सर्वः। प्रकृतिजैः। गुणैः॥

पदार्थ—(जातु) कदाचित् (कश्चित्) कोईएक (क्षणंअपि) क्षण भर भी (अकर्मकृत न हि तिष्ठति) कर्मसे विनानहीं रह सक्ता (प्रकृतिजैःगुणैः) प्रकृतिसे उत्पन्न हुएजो सत्व, रज, तम, आदि गुण हैं उनसे (कार्यते हि अवशः कर्म) कर्म अवश्य कराया जाता है॥

भाष्य—प्रकृति के जो उक्त गुण हैं उनका अवश्य कर्मों की ओर प्रवाह होता है इसलिये पुरुष निष्कर्म कदापि नहीं होसक्ता और जो उनका बनावटी निरोध करके मनसे कर्म करतेरहते हैं वह मिथ्याचारी हैं। इसबात को यह आगे का श्लोक वर्णन करताहै:-

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इंद्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारःसउच्यते६

पद० —कर्मेन्द्रियाणि। संयम्य। यः। आस्ते। मनसा। स्मरन्। इन्द्रियार्थान्। विमूढात्मा। मिथ्याचारः। सः। उच्यते॥

पदार्थ—(कर्मेन्द्रियाणी) हस्तपदादि कर्मेन्द्रियोंको (संयम्य) रोककर (यः) जो (आस्ते) स्थिर होता है (मनसाइन्द्रियार्थान्

मनसे इन्द्रियों के अर्थोंको (स्मरन्) स्मरण करता हुआ, ऐसा (विमूढात्मा) मोह से मूढ़ आत्मा (मिथ्याचारः सः उच्यते) मिथ्या आचारवाला कहाजाता है। इससे पायागया कि कर्मों का करना आवश्यक है क्योंकि शरीरधारी कदापि निष्कर्म नहीं हो सकता॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥७

पद०—यः। तु। इन्द्रियाणि। मनसा। नियम्य। आरभते। अर्जुन। कर्मेन्द्रियैः। कर्मयोगं। असक्तः। स। विशिष्यते॥

पदार्थ—हे अर्जुन (यः तु) जो तो (इन्द्रियाणि मनसा नियम्य) इन्द्रियों को मनसे रोककर (असक्तः) कर्मोंके बन्धनको प्राप्त न होता हुआ (कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं आरभते) कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आरम्भ करता है (स विशिष्यते) वह सबसे विशेष गिना जाता है॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८

पद०—नियतं। कुरु। कर्म। त्वं। कर्म। ज्यायः। हि। अकर्मणः। शरीरयात्रा। अपि। च। ते। न। प्रसिद्ध्येत्। अकर्मणः॥

पदार्थ—(त्वं) तुम (हि) निश्चय करके (नियतं कुरु कर्म) कर्म को नियम पूर्वक करो (अकर्मणः) काम न करनेसे (कर्मज्यायः) कर्म करना श्रेष्ठ है (च) और (ते अकर्मणः शरीरयात्रा अपि) तुम्हारे कर्म न करने से तुम्हारी शरीर यात्रा भी (न प्रसिद्ध्येत्) सिद्ध नहीं होगी॥

भाष्य—कर्म को ज्ञान निष्ठा से अधिक बोधन करनेके लिये

ऐसा कथन किया गया है,यदिसब कर्म छोड़कर केवल ज्ञान निष्ठा ही श्रेष्ठ होती तो केवल ज्ञान से मनुष्य की शरीरयात्राभी सिद्ध हो जाती पर ऐसानहीं होता, इसलिये कर्मोंका करना आवश्यक है, और बात यह है कि कर्म बन्धनका हेतु यज्ञादिकर्मोंसे अन्यत्र होते हैं और जो यज्ञार्थ कर्म किये जाते हैं वह बन्धनका हेतु नहीं होते, इस बातको नीचे के श्लोक में कथन करते हैं:-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

पद०—यज्ञार्थात् । कर्मणः । अन्यत्र । लोकः । अयं । कर्म बन्धनः । तदर्थं । कर्म । कौन्तेय । मुक्तसङ्गः । समाचर ॥

पदार्थ—(यज्ञार्थात्कर्मणः) यज्ञके निमित्तजो कर्म किये जाते हैं उनसे (अन्यत्र) भिन्न (अयंलोकः) यह कर्मोंका अधिकारीजन (कर्मबन्धनः) कर्मों के बन्धनवाला होता है (कौन्तेय) हे अर्जुन (तदर्थं) यज्ञके अर्थ (मुक्तसङ्गः) कर्मोंका सङ्गछोड़कर(कर्म समाचर) कर्मों को कर अर्थात् निष्कामकर्म कर ॥

सं०—अब और प्रमाणसे कर्मोंका करना श्रेष्ठकथनकरते हैं:-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।

पद०—सहयज्ञाः । प्रजाः । सृष्ट्वा । पुरा। उवाच।प्रजापतिः। अनेन । प्रसविष्यध्वं । एषः । वः । अस्तु । इष्टकामधुक् ॥

पदार्थ—(सहयज्ञाः) यज्ञके साथ (प्रजाःसृष्ट्वा) प्रजाको रच कर (पुरा) पूर्वकाल में (प्रजापतिः उवाच) प्रजापति बोला (अनेन)

इस यज्ञसे (प्रसविष्यध्वं) तुमबढ़ो अर्थात् फैलो (एषः) यह यज्ञ (वः) तुम्हारे को (इष्टकामधुक्) इष्टकामों के देने वाला हो ॥

भाष्य—प्रजापति से आशय यहां ईश्वर का है जब ईश्वर ने सृष्टि रची तो यज्ञ के साथ रची, और उस सृष्टि को रचके यह कहा कि तुम इस यज्ञ से बढ़ो, यह कहना उपचार से है जिससे आशय उसकी आज्ञा का है जैसाकि यजुर्वेद के इस मंत्र से पाया जाता है:— यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत । वसन्तोऽस्यासीदाज्यंग्रीष्मइध्मः शरद्धविः ॥ यजु० ३१ । १४ अर्थ—जब परमात्मा के साथ देवताओं ने यज्ञ किया तब वसन्त उस यज्ञ का आज्य था और ग्रीष्म उसका जलाने का साधन था और शरदकाल उसका हवि था, जैसे प्रकृतिरूपी यज्ञ की सामग्री यहां उपचार से वर्णन की गई है इसी प्रकार गीता में सृष्टि के साथ यज्ञ को उत्पन्न करना उपचार से वर्णन किया है । उपचार उसको कहते हैं जो मुख्य न हो अर्थात् अलंकार हो जैसेकि नदी के बढ़ने से यह कहा जाता है कि नदी डुबाना चाहती है, इच्छा करना जड़ नदी में नहीं है केवल अलङ्कार से कहा गया है । इसको उपचार कहते हैं ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयंतु वः । परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

पद०—देवान् । भावयत । अनेन । ते । देवाः । भावयन्तु । वः । परस्परं । भावयन्तः । श्रेयः । परं । अवाप्स्यथ ॥

पदार्थ—(अनेन) इस यज्ञ से (देवान्) विद्वानों को (भावयत) बढ़ाओ, और (ते देवा) वे विद्वान् (वः) तुमको (भावयन्तु)

बढ़ावें (परस्परं भावयन्तः) इस प्रकार एक दूसरे को बढ़ाते हुए (श्रेयः परं अवाप्स्यथ) परमश्रेय अर्थात् कल्याणको प्राप्त होगे ॥

भाष्य—दिव्यतीतिदेवः— इस व्युत्पत्ति से देव शब्द के अर्थ यहां विद्वान् आचार्य्य आदिकों के हैं जैसा कि :— "आचार्य्य देवो भव" इत्यादि वाक्यों में पाए जाते हैं। इस श्लोक में देवशब्द के अर्थ आचार्य्यादि के ही हो सकते हैं किसी जड़ सूर्य्यादि देव अथवा अप्रसिद्ध इन्द्रादि देवों के कदापि नहीं, क्योंकि इसमें यह कथन किया गया है कि यज्ञ से तुम देवों को बढ़ाओ और देव प्रसन्न हुए तुमको बढ़ावें। यह कथन इस बात को सिद्ध करता है कि यज्ञ से तुम आचार्य्यादि विद्वान् देवों की प्रसन्नता उपलब्ध करो और वह प्रसन्न होकर तुमको बढ़ावें। एवं विध परस्पर की सहायता से यहां देवशब्द से विद्वानों का ही तात्पर्य्य है। शङ्कराचार्य्यादि भाष्यकारों ने यहां अप्रसिद्ध इन्द्रादि देव लिये हैं जो सङ्गत प्रतीत नहीं होते, क्यों कि इन श्लोकों में देवऋण चुका देने का प्रकार कथन किया गया है ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यंते यज्ञभाविताः। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः। १२

पद०—इष्टान्। भोगान्। हि। वः। देवाः। दास्यन्ते। यज्ञभाविताः। तैः। दत्तान्। अप्रदाय। एभ्यः। यः। भुङ्क्ते। स्तेनः। एव। सः॥

पदार्थ—(यज्ञभाविताः देवाः) यज्ञ से प्रसन्न किये हुए देव (वः) तुमको (इष्टान् भोगान् हि दास्यन्ते) इष्टभोग ही देंगे (तैः

दत्तान) उनके दिये हुए भोगों को (एभ्यः अप्रदाय) इनको न देकर (यः भुङ्क्ते) जो भोगता है (सः) वह (स्तेन एव)चोर ही है ॥

भाष्य—(देव) विद्वान् लोग जब यज्ञ से प्रसन्न किये जाते हैं तो इष्टभोगों को देते हैं अर्थात् विद्वानों की कृपा से ही मनुष्यों को इष्टभोग मिलते हैं और वह निष्काम कर्मादि यज्ञों से प्रसन्न होते हैं और जो लोग उनकी प्रसन्नता से बिना अर्थात् देवऋण चुकाने के बिना अपने आप भोग करते हैं वह चोर हैं ॥

यज्ञशिष्टाशिनः संतो मुच्यंते सर्वकिल्बिषैः। भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात्।१३

पद०—यज्ञशिष्टाशिनः । सन्तः । मुच्यन्ते । सर्वकिल्बिषैः । भुञ्जते । ते । तु । अघं । पापाः । ये । पचन्ति । आत्मकारणात् ॥

पदार्थ—(यज्ञशिष्टाशिनः) यज्ञ के शेष का भोजन करने वाले (सन्तः) सत्पुरुष (सर्वकिल्बिषैः मुच्यन्ते) सब पापों से छूट जाते हैं (ते पापाः) वह पापीलोग (अघं भुञ्जते) पाप का भोजन करते हैं (ये पचन्ति आत्मकारणात्) जो अपने ही लिये पकाते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में जो लोग देवऋण नहीं चुकाते उनको पापी कथन किया गया है । जो लोग केवल अपने लिये ही द्रव्योपार्जन करते हैं और (देव) विद्वानों की सेवा नहीं करते वह पाप का ही भोजन करते हैं ॥

इस श्लोकसे स्पष्ट पाया गया कि उक्त श्लोक देवऋण चुकाने का वर्णन करते हैं, यदि पौराणिक इन्द्रादि देवोंका इनमें कथन होता तो यज्ञका शेष भोजन करने से क्या तात्पर्य ? हमारे मत में तो यज्ञ शेष के अर्थ यह हैं कि विद्वानों को भोजन कराने के

पश्चात् जो शेष बच जाता है उसका नाम यज्ञशेष है ॥

अब इसके अनन्तर यज्ञका महत्व वर्णन करते हैं :—

अन्नाद्भवंति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४

पद०—अन्नात् । भवंति । भूतानि । पर्जन्यात् । अन्नसंभवः । यज्ञात् । भवति । पर्जन्यः । यज्ञः । कर्मसमुद्भवः ॥

पदार्थ—(अन्नात्) अन्नसे (भूतानि भवन्ति) भूत प्राणी होते हैं (पर्जन्यात् अन्नसंभवः) मेघोंसे अन्नउत्पन्न होताहै (यज्ञात्भवति पर्जन्यः) यज्ञसे पर्जन्य नाम मेघ होते हैं और (यज्ञः) यज्ञ (कर्म समुद्भवः) कर्म से उत्पन्न होता है ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।१५

पद०—कर्म । ब्रह्मोद्भवं । विद्धि । ब्रह्म । अक्षरसमुद्भवं । तस्मात् । सर्वगतं । ब्रह्म । नित्यं । यज्ञे । प्रतिष्ठितं ॥

पदार्थ—(कर्मब्रह्मोद्भवंविद्धि) कर्मको ब्रह्म नाम वेद से उत्पन्न हुआ समझो और (ब्रह्म) वेद (अक्षरसमुद्भवं) अक्षरनामपरमात्मा से उत्पन्न हुआ है (तस्मात्) इसलिये (सर्वगतंब्रह्म) सब वैदिक कर्मोंमें उपयोगी होनेसे ब्रह्म नाम वेद (नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितं) नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित माना जाता है ॥

भाष्य—ब्रह्म शब्दके अर्थ यहां वेदके हैं और स्वामीशं०चा० आदि सब आचार्य्य ब्रह्म शब्द के अर्थ यहां वेदके ही मानते हैं और उसको यज्ञमें प्रतिष्ठित इसलिये समझा गयाहै कि यज्ञ विना वैदिक मन्त्रों से नहीं हो सकता ॥

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति १६

पद०—एवं । प्रवर्त्तितं । चक्रं । न । अनुवर्त्तयति । इह । यः । अघायुः । इन्द्रियारामः । मोघं । पार्थ । सः । जीवति ॥

पदार्थ—(एवंप्रवर्त्तितंचक्रं) इस प्रकार प्रवृत्त हुए चक्रके (इह) इस संसार में (यः) जो (न अनुवर्त्तयति) उसके अनुकूल वर्ताव नहीं करता वह (अघायुः) पापरूपी जीवन वाला है और (इन्द्रियारामः) इन्द्रियों में है आराम नाम रमण जिसका हे पार्थ (सः) वह मोघंजीवति नाम वृथा जीता है ॥

भाष्य—इस चक्र से यह तात्पर्य्य है कि (अक्षर) परमात्मासे उत्पत्तिवाला जो वेद है और जिससे कर्म उत्पन्न होते हैं औरउन कर्मों से यज्ञ उत्पन्न होता है, यज्ञसे मेघादि उत्पन्न होते हैं अर्थात् शुभ कर्मों से अच्छे अदृष्टोंद्वारा मेघादिकों की उत्पत्ति होती है उनसे अन्न और अन्न से प्राणी, इस प्रकार यहसम्पूर्णचक्र परमात्मा की वेदरूपी आज्ञा के आधीन है इसलिये कहा है कि :—

"तस्मात्सर्वगतंब्रह्म नित्यंयज्ञेप्रतिष्ठितं" गी० ३।१५

सङ्गति—ननु अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदँ सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवंमन्वान एवंविजानन्नात्मरतिरात्मक्रीडआत्ममिथुनआत्मानन्दः स स्वराड्भवति-तस्यसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ छा० ७।२५।२

अर्थ—अब इसके अनन्तर आत्मा का कथन किया जाता है कि आत्मा ही (अधस्तात्) नीचे है आत्माही (उपरिष्टात्) ऊपर है आत्मा (पश्चात्) पीछे है आत्मा (पुरस्तात्) आगे है आत्मा दक्षिणदिशामें है आत्मा उत्तरदिशामें है,अधिकक्यानीचेऊपरसर्वत्र आत्माहै।इसप्रकारदेखता हुआ, इसप्रकारमानताहुआ, इसप्रकारजानता हुआ, आत्मा में (रति) प्रीतिवाला, आत्मा में क्रीड़ावाला, आत्मा में योगवाला, आत्मामें आनन्दवाला पुरुष (स्वराड्) स्वयंराजा हो जाताहै और सब लोकों में वह इच्छाचारी होजाता है, अर्थात् सब दशाओं में, सब स्थानों में वह स्वतन्त्र होजाता है । ऐसे पुरुष के लिये पूर्वोक्त यज्ञ का चक्र कर्तव्य है वा नहीं? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यह आगे का श्लोक है :—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येवचसंतुष्टस्तस्यकार्यंनविद्यते ।१७।

पद०—यः । तु । आत्मरतिः । एव । स्यात् । आत्मतृप्तः। च । मानवः। आत्मनि । एव । च। सन्तुष्टः।तस्य। कार्य्यं। न। विद्यते॥

पदार्थ—तु शब्द पूर्व सन्देह की निवृत्ति करता है कि (यःतु) जो तो (आत्म रति एव) आत्मा में रति नाम प्रीति वाला है (च) और (आत्मतृप्तः) आत्मा में तृप्त (स्यात्) है (च) और (यःमानवः) जो पुरुष (आत्मनि एव च सन्तुष्टः) आत्मा में ही सन्तुष्ट है (तस्य कार्य्यं न विद्यते) उसके लिये साधनरूप कर्म की आवश्यक्ता नहीं ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥१८॥

पद०—न । एव । तस्य । कृतेन । अर्थः । न । अकृतेन । इह । कश्चन । न । च । अस्य । सर्वभूतेषु । कश्चित् । अर्थव्यपाश्रयः॥

पदार्थ-(तस्य) उस परमात्मा में रति वाले पुरुषका (कृतेन) कार्य्य के साथ (अर्थः) प्रयोजन (नएव) नहीं है और नाही (अकृतेन) कर्म के अभाव होने से प्रत्ययवायरूपी दोष (कश्चन) उसको कोई होता है (नच) और न (अस्य) इसको (सर्वभूतेषु) सब भूतों में (कश्चित्) कोई एक (अर्थव्यपाश्रयः) अर्थवाला प्रयोजन होता है ॥

भाष्य—आत्मरतिवाला पुरुष साधनों से पार होजाता है और साध्यरूप परमात्मा के साथ उसका तद्धर्मतापत्तिरूप योग हो जाता है, इस लिये उसको साधनभूतकर्म की आवश्यकता नहीं रहती और जो वह कर्म करता है निष्काम कर्म करता है। निष्काम कर्म के अभिप्राय से ही कर्म का प्रयोजन न रखने वाले यह दो श्लोक लिखे हैं और यह आगे का श्लोक इस बात को स्पष्ट वर्णन करता है कि आत्मरति वाले पुरुष को निष्काम कर्म करने चाहियें ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यंकर्मसमाचर ।
असक्तोह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।१९।

पद०—तस्मात् । असक्तः । सततं । कार्यं । कर्म । समाचर । असक्तः । हि । आचरन् । कर्म । परं । आप्नोति । पूरुषः ॥

पदार्थ—(तस्मात्)इसलिये (असक्तः)संगकोछोड़कर(सततं) निरंतर (कार्यंकर्म) कर्तव्य कर्मको (समाचर) भले प्रकार कर (असक्तः) संग को छोड़कर कर्म करनेवाला (हि) निश्चय करके

(कर्मआचरन्) कर्मको करता हुआ (पूरुषः) पुरुष (परंआप्नोति) परब्रह्मको प्राप्त होता है ॥

सं०—ननु 'व्यामिश्रेणैववाक्येनबुद्धिंमोहयसीवमे'

इस द्वितीय श्लोक में जो यह प्रश्न किया गया था कि तुम कहीं कर्मको श्रेष्ठ कहते हो और कहीं निष्कर्मता को श्रेष्ठ कहते हो, ऐसेमिले जुले वाक्योंसे मेरी बुद्धि को मोह करतेहो? ऐसा ही इस स्थान में आकर किया जो कर्मों को अवश्य कर्त्तव्य बतला कर फिर यह कहा कि :—"यस्त्वात्मरतिरेवस्यात्" कि आत्मरति वाले पुरुषको कर्मकी आवश्यकता नहीं और फिर आगे जाकर कहा है कि निष्कामकर्म करनेवालापुरुष परब्रह्मको प्राप्त होता है ?

उत्तर—"तस्यकार्यं न विद्यते" इत्यादिश्लोकों में निष्कामकर्म के अभिप्रायसे कर्मों का अभाव कथन किया गया है वास्तव में कर्मोंका त्यागअभिमेतनहीं। इसीअभिप्रायसे कहाहैकि:—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

पद०—कर्मणा । एव । हि । संसिद्धि । आस्थिताः । जनकादयः । लोकसंग्रहं । एव । अपि । संपश्यन् । कर्तुं । अर्हसि ॥

पदार्थ—(जनकादयः) जनकादि (कर्मणाएव) कर्मों से ही (संसिद्धि) सिद्धि को (आस्थिताः) प्राप्त हुए हैं (लोकसंग्रहं एव अपि) लोक संग्रह को भी (संपश्यन्) देखकर (कर्तुंअर्हसि) तुम काम करने योग्य हो ॥

भाष्य—"तस्यकार्यं न विद्यते" इत्यादि श्लोकों में जो निष्कर्म संन्यास का सन्देह उत्पन्न हुआ था उसकी निवृत्ति के लिये "कर्मणैवहिसंसिद्धिमास्थिताजनकादयः" इत्यादि श्लोकों में कर्म की अवश्य कर्तव्यता प्रतिपादन की गई । शङ्करमतमें यह श्लोक इसलिये नहीं घट सकते कि उनके मतमें मोक्षरूपी अर्थकी सिद्धि के लिये केवल ज्ञान ही अपेक्षित है कर्म की कोई आवश्यकता नहीं, स्वामी शं० चा० के शिष्य मधुसूदन स्वामी ने इस श्लोक को इस प्रकार लगाया है कि जनकादिक क्षात्रियथे इसलिये वह केवल कर्मसे ही सिद्धि को प्राप्त हो सकते थे इसलिये 'कर्मणैवहिसंसिद्धिमास्थिताजनकादयः' यह कहा है । इनके मतमें वैश्य और क्षत्रिय के लिये संन्यासका अधिकार नहीं, संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है, इस अभिप्राय से यहां ब्राह्मण से इतर वर्णोंको कर्म की अवश्य कर्तव्यता वर्णन की गई । पर इनकी यह पौराणिक कल्पना गीता के अर्थ में सङ्गत प्रतीत नहीं होती, यदि जनक के क्षत्रिय होने के अभिप्राय से ही यहां कर्मों की अवश्य कर्त्तव्यता प्रतिपादन की जाती तो आगे श्लोक२१में "यद्यदाचरातिश्रेष्ठः" इसमें श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये कर्मोंको अवश्य कर्तव्य न बतलाया जाता और नाही "नमेपार्थास्तिकर्तव्यंत्रिषुलोकेषुकिंचन" इस २२वें श्लोकमें कृष्णजी कर्मोंकी अवश्य कर्त्तव्यता अपने लिये वर्णन करते। अधिक क्या यह सारा अध्याय कर्मों की अवश्य कर्त्तव्यता का भरा हुआ है, फिरयह क्षत्रियादिकों को संन्यासाधिकार से निकालकर निष्कर्म संन्यास गीता से कैसे सिद्धकर सकते हैं और यदिऐसाहीहोता तोअर्जुनतो क्षत्रिय

था उसको संन्यासका उपदेश क्यों कियाजाता? सचतो यह है कि यहआधुनिक वेदान्तियोंका निष्कर्मप्रधान संन्यास गीताके समय में न था, इस लिये इनका यह संन्यास विषयक निष्कर्मताका व्याख्यान निष्फल है ॥

सं०—हमारे मतमें "कर्मणैवहिसंसिद्धिमास्थिताजनकादयः" इस श्लोककी "यद्यदाचरतिश्रेष्ठः" इस श्लोकके साथ इस प्रकार सङ्गति है कि श्रेष्ठों को देखकर ही औरलोग कर्म करते हैं, इसलिये कर्म प्रत्येक पुरुषके लिये अवश्य कर्त्तव्य हैं:-

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥२१॥

पद०—यत् । यत् । आचरति । श्रेष्ठः । तत् । तत् । एव । इतरः । जनः । सः । यत् । प्रमाणं । कुरुते । लोकः । तत् । अनुवर्त्तते ॥

पदार्थ—(श्रेष्ठः) श्रेष्ठ पुरुष (यत् यत् आचरति) जो २ आचार करते हैं (इतरः जनः) अन्य पुरुष भी (तत् तत्) उसी का अनुकरण करते हैं अर्थात् वैसाही करते हैं (सः) वह श्रेष्ठ पुरुष (यत्प्रमाणंकुरुते) जिसको प्रमाण करते हैं (लोकः) लोग (तत्अनुवर्त्तते) उसीका अनुवर्त्तन करते हैं अर्थात् उसके पीछे चलते हैं॥

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्माणि ॥२२॥

पद०—न । मे । पार्थ । अस्ति । कर्त्तव्यं । त्रिषु । लोकेषु । किंचन । न । अनवाप्तं । अवाप्तव्यं । वर्त्ते । एव । च । कर्माणि ॥

पदार्थ—(पार्थ) हे अर्जुन (मे) मुझको (त्रिषुलोकेषु) तीनों लोकों में (किंचन कर्त्तव्यं न अस्ति) कोई कर्त्तव्य नहीं है (अनवाप्तं) जो वस्तु प्राप्त न हो ऐसी कोईवस्तु (अवाप्तव्यं) प्राप्त करने योग्य नहीं (वर्तेएवचकर्मणि) फिरभी मैं कर्मोंमें अवश्य वर्त्तता हूं अर्थात् कर्म करता हूं ॥

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः । मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३

पद०—यदि । हि । अहं । न । वर्त्तेयं । जातु । कर्मणि । अतन्द्रितः । मम । वर्त्म । अनुवर्त्तन्ते । मनुष्याः । पार्थ । सर्वशः ॥

पदार्थ—(जातु) कदाचित् (कर्मणि अतन्द्रितः अहं) कर्मों में निरालस मैं, यदि (कर्मणि न वर्त्तेयं) कर्मों में न वर्त्तूं तो हे पार्थ (मनुष्याः सर्वशः) सब मनुष्य (मम वर्त्म अनुवर्त्तन्ते) मेरे ही मार्ग का अनुवर्त्तन अर्थात् अनुकरण करेंगे, इस लिये मुझको कर्मों का अनुष्ठान अवश्य कर्त्तव्य है ॥

उत्सीदेयुरिमेलोका न कुर्यांकर्मचेदहम् । संकरस्यच कर्त्तास्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः । २४

पद०—उत्सीदेयुः । इमे । लोकाः । न । कुर्यां । कर्म । चेत् । अहं । संकरस्य । च । कर्त्ता । स्यां । उपहन्यां । इमाः । प्रजाः ॥

पदार्थ—(चेत्) यदि (अहं कर्म न कुर्यां) मैं कर्म न करूं तो (इमे लोकाः उत्सीदेयुः) यह लोक नाश होजावेंगे (च) और (संकरस्य) वर्णसंकरधर्म का (कर्त्तास्यां) मैं कर्त्ता होउंगा, और (इमाः प्रजाः उपहन्यां) इस प्रजा का नाश करूंगा ॥

भाष्य—कृष्णजी का यह कथन इस अभिप्राय से है कि यद्यपि मैं योग सिद्धि को प्राप्त हूं अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों मार्ग मुझे प्राप्त हैं इस कारण मेरे लिये कोई कर्तव्य नहीं पर तबभी मैं कर्मों को इसलिये करता हूं कि लोक मर्यादा की स्थिरता रहे। इस कथन से श्री कृष्णजी ने यह सिद्ध किया कि कोई पुरुष कैसी ही सिद्धि को प्राप्त क्यों न हो पर यावदायुष उस के लिये कर्म अवश्य कर्तव्य हैं॥

सं०—ननु जब विद्वान् और अविद्वान् को एक जैसेही कर्म कर्त्तव्य हैं तो विद्वान् की क्या विशेषता है? उत्तर

सक्ताःकर्मण्यविद्वांसोयथाकुर्वन्तिभारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

पद०—सक्ताः। कर्मणि। अविद्वांसः। यथा। कुर्वन्ति। भारत। कुर्यात्। विद्वान्। तथा। असक्तः। चिकीर्षुः। लोकसंग्रहं॥

पदार्थ—(कर्मणि सक्ताः अविद्वांसः) कर्मों में लगे हुए अविद्वान् लोग (यथाकुर्वन्ति) जैसे काम करते हैं हे भारत (विद्वान् तथा असक्तः कुर्यात्) विद्वान् उसी प्रकार कर्मों में असक्त होकर कर्मों को करे अर्थात् निष्कामता से कर्मों को करे, कैसा विद्वान् है (लोकसंग्रहंचिकीर्षुः) लोक संग्रह करने की जो इच्छाकरने वाला है। लोकसंग्रह के अर्थ यह हैं कि लोगों की शुभ कर्मों में प्रवृत्ति कराना॥

भाष्य—यदि आधुनिकवेदान्तियों के आशयके अनुकूल क्षत्रिय वैश्यादिकों को कर्म करने आवश्यक होते औरसंन्यासी ब्राह्मणके लिये आवश्यक न होते तो इस श्लोक में विद्वान् और अविद्वान्

का भेद न किया जाता । इस भेद से पाया जाता है कि कर्म वर्ण चतुष्टय को कर्तव्य हैं । केवल भेद इतना है कि अविद्वान् कर्मों में आसक्त होकर करता है और विद्वान् निष्कामता से करता है ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् । जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् २६

पद०—न । बुद्धिभेदं । जनयेत् । अज्ञानां । कर्मसङ्गिनां । जोषयेत् । सर्वकर्माणि । विद्वान् । युक्तः । समाचरन् ॥

पदार्थ—(कर्मसङ्गिनां अज्ञानां) कर्म सङ्गी जो अज्ञानी हैं उन के लिये (बुद्धिभेदं) बुद्धिका भेद (न जनयेत्) न उत्पन्न करे (युक्तः विद्वान्) युक्त विद्वान् (समाचरन्) अच्छा आचार करता हुआ उनको (सर्व कर्माणि जोषयेत्) सब कर्मों में लगाए ॥

भाष्य—अद्वैतवादी लोग इसका यह भाष्य करते हैं कि जिस ने जीवब्रह्म की एकता को ठीक २ नहीं समझा ऐसे अज्ञानी पुरुष जो कर्मों में लगे हुए हैं उनको ब्रह्म बनाकर बुद्धिभेद न पैदा करे, जैसाकि उनके मतमें यह लिखा है कि:—**'अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वंब्रह्मेति योवदेत् । महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः'** म० सू० अर्थ—आधा जागा हुआ जो अज्ञानी है उसको जो सब कुछ ब्रह्म है यह उपदेश करता है, ऐसे उपदेशों से वह उपदेष्टा उसको महानरक के जालों में जोड़ता है । यदि यह श्लोक इसी आशय को वर्णन करता तो जीवब्रह्म को एक समझकर पूरे जागे हुए को गीता शास्त्र में ऐसा उपदेश अवश्य होता जिसमें जीवब्रह्मकी एकता समझनेवाले पुरुषकेलिये कोई कर्तव्य न होता, पर ऐसाउपदेश कहींनहीं पाया जाता, किन्तु

कर्मों का उपदेश प्रत्येक पुरुष के लिये अवश्य पाया जाता है ॥

और यदि जीवब्रह्म की एकता को पूर्ण समझनेवाले के लिये कोई कर्तव्य नहीं तो आधुनिक वेदान्तियों में जो जीवब्रह्म की एकता समझने वाले हैं वह शरीरयात्रा के लिये कर्म क्यों करते हैं ? यदि शरीरयात्रार्थ उनको कर्मआवश्यक हैं तो वैदिकयज्ञादि कर्मों में क्या दोष ? इत्यादि तर्कोंसे पाया जाता है कि इस श्लोक के अर्थ जीव ब्रह्मकी एकताको न समझनेवाले अज्ञानियों के नहीं किन्तु ज्ञानयोग को न समझने वाले केवल कर्मयोगीके हैं अर्थात् जो ज्ञानयोग के मर्मको नहीं समझता और कर्मों में लगा हुआ है उसको ज्ञानकी ऊंचीनीची बातें सुनाकर बुद्धि भेद उत्पन्न न करे और इसका यहभी आशय है कि सत्कर्मोंमें लगे हुए पुरुषके लिये बुद्धिभेद न पैदा करे औरजो असत्कर्मोंमें लगे हुए हैं अर्थात् वेद विरुद्ध कर्मों में रत हैं उनके लिये बुद्धि भेद करना अत्यावश्यक है, यदि ऐसा न होता तो कृष्ण जी मरने से डरने वाले अर्जुन को बुद्धिभेद करके "नैनंछिन्दन्तिशस्त्राणि" इस सच्चाई का उपदेश क्यों करते ? क्योंकि मिथ्याबुद्धि से हटाने के लिये सत्यबुद्धि का उपदेश अवश्य करना पड़ता है ॥

स्वामी रामानुज ने भी इस श्लोक का यही आशय वर्णन किया है कि :—कर्मयोगाधिकारिणां कर्मयोगादन्यथात्मावलोकनमस्तीति न बुद्धिभेदंजनयेत् किंतर्हि आत्मनिकृत्स्नवित्तया ज्ञानयोगशक्तोऽपि पूर्वोक्त रीत्या कर्मयोगएव ज्ञानयोगनिरपेक्ष आत्मावलोकनसाधनमितिबुद्ध्यायुक्तःकर्मैवाचरन्सर्वकर्म

स्वकृतस्नाविदांप्रीतिंजनयेत् ॥ अर्थ—कर्मयोग में जो अधिकारी हैं उन लोगों को कर्म योग से अन्यथा और प्रकार से आत्मा का अवलोकन है इस प्रकार का बुद्धि भेद न उत्पन्न करे किन्तु आत्मा को पूर्णरीति से जानता हुआ ज्ञानयोगमें पूर्णपुरुष यह उपदेश करे कि आत्मावलोकन का साधनकर्मयोग है । इस प्रकार कर्मों में सब लोगों की प्रीति उत्पन्न करे ॥

सं०—ननु जब अज्ञानी को ज्ञानोपदेश करने से बुद्धि भेद हो जाता है अर्थात् उसकी श्रद्धा नहीं रहती तो ज्ञानी की कर्म में श्रद्धा कैसे रहती है ? उत्तर—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

पद०—प्रकृतेः । क्रियमाणानि । गुणैः । कर्माणि । सर्वशः । अहंकारविमूढात्मा । कर्त्ता । अहं । इति । मन्यते ॥

पदार्थ—(प्रकृतेःगुणैः) प्रकृतिके गुणों से (सर्वशः कर्माणि) सब कर्म (क्रियमाणानि) कियेजाते हैं (अहंकारविमूढात्मा) अहंकार से मोहको प्राप्त है आत्मा जिसका, वह (अहंकर्त्ता) मैं करता हूं (इतिमन्यते) ऐसा मानता है ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तंते इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

पद०—तत्त्ववित् । तु । महाबाहो । गुणकर्मविभागयोः । गुणाः । गुणेषु । वर्तन्ते । इति । मत्वा । न । सज्जते ॥

पदार्थ—हे महाबाहो (गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित्) गुणकर्म के विभागमें जो तत्त्ववेत्ता हैं वह (गुणाः गुणेषुवर्तन्ते) गुणगुणों

में वर्त्तते हैं । (इतिमत्वा) ऐसा समझकर (न सज्जते) संगको प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य—ज्ञानी पुरुषकी दृष्टि में प्रकृतिके सत्व, रज, तम,आदि गुणों से कर्मों में प्रवृत्ति होती है इसलिये उसकी दृष्टि में ज्ञान हो कर भी प्रकृतिके गुणोंद्वारा कर्मोंमें प्रवृत्ति होना कोई बन्धन का हेतु नहीं है, बन्धनका हेतु तो कर्म उन्हीं लोगोंके लिये हैं जो गुण कर्म के विभाग को नहीं जानते और प्रकृति के गुणों से मोहको प्राप्त हुए रहते हैं जैसा कि आगे के श्लोक में वर्णन करते हैं :—

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु । तान कृत्स्नविदो मंदान्कृत्स्नविन्नविचालयेत्।२९

पद०—प्रकृतेः । गुणसंमूढाः । सज्जन्ते । गुणकर्मसु । तान् । अकृत्स्नविदः । मन्दान् । कृत्स्नवित् । न । विचालयेत् ॥

पदार्थ—(प्रकृतेःगुण संमूढाः) प्रकृतिके गुणों से जोसंमूढानाम मोहको प्राप्त हैं वह लोग (गुणकर्मसु) गुणकर्ममें (सज्जन्ते) सङ्ग को प्राप्त होते हैं (तान्अकृत्स्नविदः) उन अज्ञानियों को और (मन्दान्) मन्दबुद्धिवालोंको (कृत्स्नवित्) पूर्णज्ञानी(नविचालयेत्) चलायमान न करे ॥

भाष्य—जो लोग क्षात्रधर्मको मानते हुए सकामकर्मता से यह मानते हैं कि मरने के अनन्तर हमको स्वर्ग मिलेगा, एवंविधकर्मों में आसक्तिवाले लोगों को निष्कामकर्म करनेवाला विज्ञानीपुरुष बुद्धिभेद न पैदा करे अर्थात् यह न कहने लगजाय कि तुम जो स्वर्ग की कामना से लड़ते हो यह ठीक नहीं, ऐसा बुद्धि भेद करना उन कर्म के सङ्गी लोगों के लिये अनुपकारी है ॥

और विज्ञानीके लिये कर्म करने में जो विशेषता है वह निम्न

लिखित श्लोकमें प्रतिपादन करते हैं :—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा
निराशीर्निर्ममो भूत्वा बुद्धयस्व विगतज्वरः

पद०—मयि । सर्वाणि । कर्माणि । संन्यस्य । अध्यात्मचेतसा । निराशीः । निर्ममः । भूत्वा । युद्धयस्व । विगतज्वरः ॥

पदार्थ—(अध्यात्मचेतसा, सर्वाणि, कर्माणि, मयि, संन्यस्य) भीतर के दिलसे सब कर्मों को मेरे में रखकर (निराशीः) निष्काम और (निर्ममः) देह पुत्र भाई आदिकों में ममता शून्य होकर, विगतज्वरः नाम शोक रहित होकर (युद्धयस्व) युद्धकर ॥

भाष्य—इस श्लोकमें यह उपदेश कियागया है कि ईश्वरार्पण करके कर्मों को करे, इसी अभिप्रायसे अस्मच्छब्दका प्रयोग यहां मयि आया है । मयिसे तात्पर्य्य कृष्णजी का यहां अपने से नहीं किन्तु ईश्वर से है और कृष्णजी ने तद्धर्मतापत्ति के अभिप्राय से यह अस्मच्छब्दका प्रयोग किया है अर्थात् कृष्णजीको परमात्मा की भक्ति से परमात्मा के अपहतपाप्मादि गुण प्राप्त थे इसलिये उन्होंने अहंभाव से परमात्मा की ओर से कहा ॥

इसका विस्तार हमचतुर्थाध्याय के **"यदायदाहिधर्मस्य"** इत्यादि श्लोको में करेंगे, यहां इतना ही अपेक्षित था कि ईश्वरार्पण करके जो कर्म किये जाते हैं वह कर्म निष्काम कर्म कहलातेहैं ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठंतिमानवाः।श्रद्धा
वंतोऽनसूयंतो मुच्यंते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

पद०—ये । मे । मतं । इदं । नित्यं । अनुतिष्ठन्ति । मानवाः । श्रद्धावन्तः । अनुसूयन्तः । मुच्यन्ते । ते । अपि । कर्मभिः ॥

पदार्थ—(ये मानवाः) जो पुरुष (मे इदं मतं) मेरे इस मतको (नित्यं अनुतिष्ठन्ति) नित्य अनुष्ठान करते हैं अर्थात् वर्ताव में लाते हैं (श्रद्धावन्तः) श्रद्धावाले हैं (अनसूयन्तः) अनिन्दक हैं (तेऽपि कर्मभिः मुच्यन्ते) वह भी कर्मों से छूट जाते हैं ॥

येत्वेतदभ्यसूयंतोनानुतिष्ठन्तिमेमतम् । सर्व ज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

पद०—ये । तु । एतत् । अभ्यसूयन्तः । न । अनुतिष्ठन्ति । मे । मतं । सर्वज्ञानविमूढान् । तान् । विद्धि । नष्टान् । अचेतसः ॥

पदार्थ—(ये तु) जो तो (एतत् अभ्यसूयन्तः) इसकी निन्दा करते हुए (मे मतं न अनुतिष्ठन्ति) मेरे मत का अनुष्ठान नहीं करते और (सर्वज्ञानविमूढान्) सर्व विषयक जो ज्ञान अर्थात् सकाम कर्म, निष्काम कर्म, सगुण, निर्गुण, इत्यादि विषयों में जो विमूढ़ हैं (तान् अचेतसः) उन दुष्ट चित वालों को (नष्टान्) नष्ट (विद्धि) समझो ।

भाष्य—उक्त श्लोकोंमें कृष्णजी ने इसभाव को वर्णन किया है कि अज्ञानी लोग कर्म की फिलासफी को न समझकर कर्मों में लगते हैं उनको भी उस शुभकर्त्तव्य से हटाना नहीं चाहिये और ज्ञानी लोग प्रकृति के गुण और कर्मों का तत्त्व समझते हुए कर्मों में लगते हैं और कर्मों को ईश्वरार्पणकरके निष्कामता से करते हैं एवं विध कर्मों को कृष्णजी ने अपना मत कहा है, वास्तव में यह वैदिक मत है जो यावदायुष कर्तव्य समझकर कर्मों को करना है जैसाकि :—**कुर्वन्नेवेह कर्माणिजिजीविषेच्छतं समाः। एवंत्वयिनान्यथेतोऽस्तिनकर्मलिप्यतेनरे।**

यजु० ४० । २ अर्थ—निष्काम कर्म करताहुआ सौवर्ष जीने की इच्छा करे इस प्रकार तुम्हें कर्म बन्धन में नहीं डालेंगे, इस से अन्य प्रकार कर्मों के बन्धन से बचने का कोई नहीं। इत्यादि वैदिक मन्त्रों में वर्णन किया गया है ॥

सं०—ननु फिर लोग ईश्वरार्पण समझकर अर्थात् ईश्वर के आश्रित होकर अपने कर्त्तव्य कर्मों को क्यों नहीं करते ?

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिंयांतिभूतानिनिग्रहःकिंकरिष्यति।३३

पद०—सदृशं । चेष्टते । स्वस्याः । प्रकृतेः । ज्ञानवान् । अपि । प्रकृतिं । यान्ति । भूतानि । निग्रहः । किं । करिष्यति ॥

पदार्थ—(ज्ञानवान् अपि) ज्ञानवान् पुरुषभी (स्वस्याःप्रकृतेः) अपनी प्रकृति के (सदृशं चेष्टते) सदृशही चेष्टा करता है, प्रकृति के अर्थ यहां पूर्वजन्मकृत धर्माधर्म से जो स्वभाव बनता है उसके हैं। ज्ञानी पुरुष भी उस स्वभाव के अनुकूलही कर्मोंको करता है इसलिये (भूतानि) सब प्राणी (प्रकृतिं यान्ति) उस अपने स्वभाव को ही प्राप्त होते हैं (निग्रहः किं करिष्यति) निग्रह क्या कर सकता है अर्थात् शम दम सम्पन्न होकर कृष्णजी के उक्तमत के अनुकूल कर्म तभी हो सकते हैं जब मनुष्य की प्रकृति शुद्ध हो ॥

सं०—ननु जब अपनी प्रकृति के अनुकूल ही कर्म किये जाते हैं तो मनुष्य का क्या दोष ? उत्तर—

इंद्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ। ३४

पद०—इन्द्रियस्य । इन्द्रियस्य । अर्थे । रागद्वेषौ । व्यवस्थितौ ।

तयोः । न । वशं । आगच्छेत् । तौ । हि । अस्य । परिपन्थिनौ ॥

पदार्थ—(इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे) एक २ इन्द्रिय के अर्थ में (रागद्वेषौ व्यवस्थितौ) रागद्वेष स्थिर होते हैं (तयोः न वशं आगच्छेत्) उन दोनों के वश में न आए (तौ) वह रागद्वेष (हि) निश्चय करके (अस्य) इस जीव के (परिपन्थिनौ) शत्रु होते हैं अर्थात् उसके कल्याण के मार्ग के विघ्नकर्ता होते हैं ॥

भाष्य—यद्यपि स्वस्वभाव के द्वारा मनुष्य की कर्मों में प्रवृत्ति होती है तथापि जब वह शास्त्र तथा गुरूद्वारा उपदेश को सुन कर रागद्वेष के वश में नहीं आता यही उसकी स्वकर्म करने में स्वतन्त्रता है। प्रायः लोग रागद्वेष के आधीन होकर श्रेष्ठ काम नहीं कर सकते, और जो लोग रागद्वेष के चक्र में नहीं आते वह लोग शुभकर्म करने में स्वतन्त्र होते हैं ॥

सं०—ननु जब ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुकूल ही चेष्टा करता है तो फिर अर्जुन की प्रकृति के अनुकूल जो युद्धको छोड़ कर भिक्षावृत्ति धर्म था वही श्रेष्ठ है फिर ऐसे क्लिष्ट क्षात्रधर्म से क्या लाभ ? उत्तर

श्रेयान्स्वधर्मोविगुणःपरधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

पद०—श्रेयान् । स्वधर्मः । विगुणः । परधर्मात् । स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे । निधनं । श्रेयः । परधर्मः । भयावहः ॥

पदार्थ—(परधर्मात् स्वनुष्ठितात्) दूसरे का धर्म भले प्रकार अनुष्ठान किया गया भी हो उससे (स्वधर्मः) अपना धर्म (विगुणः) विना गुणों वाला भी (श्रेयान्) श्रेष्ठ होता है (स्वधर्मे निधनं

श्रेयः) अपने धर्म में मरजाना भी श्रेष्ठ है और (परधर्मः) दूसरे का धर्म (भयावहः) भय के देने वाला होता है॥

भाष्य—स्वधर्म से तात्पर्य्य यहां पूर्वजन्मकृत प्रारब्ध कर्मों से बने हुए स्वभाव का है अर्थात् उस स्वभाव को उल्लङ्घन करके जो पुरुष वर्त्तता है वह ठीक नहीं करता। जैसाकि अर्जुन ने ही प्रथम कहा था कि इस हिंसारूपी युद्ध कर्म से भीख मांगकर खालेना अच्छा है, उसका यह कथन अपने स्वभाव से विपरीत है क्योंकि उसका स्वभाव क्षत्रिय था और क्षत्रिय को ऐसा करनाठीकनहीं, इस श्लोक ने इस बात को सिद्ध करदिया कि प्रकृति से प्राप्त जो धर्म है उसको अतिक्रमण करके जो लोग वर्त्तते हैं वह लोग सिद्धि को प्राप्त नहीं होते॥

और जो लोग इसके यह अर्थ करते हैं कि जन्म से प्राप्त जो धर्म हैं स्वधर्म से उन्हीं धर्मोंका ग्रहण है और परधर्म से परजाति के धर्मों का ग्रहण है। इस श्लोकका यदि यह अर्थ होता है तोः— "सदृशंचेष्टतेस्वस्याःप्रकृतेर्ज्ञानवानपि" इसश्लोक के साथ इसकी कोई सङ्गति न रहती, इस श्लोक के साथ इसकी सङ्गति तभी रहती है जब स्वधर्म के अर्थ अपनी प्रकृति के किये जायं, इसका यहभी आशय है कि प्रकृति से प्राप्त प्रवृत्ति धर्मको छोड़कर जो परायेधर्म निवृत्ति को ग्रहण करते हैं वह ठीक नहीं करते, इसीलिये स्वामी रामानुज ने इसके यह अर्थ किये हैं किः— "अतः सुशकतयास्वधर्मभूतः कर्मयोगोविगुणो-प्यप्रमादगर्भः" अर्थ—इस लिये स्वधर्मभूत जो कर्मयोग है वह विगुण भी अर्थात् यदि उसको कोई विना गुणके भी कहे तब भी वह अप्रमादगर्भः नाम प्रमाद से रहित है अर्थात् उसमें कोई

दोष नहीं, इस प्रकार स्वामी रामानुजने यहां स्वभाव प्राप्त धर्मके अर्थ स्वधर्म के लिये हैं और प्रकरण भी यहां यही था, वर्णाश्रम के धर्मका यहां प्रकरण नहीं। जिन लोगोंने इसके अर्थ जातिधर्म के किये हैं वह पौराणिक हं, गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं, क्योंकि यहां गीताका आशय इस प्रकरण में यह है कि जो लोग प्रकृति से प्राप्त स्वधर्मभूत कर्मयोग को छोड़कर कर्मोंसे उपराम हो जाते हैं वह ठीक नहीं करते, इसलिये कृष्ण जी ने कहा है कि "स्वधर्मेनिधनंश्रेय:" प्रकृति से प्राप्त धर्म में मरजाना भी श्रेष्ठहै और इससे विपरीत कर्मेन्द्रियोंको रोककर फिर मनमें मानस कर्म करते रहना ठीकनहीं जैसाकि "मिथ्याचार:सउच्यते" गी० ३। ६ इस प्रकरण में कर्मयोगके मण्डनमें कर्मयोग को छोड़ मनोरथ मात्रसे वकवृत्तिसे निष्कर्मी वनकर दम्भकाआचार करने वालों के खण्डन में कहागया है॥

ऐसे पूर्वोत्तर विचार से यह श्लोक कर्मयोगकी दृढ़ता को वर्णन करता है नकि जातिके कर्मको और इसीलिये स्वामी शं० चा० ने इसके भाष्य में स्वधर्म के अर्थ जन्म के कर्मों के नहीं किये, जन्मके कर्मों के अर्थ आधुनिक टीकाकारों ने किये हैं जो जन्म से वर्णाश्रम की व्यवस्था मानते हैं, इस लिये इनके यह मिथ्यार्थ गीता और गीता के सनातन भाष्योंसे सर्वथा विरुद्ध हैं॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥३६॥

पद०—अथ। केन। प्रयुक्तः। अयं। पापं। चरति। पूरुषः।

अनिच्छन् । अपि । वार्ष्णेय । बलात् । इव । नियोजितः ॥

पदार्थ—अथ-इतिप्रश्ने (वार्ष्णेय) हे वृष्णी कुलोत्पन्न कृष्ण (अयंपूरुषः) यह पुरुष (अनिच्छन्अपि) इच्छा न करता हुआ भी (बलात्नियोजितःइव) बल से धकेले हुए के समान (केनप्रयुक्तः) किसकी प्रेरणा से (पापंचरति) पापको करता है ॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनोमहापाप्माविद्ध्येनमिहवैरिणम् ३७

पद०—कामः । एषः । क्रोधः । एषः । रजोगुणसमुद्भवः । महाशनः । महापाप्मा । विद्धि । एनं । इह । वैरिणं ॥

पदार्थ—(कामःएषः) यहजो काम है (क्रोधःएषः) क्रोधभी यही है (रजोगुणसमुद्भवः) रजोगुण से समुद्भव नाम उत्पत्ति है जिसकी, फिर यहकैसा है (महाशनः) बहुतखानेवाला है अर्थात् इसकी भूख कभी भरती ही नहीं, और (महापाप्मा) बड़ा पापी है (विद्धिएनंइहवैरिणं) इसको वैरी समझो, इसीकी प्रेरणासे मनुष्य पाप करता है ॥

धूमेनाव्रियतेवह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतोगर्भस्तथातेनेदमावृतम् ।३८

पद०—धूमेन । आव्रियते । वन्हिः । यथा । आदर्शः । मलेन । च । यथा । उल्वेन । आवृतः । गर्भः । तथा । तेन । इदं । आवृतं ॥

पदार्थ—(धूमेन आव्रियते वान्हिः) जिस प्रकारधूमसे अग्नि ढक जाती है और (यथा आदर्शः मलेन च) जिस प्रकार दर्पण छाई

से ढकजाता है और (यथा) जिस प्रकार (उल्वेन) जेर से गर्भ ढका रहता है (तथा) इसी प्रकार (तेन इदं आवृतं) उस काम से मनुष्य का ज्ञान ढका रहता है ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३६

पद०—आवृतं । ज्ञानं । एतेन । ज्ञानिनः । नित्यवैरिणा । कामरूपेण । कौन्तेय । दुष्पूरेण । अनलेन । च ॥

पदार्थ—(ज्ञानिनः नित्यवैरिणा) ज्ञानियोंकाजो यह नित्यवैरी है (एतेन कामरूपेण) इसकामसे (ज्ञानंआवृतं) ज्ञान ढका हुआ है हे कौन्तेय, फिर यह काम कैसा है जिससे ज्ञान ढका हुआ है, (दुष्पूरेण अनलेन च) दुःखसे पूर्ण होने वालीआग है अर्थात् जैसे अग्नि लकड़ियों से तृप्त नहीं होती इस प्रकार यह कामरूपी अग्नि कामनाओं से तृप्त नहीं होती ॥

सं०—शत्रु के अधिष्ठान के जानने से विना शत्रु जीता नहीं जा सकता, इसी प्रकार इसकामके (अधिष्ठान) स्थान जानने से विना इसका जीतना असम्भव है इसअभिप्रायसे इसका अधिष्ठान वर्णन करते हैं :—

इंद्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४०

पद०—इन्द्रियाणि । मनः । बुद्धिः । अस्य । अधिष्ठानं । उच्यते । एतैः । विमोहयति । एषः । ज्ञानं । आवृत्य । देहिनं ॥

पदार्थ—(इन्द्रियाणि) इन्द्रियें (मनः) मन और बुद्धि (अस्य) इस कामका (अधिष्ठानं उच्यते) अधिष्ठान कथन कियागया है

अर्थात् इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूपी घरमें काम रहता है (एतैः) इन तीनों से (ज्ञानंआवृत्य) ज्ञानको ढक कर (एषः) यह (देहिनं) जीवात्मा को (विमोहयति) मोह लेता है ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानंप्रजहिह्येनंज्ञानविज्ञाननाशनम्॥४१

पद०—तस्मात् । त्वं । इन्द्रियाणि । आदौ । नियम्य । भरतर्षभ । पाप्मानं । प्रजहि । हि । एनं । ज्ञानविज्ञाननाशनं ॥

पदार्थ—(भरतर्षभ) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन (तस्मात्) इस लिये (त्वं) तुम (आदौ इन्द्रियाणि नियम्य) प्रथम इन्द्रियों को अपने वश में करके (हि) निश्चयसे (ज्ञानविज्ञाननाशनं) ज्ञाननाम वाह्य पदार्थों का ज्ञान और विज्ञान नाम आत्मज्ञान, का जो नाश करने वाला यह (पाप्मानं) पापी काम है इसको (प्रजहि) नाशकर॥

सं०—ननुयह कामरूपी शत्रुकिस आश्रयसे मारा जासक्ताहै॥ अर्थात् किस इष्ट के आश्रयण करनेसे यहजीता जासक्ता है? वह प्रकार लिखते हैं :—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥४२

पद०—इन्द्रियाणि । पराणि । आहुः । इन्द्रियेभ्यः । परं । मनः । मनसः । तु । परा । बुद्धिः । यः । बुद्धेः । परतः । तु । सः ॥

पदार्थ—(इन्द्रियाणि पराणि आहुः) स्थूल शरीर की अपेक्षा से इन्द्रिय परे हैं (इन्द्रियेभ्यः परं मनः) इन्द्रियों से मन परे है (मनसःतु पराबुद्धिः) मनसे परे बुद्धिहै (यः बुद्धेःपरतः) जो बुद्धिसे परे है (सः) वह परमात्मा है ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥४३

पद०—एवं। बुद्धेः। परं। बुद्ध्वा। संस्तभ्य। आत्मानं। आत्मना। जहि। शत्रुं। महाबाहो। कामरूपं। दुरासदं॥

पदार्थ—(एवं) इसप्रकार (बुद्धेः परं बुद्ध्वा) बुद्धि से परे जो परमात्मा है उसको जानकर (आत्मना) अपने संस्कृत मन से (आत्मानं संस्तभ्य) अपने आत्मा को ठहराकर अर्थात् आत्मिक बल बढ़ाकर (महाबाहो) हे बड़े बलवाले (कामरूपंशत्रुंजहि) इस काम रूप शत्रु को मार, यह कैसा शत्रु है जो (दुरासदं) दुःख से मारा जासकता है अर्थात् इसके मारने के लिये बड़ा यत्न चाहिये॥

भाष्य—जिस कामकी प्रेरणा से मनुष्य पाप करता है उसके जीतने का एक मात्र साधन यहां परमात्मज्ञानही बतलाया है और उस परमात्मज्ञान का जब अनुष्ठान किया जाता है तब यह काम रूपीशत्रु जीता जासक्ता है अन्यथा नहीं। उसके अनुष्ठान का प्रकार यह है :- **यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि,** (१) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह, इन पाचों का नाम **यम** है (१) मन, वाणी, शरीर से किसी को दुःख न देने का नाम **अहिंसा** है (२) यथार्थ भाषणादि व्यवहारका नाम **सत्य** है (३) मन, वाणी, शरीर से परद्रव्य के हरण न करने को **अस्तेय** कहते हैं (४) स्मर्ण, कीर्तन, क्रीड़ा, देखना, गुह्यभाषण, सङ्कल्प, (अध्यवसाय) निश्चय, क्रियानिर्वृत्ति, यह अष्ट प्रकारकामैथुन है। अष्टविध मैथुन के परित्याग को **ब्रह्मचर्य्य** कहते हैं।

(५) आवश्यकता से अधिक वस्तु पास न रखना अर्थात् अपने योग क्षेम से अधिक वस्तु का ग्रहण न करना **अपरिग्रह** कहलाता है ।

(२)-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, इनपांचों को **नियम** कहते हैं ॥

(१)-अन्तर, बाह्य, दोनों प्रकार से पवित्र रहना **शौच** कहलाता है (२)-यथा लाभ सन्तुष्ट रहने को **सन्तोष** कहते हैं । (३)-शीतोष्णादि सब द्वन्द्वों को सहारना **तप** है (४)-वेद और वैदिक ग्रन्थों के युक्ति पूर्वक पठन का नाम **स्वाध्याय** है । (५)-सत्यादि गुणों से ईश्वर के स्वरूप चिन्तन का नाम **प्रणिधान** है ।

(३)-आसन-पद्मासनादिक । (४)-प्राणोंको स्थिर करने का नाम **प्राणायाम** है, पूरक, रेचक, कुम्भक, इस भेद से तीन प्रकार का होता है ।

(५)-रूपादि विषयों से इन्द्रियों के रोकनेकानाम प्रत्याहार है॥

(६)-ईश्वर में मनके लगाने को **धारणा** कहते हैं ॥

(७)-सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्तब्रह्ममें ईश्वर व्यतिरिक्त वृत्तियों को हटाकर एक मात्र ईश्वरके स्वरूप के अनुसन्धान करनेकानाम **ध्यान** है ॥

(८) ध्यान की अवस्था विशेषका नाम **समाधि** है ॥

इन आठ साधनों से जब परमात्मा का साक्षात्कारहोता है तब यह काम जीता जा सकता है अन्यथा नहीं । और यदि इनका अनुष्ठान न किया जाय तो नाममात्रके यम नियमादिकों से काम

कदापि नहीं जीता जा सकता, जैसा कि इस इन्दवछन्द में काम कहता है :—

यमनेम सु आसनप्राणयमं प्रत्यहारवलीजग ध्यानत्रलाए। धारणाऔर समाधिसुनोचितहोय एकाग्रतोउपजाए॥इनजीतनहेतुरचीअवला, यम नेम तभी हमरे बसआए। हम जीवत कौन भया जगमें यम नेम कथा जिनके मन भाए॥

यदि अनुष्ठान न हो तो यही गति यम नियम की हो जाती है जैसा कि उक्त छन्दमेंवर्णन कियागया है, इसलिये "**एवंवुद्धेः परंवुद्ध्वा**" इस अन्तिम श्लोकमें परंपरमात्मा का आश्रय वतलाया है जिस आश्रयसे यह शत्रु मारा जा सकता है॥

इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिवद्धे, श्रीमद्भगवद्गीता योगप्रदीपार्य्यभाष्ये, कर्मयोगोनाम तृतीयोऽध्यायः॥

अथ

॥ चतुर्थोऽध्याय ॥

—:-0-:—
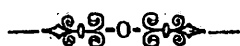
सङ्गति—ननु, **लोकेस्मिन् द्विविधानिष्ठापुराप्रोक्ता यमाऽनघ । ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्** गी० ३ । ३ अर्थ—प्रथम मैने दो प्रकार की निष्ठा कथन की है । ज्ञानयोग से वेदान्तियों के लिये और कर्मयोग से कर्मियों के लिये । कृष्णजी का यह कथन सनातन कैसे हो सक्ता है जबकि कृष्णजी से प्रथम इस दोनों प्रकार के योग का गन्ध मात्र भी नथा ? इस आक्षेप सङ्गति से कृष्णजी यह कथन करते हैं कि इस योग को प्रथम मैने विवस्वान् सूर्य्य को कथन किया:—

श्रीभगवानुवाच

इमंविवस्वतेयोगंप्रोक्तवानहमव्ययम् । विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १॥

पद०—इमं । विवस्वते । योगं । प्रोक्तवान् । अहं । अव्ययं । विवस्वान् । मनवे । प्राह । मनुः । इक्ष्वाकवे । अब्रवीत ॥

पदार्थ—इस (अव्ययं) सनातन योग को (अहं) मैंने (विवस्वते) विवस्वान् सूर्य्य के लिये कथन किया और विवस्वान् सूर्य्य ने (मनवेप्राह) मनु के लिये कहा और(मनुः) मनुने(इक्ष्वाकवे) इक्ष्वाकु को (अब्रवीत) कथन किया ॥

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयोऽविदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप । २ ।

पद०—एवं । परंपराप्राप्तं । इमं । राजर्षयः । अविदुः । सः ।

कालेन । इह महता । योगः । नष्टः । परंतप ॥

पदार्थ—(एवं) इस प्रकार (परंपराप्राप्तं) गुरुशिष्य प्रणाली से प्राप्त (इमं) इस योग को (राजर्षयः) राजऋषि लोगों ने (अविदुः) जाना (परंतप) हे अर्जुन (सयोगः) वहयोग (इह) इसलोक में (महताकालेन) चिरकाल से (नष्टः) नष्ट होगया है ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखाचेतिरहस्यंह्येतदुत्तमम् ॥३॥

पद०—सः । एव । अयं । मया । ते । अद्य । योगः । प्रोक्तः । पुरातनः । भक्तः । असि । मे । सखा । च । इति । रहस्यं । हि । एतत् । उत्तमं ॥

पदार्थ—(सः एव अयं) वही यह योग (मया) मैंने (ते) तुम्हारे लिये (अद्य) आज (प्रोक्तः), कहा, यह कैसायोग है जो (पुरातनः) प्राचीन है (मे भक्तः असि) तुम मेरे भक्त हो (च) और (सखा) मित्र हो (इति) इस हेतु से (एतत् उत्तमं रहस्यं) यह उत्तम रहस्य मैंने तुमको कहा ॥

ननु—तुम्हारा जन्म तो अब हुआ और विवस्वान्, इक्ष्वाकु आदि सृष्टि में हुए, फिर यह कैसे समझा जाय कि तुमने ही इसयोग का उनके लिये उपदेश किया ? इस शङ्का की निवृत्तिके लिये इस चतुर्थ श्लोक में आक्षेप करके पंचम श्लोक में यहउत्तर दियाजाता है कि जीवात्माअनादि है इसलिये मेरेभी कईएक जन्म होचुके हैं:—

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

पद०—अपरं । भवतः । जन्म । परं । जन्म । विवस्वतः । कथं। एतत् । विजानीयां । त्वं । आदौ । प्रोक्तवान् । इति ॥

पदार्थ—(भवतः जन्म) आपका जन्म (अपरं) अब हुआ और (विवस्वतः जन्म) विवस्वान् का जन्म (परं) प्राचीन है । (कथं एतत्विजानीयां) मैं इसबातको कैसे जानूं कि (त्वं आदौ) तुमने आदि कालमें (प्रोक्तवान्इति) इस योग को कहा ॥

भाष्य—विवस्वान् नाम सूर्य्य से तात्पर्य्य इस जड़ सूर्य्य का नहीं, किन्तु उस मनुष्यका है जिससेसूर्य्यवंशियोंकावंशचला ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

पद०—बहूनि । मे । व्यतीतानि । जन्मानि । तव । च । अर्जुन । तानि । अहं । वेद । सर्वाणि । न । त्वं । वेत्थ । परंतप ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (मे) मेरे (बहूनि) बहुत (जन्मानि) जन्म (व्यतीतानि) व्यतीत हुए (च) और (तव) तुम्हारे (तानिसर्वाणि जन्मानि अहंवेद) उन सब जन्मों को मैं जानता हूं, हे परंतप (त्वं-न वेत्थ) तु उनको नहीं जानता ॥

भाष्य—कृष्णजीका अभिप्राय इस श्लोकमें यह है कि जीवात्मा अनादि होने के कारण तुम्हारे और हमारे बहुत जन्म व्यतीत हुए हैं और मैं उनको योगज सामर्थ्य से जानता हूं अन्य नहीं जानते, जैसेकि आगेजाकर१२वें अध्यायमेंयह कहाहै कि "पश्यमेयोग मैश्वरं" मेरे ईश्वर विषयक योगको तुम देखो । एवंविध ईश्वर विषयक योगसे कृष्णजी ने पूर्वजन्म के ज्ञानों को सूचित कियाहै

किसी और सामर्थ्य के अभिप्राय से नहीं ॥

ननु—"नजायतेम्रियतेवाकदाचन्" इत्यादि श्लोकों में जीवात्मा को अजन्मा सिद्ध कियाहै और आप जैसे योगी पुरुष तो मुक्ति के अधिकारी होते हैं फिर तुम्हारा वारंबार जन्म क्यों होता है ? उत्तर

अजोऽपिसन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि-सन्।प्रकृतिंस्वामधिष्ठायसंभवाम्यात्ममायया

पद०—अजः । अपि । सन् । अव्ययात्मा । भूतानां । ईश्वरः । अपि । सन् । प्रकृतिं । स्वां । अधिष्ठाय । सम्भवामि । आत्ममायया ॥

पदार्थ—(अजः अपि सन्) मैं अज भी हूं और (अव्ययात्मा) मेरा आत्मा विकारसे रहित है (भूतानांईश्वरःअपि सन्) औरमेरा आत्मा मुक्तऐश्वर्य्यकोप्राप्त होने से अन्यभूतों में से ईश्वर है, अर्थात् मुक्त के ऐश्वर्य्य को प्राप्त हो चुका हूं (प्रकृतिंस्वां) अपने पूर्वकर्म रचित स्वभावको (अधिष्ठाय) आश्रयकरके (आत्ममायया) अपने ज्ञान से (सम्भवामि) उत्पन्न होता हूं ॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि यद्यपि मुक्त जीवों में अन्यजीवों के समान जन्ममरणनहीं तथापि मुक्तजीव अपनेस्वभाव को आश्रय करके अपने ज्ञानसे जन्म लेते हैं और उनका वह जन्म संसार के उद्धारके लिये होता है अज्ञानी जीवोंके समान नहींहोता इसीलिये "आत्ममायया" यह शब्द कहा है, मायाशब्द के अर्थ स्वामी शं० चा० ने भी यहां त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही माने हैं, उक्त अर्थों से भिन्न शङ्करमतकी अनिर्वचनीयमायाके अर्थ गीता से सिद्ध करने दुर्घट ही नहीं अपितु असंभव हैं जैसा कि "दैवी

ह्येषागुणमयीममममायादुरत्यया" गी० ७। १४

इत्यादि स्थलों में माया शब्दके अर्थ प्रकृति के ही हैं, प्रकृतिके अर्थ मानकर अवतारवादियों को अवतार सिद्धकरना बड़ा कठिन पड़ जाता है क्योंकि मायावादीलोग माया को ब्रह्ममें स्वाश्रय स्व विषय मानकर ही सब जीव ईश्वरादि भाव ब्रह्मसे सिद्ध करते हैं। इनका सिद्धान्त यह है कि शुद्ध चेतनके आश्रित स्वाश्रय स्वविषय रूपसे माया रहती है और वह माया उसीके आश्रय रहकर उसी को ढ़क लेती है जैसा कि प्रकाशवालेस्थानमें जब एक स्थान निर्माण किया जाता है तो उस स्थान की भीतों के सहारे अंधकार रहता है और उन्हीं को ढ़कलेता है इसका नाम स्वाश्रय स्वविषय है, इस प्रकार स्वाश्रय स्वविषय रूपसे रहनेवाली माया इनके मतमें उस शुद्धब्रह्ममें जीव और ईश्वर दो भेद उत्पन्न कर देती है, जिसकी उपाधि अविद्या है उसको जीव कहते हैं और जिसकी उपाधि माया है उसको ईश्वर कहते हैं। जब इस प्रकार इनके मत में अज्ञान और मोहका नाम माया है तो फिर "मायान्तुप्रकृतिंविद्यात्" यह उपनिषद् वाक्य इनके मतमें कैसे सङ्गत हो सकता है, क्योंकि प्रकृति में तो सत्त्व गुणभी है जिससे अज्ञान और मोह उत्पन्न नहीं होता किन्तु ज्ञान उत्पन्न होता है। इसप्रकार सूक्ष्म विचार करने से यह सिद्ध होता है कि "सम्भवाम्यात्ममायया" के अर्थ जो शङ्करमत में प्रकृति के किये गये हैं वह उनके मतसे सर्वथा विरुद्ध हैं, इसीअभिप्रायसे मधुसूदनस्वामी आदि टीकाकारों ने शङ्करमतका संस्कार करते हुए "मायाह्येषामयासृष्टायन्मामपश्यासिनारद। सर्वभूतगुणै-

युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि" इत्यादि उदाहरण देकर यह सिद्ध कियाहै कि माया के अर्थ यहां अनिर्वचनीय के हैं इसीलिये इसी स्थल में मधुसूदन स्वामी ने यह लिखा है कि :—"विचित्रानेकशक्तिमघटमानघटनापटीयसीं स्वांसोपाधिभूतामधिष्ठाय चिदाभासेनवशीकृत्य सम्भवामितत्परिणामविशेषैरेवदेहवानिवजातइव च भवामि" अर्थ—विचित्र हैं अनेकशक्तियें जिसमें और फिर कैसी है कि (अघटमानघटनापटायसीं) न होने वाली जो घटनाऐं हैं उन में जो पटीयसी नाम चतुर है (स्वांसोपाधिभूतां) जो उस ईश्वर का उपाधि रूपहै, उसको आश्रय करके अर्थात् उस मायामें चेतन का आभास होकर उस मायाके परिणाम विशेषों से देहवान, उत्पन्न केसमान मैंप्रतीतहोताहूंवास्तवमें देहवाला नहीं, इससे पाया गया कि ईश्वर इनके मतमें मायामें प्रतिबिम्बित चेतन कानाम है अन्य किसी विशेष विग्रह धारी का नहीं, फिर "सम्भवाम्यात्ममायया" के अर्थ ईश्वर में कैसे घट सकते हैं क्योंकि इस प्रकरण में तो आगे जाकर "परित्राणायसाधूनां विनाशाय च दुष्कृतां" इत्यादि श्लोकों में यह वर्णन किया है कि साधुओं की रक्षा और दुष्टों के नाश के लिये मैं विग्रहधारण करताहूं और स्वामी शं० चा० तथा उनके चेलोंने कोई विग्रह विशेष नहीं माना, यदि यह कहा जाय कि उनके मतमेंभी कल्पित विग्रह कहाजाता है इसका उत्तर यह है कि इस श्लोक में व्यासजी का कल्पित विग्रह से तात्पर्य्य नहीं और नाही कल्पित साधुओं की रक्षा का

तात्पर्य्य है किन्तु तात्त्विक साधुओं की रक्षा का तात्पर्य्य है, तात्त्विक योग का उपदेश करते हुए कल्पित की कथा कथना सङ्गत प्रतीत नहीं होता, इसीलिये स्वामी रामानुज ने यहां मायाशब्दके अर्थ ज्ञानके कथन किये हैं जैसेकि :—**माया वयुनंज्ञानमितिज्ञानपर्यायोत्तर मायाशब्दः** "माया वयुन, ज्ञान, यह एकही अर्थ के वाचक शब्द हैं। अब अर्थ यह निकला कि मैं अपने ज्ञान से शरीर धारण करता हूं। इससे पाया गया कि यहां मायावादियों के मिथ्यावाद का उपदेश नहीं, फिर अवतारवाद कैसे सिद्ध हो सकता है। क्योंकि इनके मतमें अवतार का शरीर भी तो मायामात्र ही होता है तात्त्विक नहीं, यदि यह कहा जाय कि सभी शरीर मायामात्र हैं, यह इनका सिद्धान्त नहीं, क्योंकि इनका सिद्धान्त यह है कि अवतारों के शरीर माया के और जीवों के भौतिक होते हैं। जैसाकि गी० ४।९ के शङ्करभाष्य में यह लिखा है कि :— "**जन्म मायारूपं कर्म च साधुपरित्राणादि**" इस पर स्वामी शङ्कराचार्य्य के शिष्य आनन्दगिरि यह लिखते हैं कि:—"**मायामयमीश्वरस्य जन्म न वास्तवं**" ईश्वर का शरीर मायामय है वास्तव नहीं, और फिर यह लिखते हैं कि "**मायामयंकल्पितमितियावत्**" मायामय के अर्थ कल्पित के हैं, जब यहां यह पूछा जाता है कि ईश्वर की कल्पना से ईश्वर का जन्म है वा जीव की कल्पना से? यदि ईश्वर की कल्पना से ईश्वर का जन्म है तो ईश्वर को सत्यसङ्कल्प कैसे कहा जाता है क्योंकि यह जन्मरूपी कल्पना तो मायावादियों के मतमें मिथ्या है। यदि जीव की कल्पना से ईश्वर का जन्म मानें तो जीव की

कल्पना द्वारा कल्पित जन्मों से साधुओं का परित्राण और दुष्टों का नाश कैसे हो सकता है? क्योंकि ऐसी मिथ्या कल्पनाएं तो स्वप्नादि अवस्थाओं में अनेकधा होती रहती हैं, उनसे साधुओं का परित्राण और देश का कल्याण कदापि नहीं हो सकता। एवं इस मायावाद की कल्पना पर यदि विकल्प किये जायें तो कदलीस्तम्भ के समान इसका सार कुछ नहीं निकलता ॥

तत्त्व यहहै कि यहां योग को सनातन कथन करतेहुए योगियों के महत्व को वर्णन किया है कि योगीजन स्वेच्छा से साधुओं के परित्राण और देश के कल्याण के लिये जन्मधारण करते हैं और योगकी समाधि से उनको सिद्धि प्राप्त होती है जैसाकि:— 'जन्मौषधिमन्त्र तपः समाधिजासिद्धयः' यो० स० पा० में यह लिखा है कि जन्म, औषधि, मन्त्र, तप, समाधि, इन साधनों से सिद्धियें होती हैं और छान्दोग्यके षष्ठम प्रपाठक में आत्मरति वाले पुरुष को स्वराट् और स्वेच्छाचारी होनालिखा है, आत्मरति—परमात्मा में परमप्रीति ही परमसमाधि है, ऐसा योगी पुरुष साधुओं के परित्राण के लिये जन्मधारण करता है ॥

सं—ननु, उसको जन्मधारण की आवश्यकता कब २ पड़ती है? उत्तर:—

यदायदाहि धर्मस्यग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृज्याम्यहम् ॥ ७ ॥

पद०—यदा। यदा। हि। धर्मस्य। ग्लानिः। भवति। भारत। अभ्युत्थानं। अधर्मस्य। तदा। आत्मानं। सृजामि। अहं ॥

पदार्थ—हे भारत (यदायदाहि) जब२ (धर्मस्य) धर्म की (ग्लानिः) हानि (भवति) होती है और (अधर्मस्य अभ्युत्थानं) अधर्म का जब अभ्युत्थान होता है अर्थात् जब अधर्म बढ़जाता है (तदा) तब (अहं) मैं (आत्मानं) आत्माको (सृजामि) रचता हूं अर्थात् शरीर धारण करता हूं। किस २ प्रयोजन के लिये ?

परित्राणायसाधूनां विनाशायचदुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थायसंभवामि युगे युगे ॥८॥

पद०-परित्राणाय । साधूनां । विनाशाय । च । दुष्कृतां । धर्मसंस्थापनार्थाय । संभवामि । युगे । युगे ॥

पदार्थ-(साधुनां) साधुओं की (परित्राणाय) रक्षा के लिये (च) और (दुष्कृतां) पापियों के (विनशाय) विनाशके लिये (धर्मसंस्थापनार्थाय) धर्म के स्थापन के लिये (युगे युगे) प्रत्येक युग में (संभवामि) होता हूं ॥

भाष्य—इस श्लोक में योगियों के जन्म का हेतु धर्म रक्षा बतलाया है। इन श्लोकों को अवतार वादी लोग अवतार में लगातेहैं, वह लोग यह अर्थ करते हैं कि जब २ धर्म की ग्लानि होती है तब२ परमेश्वर अधर्म के नाश के लिये अवतार धारण करता है। पर इस नियम को वह अपने सम्पूर्ण अवतारों में नहीं घटा सक्ते क्योंकि उनके मत में बुद्ध ने कौनसे अधर्म के नाश के लिये अवतार लिया, और परशुराम ने कौनसे साधुओं का परित्राण और देश का क्या कल्याण किया, मोहिनी ने किसके मोहको को दूर किया। इत्यादि अनेक दोष इनके ईश्वरावतार विषय में हैं, जिन का समाधान इनके पास कोई नहीं। हमारे मतमें तो जो योगज सामर्थ्य वाले पुरुष साधुओं के परित्राण और देश के कल्याण

के लिये जन्म धारण करते हैं वे सभी अवतार हैं। यदि इन की कल्पना के अनुकूल ईश्वर का अवतारमाना भी जाय तो फिर धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि समय में उस ईश्वर ने अवतार क्यों न लिया? क्या कोई कहसक्ता है कि सोमनाथ और विश्वनाथ का मन्दिर टूटना धर्म की हानि न थी? अधिक क्या जिस समय पौराणिक विचार के अनुकूल दुर्योधनादि दुष्टों के कारण धर्म की हानि हुई उससमय तो परमेश्वरने एक नहीं अनेक अवतार धारण किये अर्थात् महाभारत के समय कृष्ण अवतार, व्यास अवतार, नारदअवतार, ऐसे २ अनेक अवतार थे, पर जब दुर्योधन से दारुण दुःख देनेवाले धर्म कर्म के शत्रु उत्पन्न हुए तबसे एकभी अवतार दृष्टि नहीं पड़ा, यदिकोई हमसे पूछेकि तुम्हारे योगियों ने उस समय अवतार क्यों नहीं धारण किये? तो उत्तर यह है कि हमारे मतानुकूल तो समयसमय पर योगीजन अवतार लेतेहीरहते हैं, जैसा कि :—

इन्दवछन्द

विप्रगोदुःखदूरकियाजिन दैत्यम्लेच्छन को दण्ड दीना। दीनउद्धारकरीधरणीजिन देशसुधार को मारगलीना॥ नभधूड़म्लेछसेपूर्णथाजिनमेघघटा वननिर्मलकीना। इनकेअवतारभएसगरेजिनभारतआरतकादुःखछीना॥

उक्तगुणों वाले अवतारोंका वीज यहांकृष्णजी ने सूचितकिया है जगज्जन्मादि हेतु ईश्वरका जन्मगन्धमात्रभीनिरूपणनहीं किया॥

जिस ईश्वर को कृष्णजी "सर्वत्रगमचिन्त्यंचकूटस्थमचलंध्रुवम्" गी० १२।३ इन शब्दों से निरूपण करते हैं कि जो सर्व व्यापक है, अचिन्त्य है, (कूटस्थ) चैतन्यघन है, (अचल) निश्चल है, और (ध्रुवं) परिणाम रहित है, इत्यादि विशेषणविशिष्ट ईश्वर का जन्म मरणादि कौन निरूपण कर सकता है। इसी अभिप्रायसेपरमेश्वरको यहां अक्षर,अनिर्देश्य और अव्यक्त कहागया है और जिस औपनिषद पुरुष को उपनिषद् वाक्य "यतोवाचोनिवर्तन्ते अप्राप्यमनसासह" तै० २।४।१ इत्यादि वाक्यों में मनवाणीका अविषय वर्णन करते हैं फिर वह जन्ममरण वाला कैसे हो सकता है॥

ननु—इस अक्षर अव्यक्त की उपासना वालोंको भी कृष्णजी ने कहा है कि वह भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। इस कथनसे पाया जाता है कि वह अक्षर कृष्णजी से भिन्न नहीं। निर्गुण होने से उसी को अक्षर कहा जाता है और सगुण होने से उसी को अवतार कहा जाता है? उत्तर—कृष्णजीने जो अक्षरके उपासकोंको यह कहा है कि वहभी मुझेही प्राप्त होते हैं, यहअपने मतकोवैदिक होने के अभिप्राय से कहा है अर्थात् कर्मयोग और ज्ञानयोग रूपी मेरा मत ईश्वर के रास्ते से भिन्न नहीं, अन्यथा यदि ऐसा न होता तो यह न कहते कि:—"ईश्वरःसर्वभूतानांहृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानियंत्रारूढ़ानिमायया॥ गी० १८।६१ अर्थ—हे अर्जुन ईश्वर सब प्राणियों को अपने (माया) ज्ञानरूपी यन्त्रसे चलाता हुआ सब प्राणियों के हृदय देशमें स्थिरहै, सर्वभाव से तु उसीकी शरण

को प्राप्त हो। इस कथन ने इस बातको सिद्ध करदिया कि कृष्ण जी अपने आपको ईश्वर कदापि नहीं मानते और "ईश्वरः सर्वभूतानांहृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति" इत्यादि कथन और विचार न केवल कृष्णजी और व्यासजी का है अपितु "यःपृथिव्यांतिष्ठन्पृथिव्याअन्तरो यंपृथिवी न वेद यस्यपृथिवीशरीरं" बृ० ३।७।३ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में भी यह विषय वर्णित है, आशय यह है कि जो पृथिवी के भीतर रहता है और पृथिवी जिसको नहीं जानती, और जो पृथिवी आदिकों का नियन्ता है वह तुम्हारा अन्तर्यामीपरमात्मा है। और जोकईएक स्थलों में कृष्ण जी ने अपनेआपको ईश्वरभावसेकथन कियाहै वह तद्धर्मतापत्ति के अभिप्रायसे है अर्थात् परमात्मा के अपहतपाप्मादि दिव्य गुणों के धारण करने से कृष्णजी ने अहंभाव का उपदेश किया है जैसाकि :— "सहोवाचप्राणोऽस्मिप्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतामित्युपास्व" कौ० ३।२ अर्थ—जैसाकि इन्द्र ने प्रतर्दन को कहा है कि मैं प्राणरूप प्रज्ञात्मा हूं तुम मेरी उपासना करो, इसका निर्णय महर्षि व्यास ने "प्राणस्तथानुगमात्" ब्र० सू० १।१।२८ में यह किया है कि प्राण यहां ब्रह्म का नाम है। फिर इससे यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि इन्द्र ने अपने आपको प्राण क्यों कहा ? इसका उत्तर "नवक्तुरात्मोपदेशादितिचेदध्यात्मसम्बन्ध भूमाह्यस्मिन्" ब्र० सू० १।१।२९ अर्थ—वक्ता इद्र ने यहां अपने आपको प्राणरूप से कथन किया है (इतिचेत्) यदि ऐसा

कहाजाय तो (न) यह ठीक नहीं, क्योंकि परमात्मा विषयक जो अध्यात्मिक सम्बन्ध का भूमा नाम बाहुल्य है उसके अभिप्रायसे यहां इन्द्र ने अपने आपको प्राण कहा है अर्थात् ईश्वर के गुणों को धारण करके यहां इन्द्र अपने आपको ईश्वरवाची शब्दों से कथन करता है, इस बातको हम वेदान्तार्य्यभाष्य के इन्द्रप्रतर्दनाधिकरण में स्पष्ट रीतिसे लिख आए हैं जिनको सन्देह हो देख लें, इसी भावसे कृष्णजीने अनेक स्थलों में अपने आपको ईश्वर भाव से कथन किया है, अन्यथा जब गीता उपनिषदर्थका संग्रह माना जाता है तो फिर वह कौनसा उपनिषद् का स्थलहै जिसमें नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव ईश्वरका जन्मवर्णन किया है, हां इस बातका वर्णन उपनिषदों के अनेक स्थलों में आता है कि जहां ऋषियों ने ईश्वरीय गुणों को धारण करके ईश्वर की अहंग्रह उपासना की है अर्थात् आत्मत्वेन उपासना की है जैसाकिः—

"त्वंवाअहमस्मिभगवोदेवतेअहंवैत्वमसि" इत्यादि स्थलों में ईश्वर और अपने आपको अभेदसे कथन किया है, यही औपनिषद् भाव गीतामेंआयाहै फिर इसमें अवतारकी कथा क्या?

इसी भाव से कृष्णजीने आगे के श्लोक में अपने जन्मकर्म को दिव्यरूप से वर्णन किया है। दिव्य के अर्थ यह हैं कि जो अप्राकृत हो अर्थात् प्रकृति के विग्रहवाले मनुष्यों में जो जन्म और कर्म न पाया जाता हो, यदि कृष्णजी अपने आप को परमेश्वर समझते तो जन्मकर्म के लिये दिव्य विशेषण क्यों देते? क्योंकि वह तो बने तने ही परमेश्वर थे फिर जन्मकर्म के लिये दिव्य विशेषण देने की क्या आवश्यकता थी, श्लोकार्थ यह है:—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।९

पद०—जन्म । कर्म । च । मे । दिव्यं । एवं । यः । वेत्ति । तत्त्वतः । त्यक्त्वा । देहं । पुनः । जन्म । न । एति । मां । एति । सः । अर्जुन ॥

पदार्थ—(जन्म) पूर्व प्रारब्ध कर्मों से शरीर और जीवात्मा का सम्बन्ध और (कर्म) धर्मका उद्धार तथा अधर्म के नाश के लिये जो दुष्ट हननादि कर्म (मे) मेरे हैं, उनको (यः) जो पुरुष (तत्त्वतः) यथार्थपन से (वेत्ति) जानता है, हे अर्जुन (सः) वह (देहं त्यक्त्वा) देहको छोड़कर (पुनःजन्म) पुनर्जन्म को (न एति) प्राप्त नहीं होता (मां एति) मुझको प्राप्त होता है ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवोज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।१०।

पद०—वीतरागभयक्रोधाः । मन्मयाः । मां । उपाश्रिताः । बहवः । ज्ञानतपसा । पूताः । मद्भावं । आगताः ॥

पदार्थ—(वीतरागभयक्रोधाः) राग-प्रीति भय-दूसरों से डरना और क्रोध यह वीत नाम दूर होगए हैं जिनके (मन्मयाः) मेरेगुणों को धारण करने से जो मेरारूप होगए हैं और (मां उपाश्रिताः) मुझको अपना पथदर्शक मानकर जिन्होंने आश्रय किया है ऐसे पुरुष (बहवः) बहुत (ज्ञानतपसा) ज्ञानरूपी तप से (पूताः) पवित्र हुए (मद्भावं) मेरे भावों को अर्थात् ज्ञान योग और कर्मयोगादि मेरे आशयों को (आगताः) प्राप्त हुए हैं ॥

भाष्य—स्वामी शङ्कराचार्य्य ने इस श्लोक में "मन्मया" के यह अर्थ किये हैं कि :—"मन्मया ब्रह्मविद ईश्वराभेद दर्शिनो मामेव परमेश्वरमुपाश्रिताः केवलज्ञान

निष्ठाइत्यर्थः" अर्थ—जो जीव ईश्वर के अभेद देखने वाले ब्रह्मवेत्ता हैं अर्थात् जिनके मत में जीवब्रह्म एक है उन्होंने केवल मुझ परमेश्वर को आश्रय किया है अर्थात् वह केवल ज्ञाननिष्ठ हैं॥

जीव ब्रह्मके अभेद का यहां गन्धमात्र भी नहीं, जिसको उक्त स्वामी जी ने बड़े बल पूर्वक सिद्ध किया है, यहां साधुओं के परित्राण और देश के कल्याण की कथा और कहां स्वयं ब्रह्म बनना। यदि येन केन प्रकार से इस दशमश्लोक का यह अर्थ मान भी लिया जाय तो फिर आगे के ११वें श्लोक का क्या अर्थ? जिसमें यह लिखा है कि:—"येयथामांप्रपद्यन्तेतांस्तथैवभजाम्यहम्" स्वामी शं०चा० इसकी सङ्गति यों मिलाते हैं कि:—"तवतर्हिरागद्वेषौस्तः येन केभ्यश्चिदेवात्मभावं प्रयच्छसि न सर्वेभ्यः" अर्थ—तबतुमको राग द्वेष हुआ, जो किसी एक को तो जीव ब्रह्म के ऐक्य ज्ञान से मुक्ति देते हो और किसी को नहीं? इस शंका का उत्तर स्वामी यह देते हैं कि नहीं जो जिस मार्ग से आते हैं सब मुझे ही प्राप्त होते हैं। यहां इस श्लोक में आकर तो स्वामीजी ने अपनी सारी दृढ़ता छोड़दी अर्थात् केवल ज्ञाननिष्ठा से मुक्ति मानने वाले स्वामी ने यहां अपनी इतनी उदारता दिखलाई है कि अधिकारी अनधिकारी ठग चोर सबको मोक्षमार्ग के यात्री बनाकर संसार सागर से पार कर दिया है, अस्तु हमें इससे क्या, केवल ज्ञानसे मुक्ति की प्रतिज्ञा तो यहां उन्हीं की टूटती है, हमको यहां इतना प्रतीत हुआ है कि जीव को ब्रह्म बनाने का यत्न स्वामी और स्वामी के शिष्यों को ऐसा सूझता है कि जिससे येन केन प्रकार से अर्थाभास करके जीव को मनोरथमात्र का ब्रह्म बनाही लेते हैं

देखो मधुसूदन स्वामी 'मन्मया' के यह अर्थ करते हैं "मां परमात्मानं तत्पदार्थं त्वं पदार्थाभेदेनसाक्षात्कृतवन्तः" अर्थ–मैं परमेश्वर जो "तत्" पदका अर्थहूं और "त्वं" पद का अर्थ जो जीव है, उक्त तत् पद और त्वं पदके अर्थको जिन्हों ने साक्षात्कार किया है उनको "मन्मया" कहा है। भला यहां "तत्त्वमसि" के अखण्डार्थ की क्या कथा? पर ठीक है "तत्त्वमसि" में अखण्डार्थ मानने वालों का विना खेंचसे निर्वाह कैसे "तत्त्वमसि" जो छान्दोग्य के षष्ठम् प्रपाठक का वाक्य है वहां इसके अर्थ यह हैं कि तत् नाम वह जीवात्मा त्वं नाम तू है, इस प्रकार यहां सामानाधिकरण है। मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि (तत्) वह परमेश्वर (त्वं) तू है, इस अर्थ में तत् शब्द का वाच्य जो ईश्वर है वह सर्वज्ञ है और त्वंपद का वाच्य जो जीव है वह अल्पज्ञ है, इसलिये मायावादी लोग यहां भागत्यागलक्षणा मानते हैं। भागत्यागलक्षणा–उस को कहते हैं कि जहां एक भाग का त्याग और एक का ग्रहण किया जाता है जैसेकि सोऽयंदेवदत्त में तद्देश और एतद्देशरूपी भाग को छोड़कर लक्ष्यमात्र देवदत्त नामवाला पुरुष लियाजाता है, इसी प्रकार यहां प्रकृत में तत् पदवाच्य ईश्वरकी सर्वज्ञता छोड़कर और त्वं पद वाच्य जीवकी अल्पज्ञता छोड़कर चेतनमात्र जो एक लक्ष्यार्थ है उसका बोध जिससे हो उसकानाम भागत्यागलक्षणा है। ऐसी क्लिष्टकल्पनाकरकेयहां मायावादियों ने जीवब्रह्म की एकतासिद्ध करने का यत्न किया है जो इनके माने हुए षड्लिङ्गों से सिद्ध नहीं होती॥

षट्लिङ्ग यह हैं (१) उपक्रमउपसंहारकीएकरूपता (२) अभ्यास (३) अपूर्वता (४) फल (५) अर्थवाद (६) उपपत्ति (१) (उपक्रम) प्रारम्भ और (उपसंहार) समाप्ति, जहां उपक्रम और उपसंहार से एकरूपता पाई जाय उसका नाम उपक्रम उपसंहार की एकरूपता है (२) पुनः २ कथनका नाम अभ्यास है (३) जो वस्तु प्रथमज्ञात न हो अर्थात् पूर्वज्ञात पदार्थ से नई हो उसको अपूर्वता कहते हैं (४) फल-जिससे कुछ प्रयोजन सिद्ध हो (५) स्तुति वा निन्दा के अभिप्राय से किसी वस्तु को उसके अस्तित्व से अधिक कथन किये जाने का नाम अर्थवाद है (६) उक्त अर्थ की अनुकूल युक्ति को उपपत्ति कहते हैं ॥

प्रकरण में इन षट्विधलिङ्गों से आधुनिक वेदान्तियों का अवतारवाद वा ब्रह्मवाद सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उपक्रम और उपसंहार इस अध्याय में योग का है जैसाकि :—"इमंविवस्वतेयोगं प्रोक्तवानहमव्ययम्" गी० ४। १ और "छित्त्वैनंसंशयंयोगमातिष्ठोत्तिष्ठभारत" गी० ४।४२ इस प्रकार यहां उपक्रमयोग से है और उपसंहार भी योग से है और मध्य में भी वारंवार ज्ञानयोग और कर्मयोगका वर्णन है इस लिये अभ्यास भी योगकाही है। अपूर्वता—यह है कि यह वैदिकयोगबिना वैदिकग्रन्थ अथवा उपदेष्टाके स्वयं नहीं आसकता। फल—इसमें यह है कि तद्धर्मतापत्तिरूपी मुक्ति का प्रयोजन इससे सिद्ध होता है। अर्थवाद — इसमें यह है, जैसा कि गी० ४। २३ में यह कहा है कि ज्ञानरूपी यज्ञ में जिनका मन स्थिर है उनके सम्पूर्ण कर्म लयको प्राप्त हो जाते हैं। उपपत्ति—यह

है कि जिस प्रकार सांसारिक अर्थ की सिद्धि के लिये कोई पुरुष किसी अर्थवाले पुरुष के योग से बिना कृतार्थ नहीं होता, इसी प्रकार मुक्तिरूपी अर्थ में भी नित्य शुद्ध बुद्ध, मुक्त स्वभाव परमात्मा के योगसे विना कदापि कृतार्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार तात्पर्य्य के निश्चायक जो उक्त षट् लिङ्ग हैं उनसे अवतार वाद और जीव ब्रह्म की एकतारूपवाद का अंशमात्र भी इस चतुर्थाध्याय में नहीं पाया जाता और यदि होतातो "ये यथा मांप्रपद्यन्तेतांस्तथैवभजाम्यहं" गी० ४। ११ इसमें शङ्करमतानुकूल इतनी स्वतन्त्रता क्यों दी जाती कि चाहे कोई किसी मार्ग से आए सभी रास्ते परमेश्वर की प्राप्ति के हैं। इस श्लोक की पूर्वश्लोक से सङ्गति यह है :—

सं०—ननु "वहवोज्ञानतपसापूतामद्भावमागताः" इस पूर्व श्लोक में ज्ञानरूपी तप से तद्धर्मतापत्तिरूप मोक्ष का वर्णन किया है अर्थात् ज्ञानसे ही मनुष्य पवित्र भावों को प्राप्त होता है फिर "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताजनकादयः" गीता० ३।२० में यह कैसे कथन किया कि कर्म से ही जनकादि सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। इसके उत्तर में यह श्लोक है कि:—

येयथामांप्रपद्यंतेतांस्तथैवभजाम्यहम्। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याःपार्थ सर्वशः॥११॥

पद०—ये। यथा। मां। प्रपद्यन्ते। तान्। तथा। एव। भजामि। अहं। मम। वर्त्म। अनुवर्तन्ते। मनुष्याः पार्थ। सर्वशः॥

पदार्थ—हे पार्थ (ये) जो मनुष्य (यथा) जिस प्रकार (मां) मुझको (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (तान्) उनको (तथाएव) वैसे ही

(अहंभजामि) मैं ग्रहण करता हूं (मम) मेरा (वर्त्म) जो मार्ग है उसको (सर्वशः मनुष्याः) सब मनुष्य अनुवर्तन्ते नाम आश्रय करते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में (ये यथा) के अर्थ यह हैं कि ज्ञानयोग और कर्मयोगरूपी दोनों प्रकार के मार्गों में से जो जिस प्रकार मुझको प्राप्त होते हैं उनको उसी प्रकार मैं ग्रहण करता हूं अर्थात् दोनों ही मार्ग मेरी प्राप्ति के हेतु हैं। इससे पूर्वश्लोक में ज्ञान का प्रभाव अधिक कथन किया था, इसलिये कर्मयोग की न्यूनता पाई जाती थी जिसको उत्तरश्लोक में "क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा" यह कथन करके पूर्ण किया है, एवं पूर्वोत्तर श्लोकों से यह पाया गया कि यहां ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दो मार्गों के अभिप्राय से 'येयथा मांप्रपद्यन्ते' यह कथन कियाहै। यदि आजकल के सर्वतन्त्र के एकरस श्रद्धालुओं के अनुकूल इस श्लोक के यह अर्थ लिये जायं कि जो कोई ऊंचनीच किसी मार्ग से आता है वह सब कृष्णजी के मार्ग को ही प्राप्त होता है तो कृष्णजी ने गी० १८।६६ में यह क्यों कहा कि:—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणंव्रज" सब धर्मों को छोड़कर तु एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो। जब सब मार्ग उसकी प्राप्ति का उपाय हैं तो फिर उनके छोड़ने का उपदेश क्यों करना था? कृष्णजी का उपदेश यह नहीं कि कोई उलटे सीधे किसी मार्ग से चले वह सब मार्ग परमेश्वर प्राप्ति के हेतु हैं किन्तु कृष्णजी यह मानते हैं कि एक वैदिकधर्म से भिन्न जो कल्पित धर्मों को धर्म मानता है उसका कल्याण कदापि न होगा, इसी अभिप्राय से "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शर

णं व्रज" यह कथन किया है। और स्वामी शङ्कराचार्य्य ने भी "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इस श्लोक के अर्थ प्रयोजनत्वाधिकरण में यह किये हैं कि जो परमेश्वर को पुण्यात्मा होकर मिलता है उसको परमात्मा सुख देता है और जो पापात्मा होकर मिलता है उसको दुःख देता है। यहां स्वामी शङ्कराचार्य्य ने भी "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इस श्लोक के मर्यादा शून्यार्थों को वैदिक मर्यादा से बांध दिया। अस्तु प्रसङ्ग सङ्गति से यहां इतना अर्थाभास का विचार आनपड़ा, प्रकृत यह है कि यहां कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों मार्गोंका आश्रयण इष्ट है॥

कांक्षंतः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रंहि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।१२

पद०—कांक्षंतः। कर्मणां। सिद्धिं। यजन्ते। इह। देवताः। क्षिप्रं। हि। मानुषे। लोके। सिद्धिः। भवति। कर्मजा॥

पदार्थ—(कर्मणां) कर्मों की (सिद्धिं) सिद्धिको (काङ्क्षन्तः) चाहते हुए (इह) इसलोक में (देवताःयजन्ते) देवताओं का यज्ञ करते हैं अर्थात् देवता शब्दका वाच्य जो इन्द्रियें उनको यज्ञादि कर्मोंद्वारा प्रौढ़ करके कर्मके योग्य बनाते हैं जैसेकि :—"श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्येसंयमाग्निषुजुह्वति" गी० ४।२६ और लोग श्रोत्रादि इन्द्रियों को संयमरूप अग्नि में हवन कर देते हैं॥

देव शब्द इन्द्रियों का भी वाचक है जिसके प्रमाण में यह वेद मन्त्र भी है :—"नैनद्देवाप्राप्नुवन्पूर्वमर्षत्" यजु० ४०।४ पूर्व जो उस स्थान पर व्यापक है उसको (देव) इन्द्रिय नहीं प्राप्त

हो सकते (क्षिप्रं) शीघ्र (हि) निश्चय करके (मानुषेलोके) मनुष्य लोक में (कर्मजा सिद्धिःभवति) कर्मसे उत्पन्न होने वाली सिद्धि शीघ्र होती है ॥

सं०—ननु तुमने जो यह कहा कि "यजन्तइहदेवता" इसमें देवताओं के यज्ञ करनेवालों की सिद्धि शीघ्र होजाती है पर देवताओं का यज्ञ सब तो नहीं कर सकते ? क्योंकि तुम्हारे यज्ञादि कर्मों में भी तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, को ही अधिकार है, जो विचारे जन्म के शूद्र हैं उनके लिये तो शीघ्र होने वाली कर्म की सिद्धि का कोई उपाय न हुआ ? उत्तर

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्यकर्त्तारमपिमां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् १३

पद०—चातुर्वर्ण्यं । मया । सृष्टं । गुणकर्मविभागशः । तस्य । कर्त्तारं । अपि । मां । विद्धि । अकर्त्तारं । अव्ययं ॥

पदार्थ—(चातुर्वर्ण्यं) चारो वर्णों के भावको अर्थात् ब्रह्मणत्व क्षत्रियत्वादि धर्मों को (गुणकर्मविभागशः) गुण और कर्मों के विभागसे अर्थात् गुणकर्मों के भेद से (मयासृष्टं) मैंने बनाया है (तस्य) वहगुणकर्मरूपी जो भेद है उसका (कर्त्तारं) कर्त्ता(अपि) भी (मां) मुझको (विद्धि) जानो, मैं कैसा हूं (अकर्त्तारं) वास्तव में कर्त्ता नहीं हूं फिर कैसा हूं, (अव्ययं) विकार रहित हूं ॥

भाष्य—इस श्लोक में इस बातको वर्णन किया है कि ब्राह्मणत्व क्षात्रियत्वादि धर्म गुण कर्मके विभागसे होते हैं अर्थात् शम दमादि जिसके स्वाभाविक होते हैं वह ब्राह्मण होता है और शौर्य्य, तेज, धृति, चातुर्य्यादि जिसके स्वाभाविक होते हैं वह

क्षत्रिय होता है। जिसकी प्रवृत्ति खेती, गौओं की रक्षा, वाणिक वृत्ति, इत्यादि कर्मों में होती है वह वैश्य और जिसका केवल दूसरे की सेवा करना ही स्वभाव सिद्ध है और कोई गुण नहीं वह शूद्र है। इसप्रकार स्वाभाविक गुणों के भेदसे मैंने ब्राह्मण क्षत्रियादिकों को वर्णन किया है। इस चातुर्वर्ण के भावका कथन करदेने से मुझे कर्त्ता समझो पर वास्तव में कर्त्ता मत समझो। इस कथन से इस बातको सिद्ध किया कि स्वाभाविक गुणकर्म के विभाग से वर्णव्यवस्था अनादिकालसे चली आती है, अपनेको कर्त्ता केवल उसके वर्णन करने के अभिप्राय से कथन किया है। शङ्करभाष्य में इसश्लोक को गुणकर्मसिद्ध वर्णव्यवस्था पर नहीं लगाया किन्तु इस बात पर लगाया है कि लोग तुम्हारे मार्गपर ही क्यों चलते हैं? यह शङ्का करके उत्तर यह दिया है कि वर्णाश्रमों को मैंने रचा है इस लिये सब लोग मेरे ही अनुकूल चलते हैं। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि यह भाव होतातो स्वाभाविक ही सब लोग कृष्णजीके उपदेश किये हुए मार्ग पर चलते, और यदि ऐसाहोता तो "सर्वधर्मान्परित्यज्य" इत्यादि श्लोकों में इतर धर्मों को छुड़ाकर एक धर्म का उपदेश क्यों किया जाता, इसलिये जिस प्रकार शङ्करभाष्यादिकों में इसकी सङ्गति लगाई है वह ठीक नहीं बैठती, यहां इस श्लोक की सङ्गति वही है जो हमने यज्ञादिकर्मोंमें आक्षेप उठाकरवर्णनकी है और "ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्बाहूराजन्यःकृतः" यजु० ३१। ११ यह मंत्र इस श्लोक का वीज है, इस मंत्र में भी स्वभावसिद्ध ब्राह्मणादि वर्णों का भेद वर्णन किया है जन्म से नहीं॥

सं०—इसी कर्मयोगके प्रसङ्ग में कर्मों का महत्त्व दिखलाते हुए

यह कथन करते हैं कि :—

न मां कर्माणि लिंपंति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इतिमांयोऽभिजानातिकर्मभिर्नसबद्ध्यते १४

पद०—न । मां । कर्माणि । लिम्पन्ति । न । मे । कर्मफले । स्पृहा । इति । मां । यः । अभिजानाति । कर्मभिः । न । सः । बद्ध्यते॥

पदार्थ—(मां) मुझको (कर्माणि) कर्म (न लिम्पन्ति) स्पर्श नहीं करते और न (मे) मेरी (कर्मफले) कर्मों के फलमें (स्पृहा) इच्छा है (इति) इसप्रकार (यः) जो (मां) मुझको (अभिजानाति) जानता है (कर्मभिः) कर्मों के साथ (सः) वह (न बद्ध्यते) बंधन को प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य—इस श्लोकका तत्त्व यह है कि मैं निष्कामकर्म करता हूं इसलिये न तो कर्म मुझे बन्धनमें डालते हैं और न मुझे कर्मों की इच्छा होती है, इस प्रकार जो मेरी निष्काम कर्म की फ़िलासफ़ी को जानता है वह कर्मों के बन्धन में नहीं आता अर्थात् वह सदा निष्काम कर्म करता है ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।१५।

पद०—एवं । ज्ञात्वा । कृतं । कर्म । पूर्वैः । अपि । मुमुक्षुभिः । कुरु । कर्म । एव । तस्मात् । त्वं । पूर्वैः । पूर्वतरं । कृतं ॥

पदार्थ—(पूर्वैः) पहले (मुमुक्षुभिः) मुक्तिकीइच्छा करनेवालों ने (एवं) इस प्रकार (ज्ञात्वा) जानकर (कर्मकृतं) कर्म किये हैं (तस्मात्) इसलिये (त्वं) तु (कर्मएवकुरु) कर्म ही कर (पूर्वैः-पूर्वतरं कृतं) पहले लोगों ने पूर्वयुगों में ऐसा ही किया है ॥

सं०—ननु तुम वारंवार कर्मों के करने का उपदेश करते हो इसमें क्या अपूर्वता है ? इसको तो सभी जानते हैं कि कर्म करने अच्छे हैं इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं, फिर वार २ कर्मों का उपदेश क्यों ? उत्तर

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः । तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् । १६

पद०—किं । कर्म । किं । अकर्म । इति । कवयः । अपि । अत्र । मोहिताः । तत् । ते । कर्म । प्रवक्ष्यामि । यत् । ज्ञात्वा । मोक्ष्यसे । अशुभात् ॥

पदार्थ—(किं कर्म) वास्तव में कर्म क्या है (किं अकर्म) और वास्तव में अकर्म नाम न करने योग्य क्या है (कवयः) बुद्धिमान् (अपि) भी (अत्र) इस विषय में (मोहिताः) मोह को प्राप्त हैं (तत्) इसलिये (ते) तुमको (कर्मप्रवक्ष्यामि) कर्मोंका व्याख्यान करता हूं (यत्ज्ञात्वा) जिसकोजानकर (अशुभात्) मन्दकर्मों से (मोक्ष्यसे) छूट जाओगे ॥

भाष्य—क्या कर्तव्य है और क्या नहीं, इसमें वहुत से लोग भ्रम में पड़े हुए हैं, इसलिये कृष्णजी ने कहा कि मैं तुमको कर्मों की फ़िलासफ़ी वतलाता हूं जिसको जानकर अशुभ कर्मों से सर्वथा छूट जाओगे ॥

सं०—ननु देह इन्द्रियादिकों के व्यापारका नाम कर्म है और उस व्यापार के न करने का नाम अकर्म है, इसको सभी जानते हैं फिर इस फ़िलासफ़ी में क्या गूढ़ता है ? उत्तर

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

पद०—कर्मणः । हि । अपि । वोद्धव्यं । वोद्धव्यं । च । विकर्मणः । अकर्मणः । च । वोद्धव्यं । गहना । कर्मणः । गतिः ॥

पदार्थ—(हि) जिसलिये (कर्मणाः) शास्त्रविहित जो कर्म हैं उनका तत्त्व (अपि) भी (वोद्धव्यं) जानने योग्य है (च) और (विकर्मणः) शास्त्रसे प्रतिषिद्धजो कर्म हैं उनकातत्त्वभी (वोद्धव्यं) जानने योग्य है (च) और (अकर्मणः) जो न करना अर्थात्कर्मों का अभाव वह भी जानने योग्य है (कर्मणः) कर्मों की (गति) ज्ञान (गहना) बहुत गहरा है ॥

भाष्य—**कर्म, विकर्म, अकर्म,** यह तीन प्रकार के कर्म्म हैं। **कर्म**—वह हैं जो करने योग्य हैं और **विकर्म**—वह हैं जो शास्त्रसे निषिद्ध हैं और **अकर्म**—वह जिनकी न विधि न निषेध है। जैसे कि सन्ध्या वन्दन और शमदमादि जो वर्ण चतुष्टय के धर्म हैं वह शास्त्र प्रतिपाद्य होने से कर्म कहलाते हैं, और महापातकादि शास्त्र निषिद्ध अधर्म का जनक होने से विकर्म कहलाते हैं, और यथेष्ठकर्म जो विधि निषेध से भिन्न हैं,जैसे रात को खाना दिनको खाना, श्वेतपीतादिपहरना इत्यादि विधिनिषेध शून्य होने से अकर्म कहलाते हैं। इसप्रकार तीनों प्रकारके कर्मों का तत्त्व जानने से विना पुरुष कर्म करने में चतुर नहीं होता, इसलिये कर्मों की गतिको "**गहनाकर्मणोगति**" कहा है॥

इन तीनों प्रकारके कर्मों के तत्त्व जानने का प्रकार यह है :—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

सबुद्धिमान्मनुष्येषुसयुक्तःकृत्स्नकर्मकृत्।१८

पद०—कर्मणि । अकर्म । यः । पश्येत् । अकर्मणि । च । कर्म । यः । सः । बुद्धिमान् । मनुष्येषु । सः । युक्तः । कृत्स्नकर्मकृत्॥

पदार्थ—(कर्मणि) कर्मों में (अकर्म) अकर्म को (यः) जो (पश्येत्) देखे और (अकर्मणि च) अकर्म में (कर्म यः) कर्म को देखे (सःमनुष्येषु बुद्धिमान्) वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है (सःयुक्तः) वही योगी है और वही (कृत्स्नकर्मकृत्) सबकर्मोंके करनेवाला है॥

भाष्य—यह श्लोक ज्ञान और कर्म के समुच्चय का विधान करता है कि कर्मों में अकर्म नाम ज्ञान को जो देखता है और अकर्मणि नाम ज्ञान में जो कर्म देखता है, वह सब मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही योगी है, और वही सब कर्मों के करने वाला है अर्थात् कर्म करते समय ज्ञानपूर्वक कर्मों को करता है और ज्ञान समय अपने कर्तव्य को नहीं भूलता वही योगी है और वही सब कर्मों के करने वाला है। शङ्करमत में इसके यह अर्थ हैं कि कर्मों को करते समय जो अकर्म नाम कर्मों के अभाव को देखता है और कर्मों के अभाव समय में जो कर्मों को देखता है अर्थात् जिस समय कर्म करता है उस समय यह समझता है कि यह कर्म मैं अविद्या में ही कर रहा हूं वास्तव में मैं कर्त्ता नहीं यह कर्मों में अकर्म दर्शन है। और अकर्म नाम ब्रह्म में जो अविद्या भूमि में कर्म देखता है यह अकर्म ब्रह्म में कर्मदर्शन है। इस प्रकार इस श्लोक से यह सिद्धान्त सिद्ध करते हैं कि:—"सर्व एव क्रियाकारकादिव्यवहारोऽविद्याभूमावेव कर्म यः पश्येत् पश्यति स बुद्धिमान् मनुष्येषु" अर्थ—

जितना यह क्रिया कारकादि व्यवहार है यह सब अविद्याभूमि में ही है वास्तव में नहीं । जब इसमें यह शङ्का की गई कि कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म यह परस्पर विरुद्ध कैसे देखे ? तो इस का उत्तर यह दिया है कि :—"अकर्मैव परमार्थतः सत्कर्मवदवभासते मूढदृष्टेर्लोकस्य तथा कर्मैवाऽकर्मवत् तत्र यथा भूत दर्शनार्थमाह भगवान् कर्मण्यकर्मयः पश्येदित्यादि । अतो न विरुद्धं" गी० ४।१८शं०भा० अर्थ—मूढ़ दृष्टि वाले लोगों को अकर्मही वास्तव में सच्चे कर्मों के समान प्रतीत होते हैं और वैसेही कर्म अकर्म के समान प्रतीत होते हैं, इनके यथार्थ दिखलाने के लिये भगवान् कृष्ण ने "कर्मणि अकर्म यः पश्येत्" इत्यादि कथन किया है इसलिये कोई विरोध नहीं । यहां शङ्करमत का सार यह है कि जो इन लौकिक वैदिक सर्वकर्मों को स्वप्न पदार्थों के समान भ्रान्तिभूत देखता है वही योगी है और वही सम्पूर्ण कर्मों के करने वाला है, पर यह सर्व पदार्थों को मिथ्या सिद्ध करने वाला मायावादियों का अर्थ गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि यदिइस श्लोक का सर्व कर्मों को रज्जुसर्पके समान मिथ्या सिद्ध करने का आशय होता तो गी० ४।१९–२० में निष्काम कर्मों का विधान न किया जाता । अधिक कहां तक कहें हम दृढ़ प्रतिज्ञा से कहते हैं कि :—"धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे" यहांसे लेकर "यत्र योगेश्वरःकृष्णोयत्रपार्थो धनुर्धरः" इस गीता के अन्तिम श्लोक तक मायावादियों का जगत् को रज्जु सर्प के समान मिथ्या मानने का वाद कोई नहीं निकाल सकता ।

यह वाद स्वामी शं० चा० और उनके शिष्यों ने केवल मनोरथ मात्र से गीता में भरा है। गीता शास्त्र मिथ्यार्थ और मायावाद का उपदेश नहीं करता। देखो इसके प्रमाण में कर्म में अकर्म दर्शन को इस आगे के श्लोक में इस प्रकार वर्णन किया है :—

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुःपंडितंबुधाः॥१६

पद०—यस्य। सर्वे। समारम्भाः। कामसङ्कल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्नि दग्धकर्माणं। तं। आहुः। पण्डितं। बुधाः॥

पदार्थ—(यस्य) जिसके (सर्वे) सब (समारम्भाः) जो प्रारम्भ किये जाते हैं अर्थात् कर्म (कामसङ्कल्पवर्जिताः) कामनारूपी सङ्कल्प से वार्जित हैं अर्थात् निष्काम हैं (ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं) ज्ञानरूपीअग्निसेदग्धहोगए हैं कर्मजिसके, उसको (बुधाः) बुद्धिमान् लोग (पण्डितं आहुः) पण्डित कहते हैं॥

भाष्य—इस श्लोक में कर्मों की ज्ञानाकारता कथन की है अर्थात् कर्म ही जब ज्ञानरूप हो जाते हैं तब कर्मोंकी ज्ञानाकारता कही जाती है, जिस अवस्था में जीव के सब कर्म कामनारूपी सङ्कल्प से वर्जित हो जाते हैं अर्थात् निष्कामकर्म होजाते हैं उस समय कर्म और ज्ञानकी एकतारूपी ज्ञानाग्नि से उसके बंधन के हेतु कर्म दग्ध हो जाते हैं अर्थात् उसके सकामकर्मनहीं रहते, उस अवस्था में उसको बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं। इससे पूर्व श्लोक में कर्म में अकर्म देखना जो कथन किया गयाथा वह यही ज्ञान कर्मका समुच्चय था, अविद्या भूमि में सर्व कर्मों को देखना इस अर्थका गन्धमात्र भी पूर्वश्लोकमें न था। इसी निष्कामकर्मता को आगे कहते हैं :—

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपिनैवकिंचित्करोतिसः २०

पद०—त्यक्त्वा। कर्मफलासङ्गं। नित्यतृप्तः। निराश्रयः। कर्मणि। अभिप्रवृत्तः। अपि। न। एव। किंचित्। करोति। सः॥

पदार्थ—(कर्मफलासङ्गं) कर्मों में आसक्ति और उनके फलों में आसक्ति को (त्यक्त्वा) छोड़कर (नित्यतृप्तः) नित्यजो तृप्त है अर्थात् परमात्मा के आनन्दको लाभकर सर्वत्र निराकाङ्क्ष है और (निराश्रयः) किसीको आश्रयनहीं करता अर्थात् देहादि अनित्य पदार्थों का आश्रय नहीं करता, ऐसा पुरुष (कर्मणि) कर्मों में (अभिप्रवृत्तः) प्रवृत्त हुआ भी (सः) वह (नएवकिंचित्करोति) कुछ भी नहीं करता। फिर वह कैसा पुरुष है:—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरंकेवलंकर्म कुर्वन्नाप्नोतिकिल्बिषम्॥२१

पद०—निराशीः। यतचित्तात्मा। त्यक्तसर्वपरिग्रहः। शारीरं। केवलं। कर्म। कुर्वन्। न। आप्नोति। किल्बिषं॥

पदार्थ—(निराशीः) जिसकीतृष्णा दूर होगई है और (यतचित्तात्मा) जिसने चित्त नाम अन्तःकरण और आत्मा नाम इन्द्रियादि यथैव स्वाधीन किये हुए हैं और (त्यक्तसर्वपरिग्रहः) जिसने सब बन्धन के हेतु वस्तुओं को छोड़ दिया है वह (केवलं) केवल (शारीरंकर्म) शरीर सम्बन्धि कर्मों को करता हुआ (किल्बिषंन आप्नोति) पापको नहीं प्राप्त होता॥

भाष्य—"शारीरंकेवलंकर्म" इस कथन से पाया जाता

है कि इस श्लोक में शरीर मात्र यात्रा करने वाला संन्यासी जिस ने सब परिग्रह को छोड़दिया है वह निर्वाहमात्र काम करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता. अर्थात् यद्यपि लोकसंग्रह आदि अन्य कर्म भी उसके लिये कर्तव्य थे पर निवृत्ति परायण होने के कारण उन कामों को न करता हुआभी वह दोष का भागी नहीं होता ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टोद्वंद्वातीतोविमत्सरःसमः
सिद्धावसिद्धौचकृत्वापि न निबद्ध्यते॥२२॥

पद०—यदृच्छालाभसन्तुष्टः। द्वन्द्वातीतः। विमत्सरः। समः। सिद्धौ। असिद्धौ। च। कृत्वा। अपि। न। निवद्ध्यते ॥

पदार्थ—(यदृच्छालाभसन्तुष्टः)शास्त्रकी आज्ञासे जो इच्छाहो उस का नाम यदृच्छाहै जैसाकि यमोंमें अपरिग्रह लिखाहै उसके अनुकूल आचार करनेसे जो लाभ है उससे सन्तुष्ट होनेवालेका नाम यदृच्छा लाभ सन्तुष्ट है, फिर वह कैसाहै(द्वन्द्वातीतः) शीतोष्ण, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि द्वन्द्वों से अतीत है अर्थात् रहित है (विमत्सरः) ईर्षा से रहित है (सिद्धौअसिद्धौ) कार्य्यकी सिद्धि और असिद्धि में (समः) समान है अर्थात् हर्ष शोक को प्राप्त नहीं होता, ऐसा पुरुष (कृत्वाअपि)कर्मकरके भी(न निवद्ध्यते) बन्धन कोप्राप्त नहींहोता॥

भाष्य—जो पुरुष सिद्धि असिद्धि में हर्ष शोक से रहित है और कामक्रोधादि द्वन्द्वों से रहित है, वह शरीर यात्रा के कर्मों को करता हुआ भी बन्धन में नहीं फसता ॥

सं०—ननु, शरीर मात्र यात्रा करने वाले संन्यासी के कर्म तो इसलिये बन्धनका हेतु नहीं होते कि वह केवल शरीरयात्राके लिये ही कर्म करता है पर जो लोग लौकिक वैदिक सब काम करते हैं उनके कर्म बन्धन का हेतु कैसे नहीं होते ? इसका उत्तर

अग्रिम श्लोक में देते हैं :—

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

पद०—गतसंगस्य । मुक्तस्य । ज्ञानावस्थित चेतसः । यज्ञाय । आचरतः । कर्म । समग्रं । प्रविलीयते ॥

पदार्थ—(ज्ञानावस्थितचेतसः) ज्ञानमें अवस्थित नाम स्थिर है चित्त जिसका, ऐसे ज्ञानावस्थित चित्त वाले (मुक्तस्य) मुक्त पुरुष के, वह कैसा मुक्त पुरुष है (गतसंगस्य) जिसका किसी पदार्थ के साथ सङ्ग नहीं है, फिर वह कैसा है (यज्ञायआचरतः) 'यज्ञोवैविष्णुः' अर्थात् जो परमेश्वर की आज्ञा के अनुकूल कर्म करता है उसके (समग्रंकर्म) सबकाम (प्रविलीयते) लय हो जाते हैं अर्थात् उसके बन्धनका हेतु नहीं होते ॥

भाष्य—जो किसी कामना के लिये कर्म नहीं करता किन्तु एक मात्र परमात्माको उद्देश्य रखकर उसके निष्पापादि धर्मों के धारण करने के लिये कर्म करता है ऐसे पुरुष के कर्म बन्धनका हेतु नहीं होते अर्थात् वह कर्म उसके सकाम कर्म नहीं, इसलिये बन्धन का हेतु नहीं ॥

और इसलिये भी वह कर्म बन्धन का हेतु नहीं कि वह कर्म यज्ञविधि से किये जाते हैं अर्थात् ब्रह्माकार वृत्तिसे एकमात्र परमात्मा काही अनुसन्धान उन यज्ञादिकर्मों में होता है इस प्रकार ईश्वर परायण होने से वह कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते ॥

सं०—ननु लौकिक वैदिक कर्म तत्तदोद्देश्य से किये हुए लय को किस प्रकार प्राप्त हो जाते हैं ? उत्तर

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

पद०—ब्रह्म । अर्पणं । ब्रह्म । हविः । ब्रह्माग्नौ । ब्रह्मणा । हुतं । ब्रह्म । एव । तेन । गन्तव्यं । ब्रह्म । कर्मसमाधिना ॥

पदार्थ—(ब्रह्म अर्पणं) अर्पण नाम जुहादि, जिससे अर्पण किया जाता है वह ब्रह्म है और इसी प्रकार (ब्रह्म हविः) जो हवन की सामग्री है वहभी ब्रह्म है (ब्रह्माग्नौ) ब्रह्मरूपी अग्नि में (ब्रह्मणा हुतम्) ब्रह्म से ही वह हवन किया गया (ब्रह्म एव तेन गन्तव्यं) उस हवन से ब्रह्महो गन्तव्य नाम प्राप्य वस्तु है (ब्रह्म कर्मसमाधिना) ब्रह्म कर्म में है समाधि नाम निश्चय जिसका, ऐसे पुरुष से ब्रह्म ही गन्तव्य नाम प्राप्त होने योग्य है ॥

भाष्य—पूर्वश्लोक में **'यज्ञाय, आचरतः'** इस वाक्य से इस ब्रह्मयज्ञ में आचरण करने वाले पुरुष के समग्र कर्मों का लय कथन किया है, और इस श्लोक में उस ब्रह्मयज्ञ का वर्णन है जिसमें एक मात्र ब्रह्म ही ब्रह्म की प्रतीति होती है अन्य पदार्थान्तरों की नहीं, वह इस प्रकार कि जब उपासक एक मात्र ब्रह्म को लक्ष्य समझ लेता है उस समय वह यज्ञ के और साधनों को करता हुआ भी एकमात्र ब्रह्माम्बुधि में ही निमग्न रहता है जैसेकि:—**"सर्वंखल्विदं ब्रह्म तज्जलानितिशान्तमुपासीत्"** छा० ३ । १४ । १ इसका आशय यह है कि उसी से सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसी में लय होते हैं, उसी में चेष्टा करते हैं, इस भाव से **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** यह उपासना करे कि यह सब ब्रह्म ही है, इस वाक्य में ध्यानविधि का विधान

किया है, एवं "ब्रह्मार्पणं" इसमें भी शमविधि का विधान है जीवके ब्रह्म बनने का विधान नहीं, वह इस प्रकार कि अर्पण, हवि, अग्नि, हवनकर्त्ता इत्यादि भिन्न २ पदार्थ भी उसको उस समय भिन्न २ प्रतीत नहीं होते किन्तु उस समय उसकी एकमात्र ब्रह्मबुद्धि होती है ॥

ननु तुम्हारे मतमें अन्य में अन्य की बुद्धि करना मिथ्याज्ञान है, यदि अन्य में अन्य की बुद्धि करना कोई दोष नहीं तो फिर मूर्त्तिपूजा में क्या दोष है?

उत्तर–इस श्लोक में अर्पणादिकों को ब्रह्म नहीं समझा गया किन्तु उस कालमें शमविधि के प्रभाव से अर्पणादि भिन्न २ प्रतीत नहीं होते, जैसे समाधि कालमें भिन्न२ बुद्धिनहीं रहती, एवं इस शमविधि कालमें भी भेदबुद्धिनहीं रहती,इसअभिप्राय से सब वस्तुओं को ब्रह्म भाव कथन किया गया है, इसलिये प्रतिमादिकों में मिथ्या विष्णु बुद्धि के समान यह बुद्धि नहीं ॥

और बात यह है कि इसमें जो "ब्रह्मकर्मसमाधिना" कहा है, इसके अर्थ यह हैं कि ब्रह्मरूपी जो कर्म अर्थात् ज्ञानका विषय जो ब्रह्म उसमें समाधि नाम चित्तवृत्ति का निरोध है जिस का उसके लिये ब्रह्मयज्ञ में एकमात्र ब्रह्म काही ध्यान रहता है।

शङ्करमत में इस श्लोक के अर्थ यह हैं कि:—'यथाशुक्तिकायां रजताभावं पश्यति तदुच्यते ब्रह्मैवार्पणमिति' जैसे सीपी में भ्रमरूप रजतको देखताहुआभी ज्ञानकाल में सीपी से भिन्न चांदी को नहीं देखता, इस प्रकार अर्पणादि सब ब्रह्म का विवर्त्त होने से ब्रह्म ही है अर्थात् शुक्तिरजत और

रज्जुसर्प के समान सब पदार्थ ब्रह्म में कल्पित हैं, इस अभिप्राय से यह श्लोक है और इसी अभिप्राय से " कर्मण्यकर्म यः पश्येत् " यह श्लोक था और इसी अभिप्राय से एक ब्रह्म बोधन करने के लिये स्वभाष्य में स्वामी ने यह लिखा है कि :—

"तथेहापिब्रह्म बुद्ध्युपमृदितार्पणादि कारक क्रियाफलभेद बुद्धेर्बाह्यचेष्टामात्रेण कर्मापि विदुषोऽकर्म संपद्यते । अत उक्तं समग्रं प्रविलीयत इति"

अर्थ—इसी प्रकार यहां भी ब्रह्मबुद्धि से दूर कर दिया है अर्पणादि जो कारक और उस सम्बन्धि क्रिया और उसका फल, इत्यादि भेद बुद्धि को वाह्यचेष्टा मात्र के आधीन होने से कर्म भी विद्वान् के अकर्म हो जाते हैं इसी अभिप्राय से कहा है कि "समग्रं प्रविलीयते" अर्थात् सबकर्म लय होजाते हैं ॥

अर्पणादिकों को मिथ्या मानकर सर्व ब्रह्म वादका यदि इस श्लोक में विधान होता जैसा कि शङ्करभाष्यमेंमाना है तो अग्रिम श्लोक में देवयज्ञका भेदबुद्धि से विधान न किया जाता और ना हीइसअध्यायकेअन्तिमश्लोकमें "योगमातिष्ठोत्तिष्ठभारत" यह वाक्य कहा जाता, इस वाक्य के अर्थ यह हैं कि तुमकर्म योग को ग्रहण करके उठ खड़े हो । यदि योगादि सारे कर्म ब्रह्म में कल्पित होते तो इस अध्याय के उपसंहारमें फिर योगादि कल्पित पदार्थों का उपदेश क्यों किया जाता? इससे पाया जाता है कि यहां ब्रह्म यज्ञ के वर्णन में ब्रह्म में समाधि नाम तदाकार वृत्ति को वर्णन करते हुए ब्रह्म कर्म में समाधि वाले पुरुष की ब्रह्माकार वृत्ति का वर्णन किया है। और आगे अन्य भिन्न

भिन्न यज्ञों का भेद इस प्रकार वर्णन करते हैं कि :—

दैवमेवापरेयज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

पद०—दैवं । एव । अपरे । यज्ञं । योगिनः । पर्युपासते । ब्रह्माग्नौ । अपरे । यज्ञं । यज्ञेन । एव । उपजुह्वति ॥

पदार्थ—(अपरे) और (योगिनः) योगी (दैवंयज्ञं) देवयज्ञ की (पर्युपासते) उपासना करते हैं (अपरे) और (ब्रह्माग्नौ) ब्रह्म रूप जो अग्नि उसमें (यज्ञं) जीवात्मा को (यज्ञेन) आत्मसमर्पण द्वारा (एव) हि (उपजुह्वति) हवन कर देते हैं ॥

भाष्य—"देवइज्यतेयेनतद्दैवं—जिससे (दैव) परमात्मा की उपासना की जाती है उस यज्ञका नाम दैवयज्ञ है और वह यज्ञ सन्ध्या वन्दनादि ब्रह्म यज्ञ है । कई एक योगी लोग उस यज्ञकी उपासना करते हैं और दूसरे ब्रह्मरूप जो अग्नि अर्थात् "सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म" और "विज्ञानमानन्दंब्रह्म" "यत्साक्षातअपरोक्षाद्ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों द्वारावर्णित जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव ब्रह्म, "आदित्यवर्णंतमसः परस्तात्" इत्यादि वाक्यों से स्वतःप्रकाश होने से उसको अग्निरूप वर्णन किया गया है । उसब्रह्म रूपी अग्नि में और लोग अपने आत्मा को समर्पण करदेते हैं । यज्ञसे तात्पर्य्य यहां आत्मा का है क्योंकि यास्काचार्य्य ने आत्माकेनामों में यज्ञ शब्दको पढ़ा है । मायावादियों के मतमें वही "तत्त्वमसि" की कहानी यहां भी है कि ब्रह्मरूपी अग्नि जो तत्पदार्थ है उसमें त्वं पदार्थ

रूपी जीवात्मा को (उपजुह्वति) हवन कर देते हैं अर्थात् उनदोनों की एकता कर देते हैं। यदि इस श्लोक का यही तात्पर्य्य होता तो त्वं पदार्थका वाच्य जब जीवात्मा उसमें हवन कियागया तो फिर यज्ञों का अधिकारी कौन रहेगा? और यहां इससे आगे कई एक प्रकार के यज्ञ वर्णन किये हैं जैसा कि :—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्येइंद्रियाग्निषुजुह्वति।२६

पद०—श्रोत्रादीनि। इन्द्रियाणि। अन्ये। संयमाग्निषु। जुह्वति। शब्दादीन्। विषयान्। अन्ये। इन्द्रियाग्निषु। जुह्वति॥

पदार्थ—(श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि) श्रोत्रादिजो इन्द्रिय हैं उन को (अन्ये) और लोग (संयमाग्निषु) संयमरूपजो अग्निहै उसमें (जुह्वति) हवन करते हैं। धारण, ध्यान, समाधि, इन तीनों का नाम संयम है जैसाकि महर्षि पतञ्जलि ने कहा है "त्रयमेकत्र संयमः" यो० १।३।४ तीनों को एकत्र करने का नामसंयमहै, और अन्य लोग (शब्दादीन् विषयान्) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, यह जो पांच विषय हैं इनको (इन्द्रियाग्निषु जुह्वति) इन्द्रिय रूप अग्नि में हवन कर देते हैं अर्थात् इनकी इच्छा को मारकर इन्द्रिय रूप अग्नि में ज्ञानकी दीप्तिकेलियेडालदेते हैं औरवैसेही:—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।२७

पद०—सर्वाणि। इन्द्रियकर्माणि। प्राणकर्माणि। च। अपरे। आत्मसंयमयोगाग्नौ। जुह्वति। ज्ञानदीपिते॥

पदार्थ—(सर्वाणि इन्द्रिय कर्माणि) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय

तथा इन सब इन्द्रियों के कर्म अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, स्पर्शादि और कर्मेन्द्रियों के वचनादि, इन सबकर्मोंको और (प्राणकर्माणि) प्राण नाम प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, यह पांच प्रकार के जो प्राण हैं इनके कर्म, बाहर निकालना, नीचे लेजाना, इकट्ठे करना, फैलाना आदि, उक्त प्राण और इन्द्रियों के कर्मों को (अपरे) और योगी लोग (आत्मसंयमयोगाग्नौ) आत्मसंयमरूप जो योग की अग्नि है उसमें (जुह्वति) हवन कर देते हैं। आत्मसंयमरूप योग की अग्नि कैसी है (ज्ञानदीपिते) जो ज्ञान से प्रकाशित है ॥

भाष्य—"आत्मसंयमयोगाग्नौ" के अर्थ यह हैं कि आत्म विषयक जो धारणा, ध्यान, समाधि, का एकत्र करना उस के परिपाक होने पर जो निरोध समाधि है उसका नाम आत्मसंयमयोगाग्नि है ॥

स्वामी शङ्कराचार्य्य के शिष्यों ने अद्वैतवाद के रंग से रञ्जित होने के कारण इस श्लोक मेंभी मायावाद भर दिया, जैसाकि:— "ज्ञानदीपिते" के यह अर्थ किये हैं कि:—"वेदान्त वाक्य जन्योब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कारस्तेना विद्या तत्कार्य्यनाशद्वारादीपितेः" गी० ४। २७ म० सू० अर्थ — वेदान्त वाक्य से उत्पन्न हुआ जो ब्रह्म और जीवात्मा की एकता का साक्षात्कार है उस साक्षात्कार से अविद्या और अविद्या के कार्य्य के नाश द्वारा जो आत्मसंयमरूप अग्नि जलाई गई है उसका नाम ज्ञान से दीप्त कीगई अग्नि के हैं। ज्ञान के अर्थ सम्पूर्ण गीता में कहीं भी जीव ब्रह्म की एकता के नहीं, फिर उक्तार्थ कैसे ठीक होसकते हैं जैसाकि:—"इदंज्ञानमुपाश्रित्य मम

साधर्म्यमागता" इत्यादि श्लोकों में कृष्णजी ने ज्ञान की उत्तमता यही मानी है कि जिससे उपासक उपास्य के धर्मों को प्राप्त होता है नकि अपने आप को नाश करके वही बन जाताहै। इस प्रकार गीता के आशय से यह व्याख्यान विरुद्ध है। अब यज्ञ के और भेदों को वर्णन करते हैं:—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयःसंशितव्रताः२८

पद०—द्रव्ययज्ञाः। तपोयज्ञाः। योगयज्ञाः। तथा। अपरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः। च। यतयः। संशितव्रताः॥

पदार्थ—(तथा) इस प्रकार (अपरे) औरभी याज्ञिक लोग हैं जो निम्न लिखित यज्ञ करते हैं (द्रव्ययज्ञाः) जो द्रव्य का यज्ञ करते हैं अर्थात् वेद मन्त्रों से संस्कृताग्निमें सुगन्धित द्रव्य डालते हैं अथवा द्रव्यादिकों का दान देते हैं और (तपोयज्ञाः) जो तितिक्षु हैं जिनका तप ही यज्ञ है (योगयज्ञाः) "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" यो० १।१।२ इत्यादि शास्त्र प्रतिपाद्य अष्टांग योग ही जिनका यज्ञ है (च) और (संशितव्रताः) प्रशंसित व्रत वाले (यतयः) यती लोग (स्वाध्याय) वेदाध्ययन और (ज्ञान) प्रकृति, पुरुष और परमात्मा विषयक ज्ञान, इन उक्त प्रकार के यज्ञों को कई एक यति लोग करते हैं। अब प्राणायामरूपी यज्ञ वर्णन करते हैं:—

अपानेजुह्वतिप्राणंप्राणेऽपानंतथाऽपरे।प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥२९॥

पद०—अपाने । जुह्वति । प्राणं । प्राणे । अपानं । तथा । अपरे । प्राणापानगती । रुध्वा । प्राणायामपरायणाः ॥

पदार्थ—(तथा) वैसेही (अपरे) और यज्ञ करने वाले लोग (अपाने) अपान वायु में (प्राणंजुह्वति) प्राण को हवन करदेते हैं अर्थात् बाहर से प्राणवायु को खेंचकर अपान वायु में मिला देते हैं, इसका नाम पूरक प्राणायाम है अर्थात् बाहर की वायु को भीतर भरलेना। और लोग (प्राणे अपानं) प्राणवायु में अपान को मिलादेते हैं अर्थात् रेचक प्राणायाम करते हैं, भीतर से बड़े बलपूर्वक वायु को बाहर निकालने का नाम रेचक प्राणायाम है (पाणापान गती) प्राण अपान की जो गति है उसको (रुध्वा) रोक कर (प्राणायामपरायणाः) कोई लोग प्राणायाम में तत्पर हैं, इस का नाम कुम्भक है अर्थात् पूरक और रेचक करने के अनन्तर जो दोनों वायुओं को भीतर ठहरा दिया जाता है यह प्राणापाण की गति का रोकना है ॥

अपरेनियताहाराःप्राणान्प्राणेषुजुह्वति। सर्वे ऽप्येतेयज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३० ॥

पद०—अपरे । नियताहाराः । प्राणान् । प्राणेषु । जुह्वति । सर्वे । अपि । एते । यज्ञविदः । यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥

पदार्थ—(अपरे) और लोग (नियताहाराः) नियम पूर्वक आहार करने वाले (प्राणान्) प्राणों को (प्राणेषुजुह्वति) प्राणों में हनन करदेते हैं अर्थात् अपने आहार के संयम से प्राण के भेदों को प्राणों में ही हवन करके जय करलेते हैं (सर्वे एते यज्ञविदः) ये सब यज्ञ के जानने वाले (अपि) निश्चय करके (यज्ञक्षपित

कल्मषाः) यज्ञ से दूर करदिये हैं कल्मष नामपाप जिन्होंने ऐसेहैं॥

सं०—ननु, उक्त यज्ञों से पाप दूरहोकर फिर क्या होता है?

यज्ञशिष्टामृतभुजो यांतिब्रह्मसनातनम्।नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्यकुतोऽन्यः कुरुसत्तम। ३१

पद०—यज्ञशिष्टामृतभुजः। यान्ति। ब्रह्म। सनातनं। न। अयं। लोकः। अस्ति। अयज्ञस्य। कुतः। अन्यः। कुरुसत्तम॥

पदार्थ—(यज्ञशिष्टामृतभुजः) यज्ञका शेष बचाहुआ जो अमृत है उसकेखानेवाले (सनातनंब्रह्म) सनातनजो ब्रह्महैउसको (यान्ति) प्राप्त होते हैं (कुरुसत्तम) हे कुरुओं में श्रेष्ठ अर्जुन (अयज्ञस्य) यज्ञ न करने वाले का (अयंलोकः) यह लोक (न अस्ति) ठीक नहीं होता (अन्यः) अन्यलोक (कुतः) कहां से, अर्थात् जो लोग यज्ञ नहीं करते उनका यह लोकभी ठीक नहीं होता और लोककीतो कथा ही क्या॥

भाष्य—यज्ञ शब्दकेअर्थयहां अनेकहैं, किसी स्थानपर परमात्मा की उपासना से यज्ञ का तात्पर्य्य है, किसी जगह ब्रह्माग्नि में आत्म समर्पण का नाम यज्ञ है, कहीं प्राणायाम का नाम यज्ञ है, एवं अनेक अर्थ हैं, पर वह सारे अर्थ इसके भीतर आजाते हैं कि आत्मिक संस्कार के लिये जो वैदिक कर्म किये जाते हैं उनका नाम यज्ञ है जैसा कि:—"इज्यतेयनसयज्ञः" जिससे सत्कारादि कर्म किये जायं। इसी बातको आगे के श्लोक में कथन किया जाता है:—

एवं बहुविधायज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।

कर्मजान्विद्धितान्सर्वानेवंज्ञात्वाविमोक्ष्यसे।

पद०—एवं। वहुविधाः। यज्ञाः। वितताः। ब्रह्मणः। मुखे। कर्मजान्। विद्धि। तान्। सर्वान्। एवं। ज्ञात्वा। विमोक्ष्यसे॥

पदार्थ—(एवं) इस प्रकार (वहुविधाः) वहुत प्रकारके (यज्ञाः) यज्ञ (वितताः) विस्तार पूर्वक (ब्रह्मणः) वेद के (मुखे) द्वारा कथन किये हैं (तान्सर्वान्) उन सब यज्ञों को (कर्मजान्विद्धि) कर्मसे उत्पन्न हुएही जान (एवंज्ञात्वा) इस प्रकार जानकर तु (विमोक्ष्यसे) कर्म के वन्धन से छूट जायगा॥

भाष्य—आशय यह है कि जब तू निष्काम कर्म करेगा जो सब यज्ञों में मुख्य है तो फिर तेरे कर्म वन्धन का हेतु न होंगे॥

ननु—इस श्लोक में आकर तो सब यज्ञों को कर्म प्रधान ही वर्णनकरदिया औरश्लो०२८में "स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च" इस वाक्य में ज्ञानयज्ञों का भी वर्णन किया था, अब फिर सब यज्ञों को कर्म प्रधान क्यों निरूपण कर दिया? उत्तर

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलंपार्थ ज्ञानेपरिसमाप्यते॥३३॥

पद०—श्रेयान्। द्रव्यमयात्। यज्ञात्। ज्ञानयज्ञः। परंतप। सर्वं। कर्म। अखिलं। पार्थ। ज्ञाने। परिसमाप्यते॥

पदार्थ—(परंतप) हे अर्जुन (द्रव्यमयात् यज्ञात्) द्रव्यरूपी यज्ञसे (ज्ञानयज्ञः) ज्ञानयज्ञ (श्रेयान्) श्रेष्ठ है, हे पार्थ (सर्वकर्म) सब काम (अखिलं) नियम पूर्वक (ज्ञाने) ज्ञानमें (परिसमाप्यते) समाप्त हो जाते हैं॥

भाष्य—इस श्लोक में ज्ञानका प्राधान्य इसलिये निरूपणकिया है कि जब वह कर्म ज्ञानाकारता को पहुंच जाता है तब वह द्रव्यमयादि यज्ञों से श्रेष्ठ हो जाता है अर्थात् उसकी साधारण कर्मके समान अवस्था नहीं रहती, इसलिये उस ज्ञानदशा में सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं अर्थात् गतार्थ हो जाते हैं। इस अभिप्राय से ज्ञानयोग को यहां अधिक वर्णन किया है ॥

मायावादी मधुसूदन स्वामी ने इसका यह आशय लिया है कि जीव ब्रह्म की जो एकता है वह यहां ज्ञानशब्द से कथन की गई है और इस लिये उसमें सारे कर्म समाप्त होजाते हैं! पर इस प्रकारके ज्ञान का तात्पर्य्य इसश्लोकमें होता तो **"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते । एकं सांख्यं चयोगंचयःपश्यति स पश्यति"** गी० ५।५ अर्थ—जिस स्थान को ज्ञानी लोग प्राप्त होते हैं उसी को कर्मयोगी प्राप्त होते हैं, ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों एक ही हैं, जो इस प्रकार से जानता है वही ठीक जानता है, यह न कहा जाता, इससे पाया जाता है कि इस श्लोक में जिस ज्ञानयोग की स्तुति की है वह कर्मयोग से भिन्न नहीं ॥

तद्विद्धिप्रणिपातेनपरिप्रश्नेनसेवया । उपदेक्ष्यंति तेज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

पद०—तत् । विद्धि । प्रणिपातेन । परिप्रश्नेन । सेवया । उपदेक्ष्यन्ति । ते । ज्ञानं । ज्ञानिनः । तत्त्वदर्शिनः ॥

पदार्थ—(तत्) वह ज्ञान (प्रणिपातेन) नीचे होकर नमस्कारों से

(परिप्रश्नेन) प्रश्नों से (सेवया) सेवा करनेसे (ते) तुम्हारे लिये (ज्ञानं) उस ज्ञानका (ज्ञानिनः) ज्ञानी लोग (उपदेक्ष्यन्ति) उपदेश करते हैं, वह कैसे ज्ञानी हैं (तत्त्वदर्शिनः) जिन्होंनेतत्त्वकोजानाहै॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव ।
येनभूतान्यशेषेणद्रक्ष्यस्यात्मन्यथोमयि।३५

पद०—यत् । ज्ञात्वा । न । पुनः । मोहं । एवं । यास्यसि । पाण्डव । येन । भूतानि । अशेषेण । द्रक्ष्यसि । आत्मनि । अथो । मयि ॥

पदार्थ—हे पाण्डव (यत्) जिसको (ज्ञात्वा) जानकर (पुनः) फिर (एवं) इस प्रकार के (मोहं) मोहको (न यास्यसि) नहीं प्राप्त होगे और (येन) जिससे (भूतानि) सब प्राणियों को (अशेषेण) सम्पूर्णरीति से (आत्मनि) परमात्मा में देखोगे और (मयि अथो) मेरे में भी ॥

भाष्य—इसका तात्पर्य्य यह है कि इस ज्ञानको पाकर जब परमात्मा की विभूति को जीव देखता है तो सब भूतों को उसमें ओत प्रोत देखता है अथवा कृष्णजी यह कहते हैं कि तु मेरे में सब भूतों को ओत प्रोत देखेगा, जैसा कि आगे अ० ११ में उस विभूति का वर्णन आवेगा । और कृष्णजी ने अपना नाम इस अभिप्राय से लिया है कि वह तद्धर्मतापत्तिरूपयोग से ईश्वर के गुणों को धारण कर चुके थे, जैसा कि इसी अध्याय के छटे श्लोक की व्याख्या में इन्द्रप्रतर्दनाधिकरण से कथन करआए हैं। कृष्णजीके अस्मच्छब्द के प्रयोग देने से मायावादियों ने फिर अपनी माया यहां फैलाई है कि :—"भगवतिवासुदेवे त त्पदार्थेपरमार्थतोभेदरहितेअधिष्ठान भूतेद्रक्ष्यस्य

भेदेनैवअधिष्ठानातिरेकेणकल्पितस्याभावात्मां भगवन्तं वासुदेवमात्मत्वेनसाक्षात्कृत्यसर्वाज्ञान नाशेन तत्कार्याणिभूतानि न स्थास्यन्तीतिभावः। गी० ४। ३५ म० सू० अर्थ—मुझ भगवान् वासुदेव में जो तत् पदका अर्थ है जिससे वास्तव में कोई वस्तु भिन्न नहीं है ऐसे अधिष्ठानरूप मुझमें अभेदरूप से ही सारे भूतोंको देखोगे, क्योंकि अधिष्ठान से भिन्न कल्पित वस्तुओं का जैसे अभाव होता है इस प्रकार मुझ में सब वस्तुओं का अभाव है इस प्रकार मुझ भगवान् वासुदेव को तुम आत्मरूप से साक्षात्कार करके सम्पूर्ण अज्ञान के नाश होने से उस अज्ञानके कार्य्य जो ये सब तत्त्व हैं यह नहीं रहेंगे, यह इस श्लोक का अर्थ किया है ॥

सम्पूर्ण सृष्टिके कल्पित होने का भाव यहां मधुसूदनस्वामी ने अपनी ओरसे कल्पना कर लिया है, मेरे में ही सब भूतों को देखोगे, यदि इस कथन से ही सब भूत कल्पित होते तो :—

यस्तुसर्वाणिभूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥ यजु० ४०। ६,इस मंत्र में जो आत्मा का व्याप्य व्यापक भाव कथन किया है उससे सब संसार को कल्पित क्यों न माना जाय? यदि कहो कि वहां भी कल्पित मानने से हमारी इष्टापत्ति है तो उत्तर यह है कि इससे उत्तर मन्त्र में परमात्मा को उस कल्पित जगत् का कर्त्ता क्यों कथन किया गया है? और यदि ईश्वर से भिन्न सब पदार्थ गीता में कल्पित माने हुए होते तो गी० १३। १९ में जाकर प्रकृति और जीवात्मा को अनादि क्यों कथन किया? क्योंकि कल्पित पदार्थ तो तुम्हारे मत में अज्ञानसे कल्पना किया जाता है फिर

उसका अनादित्वक्या ? एवं विचारकरने से आधुनिक वेदान्ति-यों की कल्पित कहानी का गंध भी गीता में नहीं मिलता, फिर भी मायावादी कहीं न कहीं अपनी माया फैलाकर अपनी कल्पित कहानी की कथा कथ ही छोड़ते हैं। अब इससे आगे ज्ञान यज्ञ की स्तुति की जाती है :—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वंज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

पद०—अपि। चेत्। असि। पापेभ्यः। सर्वेभ्यः। पापकृत्तमः। सर्वं। ज्ञानप्लवेन। एव। वृजिनं। संतरिष्यसि॥

पदार्थ—(चेत्) यदि (सर्वेभ्यः पापेभ्यः) सब पापियों से (पाप कृत्तमः) तुम अधिक पापी (अपि) भी हो, तबभी (सर्वंवृजिनं) सब पाप जो दुस्तर होने से समुद्र के समान हैं उनको (ज्ञानप्लुवेन) ज्ञानरूपी नौका से (एव) निश्चय करके (संतरिष्यसि) पाप रूपी समुद्र से तर जाओगे॥

ननु—"**नाभुक्तं क्षीयतेकर्म कल्पकोटिशतैरपि**" इत्यादि वाक्यों में यह लिखा है कि कर्म बिना भोगने से नाश नहीं होते, फिर यहां पापकर्मों का नाश कैसे कथन किया गया ?

उत्तर—यहां जो भोग देनेवाले कर्म हैं उनका नाश कथन नहीं किया गया किन्तु जो संस्काररूप कर्म हैं जिनका अभी आ-विर्भाव नहीं हुआ उनका नाश कथन किया गया है जैसाकि :— "**क्षीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे**" इस वाक्य में कथन किया है। और इसी बातको ब्र०सू० ४।१।१३

में कथन किया है। और इसलिये भी इसमें कोई अर्थवाद नहीं कि कृष्णजी का इसमें यह तात्पर्य्य है कि कोई पापी से पापी क्यों न हो उक्त ज्ञान के होने से वह पापात्मा नहीं रहता अर्थात् फिर वह पापकर्म नहीं करता क्योंकि उसके पापकर्म के बीजका दाह हो जाता है जैसा कि इस अग्रिम श्लोक में वर्णन किया जाता है :—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणिभस्मसात्कुरुतेतथा।३७

पद०—यथा। एधांसि। समिद्धः। अग्निः। भस्मसात्। कुरुते। अर्जुन। ज्ञानाग्निः। सर्वकर्माणि। भस्मसात्। कुरुते। तथा॥

पदार्थ—(समिद्धः) प्रज्वलित अग्नि (एधांसि) काष्ठों को (यथा) जिस प्रकार (भस्मसात्) भस्मीभाव करदेती है, हे अर्जुन (तथा) तिसी प्रकार (सर्वकर्माणि) सब कर्मों को (ज्ञानाग्निः) यह ज्ञानरूप अग्नि (भस्मसात्) भस्मीभाव (कुरुते) कर देती है॥

जिस ज्ञानका ऐसा प्रभाव है उस ज्ञानकी अग्रिम श्लोक में अर्थवाद से स्तुति करते हैं :—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयंयोगसंसिद्धःकालेनात्मनिविन्दति३८

पद०—न। हि। ज्ञानेन। सदृशं। पवित्रं। इह। विद्यते। तत्। स्वयं। योगसंसिद्धः। कालेन। आत्मनि। विन्दति॥

पदार्थ—(ज्ञानेन) ज्ञान के (सदृशं) बराबर (पवित्रं) पवित्र (इह) लौकिक वैदिक शास्त्र में (न हि विद्यते) अन्य कोई नहीं पाया जाता (तत्) उस ज्ञान को (कालेन) चिरकाल से (योगसंसिद्धः)

कर्मयोग से योग्यता को प्राप्त हुआ २ (आत्मनि) अपने आप में (स्वयं विन्दति) अपने आप लाभ कर लेता है ॥

भाष्य—इसमें यह सन्देह था कि जब ज्ञान इतना उत्तम है तो मनुष्य ज्ञानही को उपलब्ध करे फिर कर्म से क्या? इसका उत्तर यह दिया है कि बिना कर्म की योग्यता को पाए हुए उक्त ज्ञान नहीं होसकता, इस कथन से यहां ज्ञान और कर्म के समुच्चय को सूचित कर दिया। यदि ज्ञान से यहां अद्वैतवादियों के ज्ञान का तात्पर्य्य होता तो फिर कर्मयोग की क्या आवश्यकता थी, क्योंकि जीव ब्रह्म की एकतारूपी ज्ञान तो किसी अवस्था विशेष की आवश्यकता नहीं रखता, उसमें तो केवल वाक्यजन्य ज्ञान की आवश्यकता है जैसेकि:—"नेदंरजतं शुक्तिरियं" यह चांदी नहीं यह सीपी है। इस भ्रमस्थल में वाक्यजन्य ज्ञान से भ्रमनिवृत्ति हो जाती है, इसी प्रकार तु संसारी जीव नहीं किन्तु तु ब्रह्म है, इस वाक्यजन्य ज्ञान से उनके मतमें जीव ब्रह्म की एकता की सिद्धि हो जायगी फिर "योगसंसिद्धः" इस कथन से कर्मयोग के कथन करने की क्या आवश्यकता है, यहां कर्मयोग का कथन करना इस बात को सिद्ध करता है कि ज्ञान कर्म का समुच्चय ही पुरुषार्थ का हेतु है और वह ज्ञान श्रद्धा से मिलता है जैसाकि:—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानंलब्ध्वापरांशान्तिमचिरेणाधिगच्छति।

पद०—श्रद्धावान्। लभते। ज्ञानं। तत्परः। संयतेन्द्रियः। ज्ञानं। लब्ध्वा। परां। शान्तिं। अचिरेण। अधिगच्छति॥

पदार्थ—(श्रद्धावान्) श्रद्धावाला पुरुष (ज्ञानं) ज्ञानको (लभते)

प्राप्त होता है और (तत्परः) गुरुकी सेवादिकों में जो लगा हुआ है, फिर कैसा है (संयतेन्द्रियः) वशीभूत किये हैं इन्द्रिय जिसने (ज्ञानं लब्ध्वा) ज्ञान को लाभ करके (परां शान्ति) पराशान्ति जो मुक्ति है उसको (अचिरेण) शीघ्रही (अधिगच्छति) प्राप्त होता है। इसमें कोई संशय की बात नही, जो संशय करता है वह नाश को प्राप्त होता है इस बात को आगे कथन करते हैं:—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायंलोकोऽस्तिन परोनसुखंसंशयात्मनः ४०

पद०- अज्ञः। च। अश्रद्दधानः। च। संशयात्मा। विनश्यति। न। अयं। लोकः। अस्ति। न। परः। न। सुखं। संशयात्मनः॥

पदार्थ—(यज्ञः) अज्ञानी पुरुष जिसने शास्त्र का अध्ययन नहीं किया (च) और (अश्रद्दधानः) जिसको गुरू और वेदके वाक्य पर श्रद्धा नही है, तीसरा (संशयात्मा) जिसके आत्मा में सदैव संशय बना रहता है, यह तीनों प्रकारके लोग (विनश्यति) नाशको प्राप्त हो जाते हैं पर (संशयात्मनः) जिसकी आत्मा में सदा संशय बना रहता है (न अयंलोकः) उसका न यह लोक ठीक रहता है (न परः) न परलोक ठीक रहता है और (नसुखं) न उसको सुख हो सकता है। इससंशयकी निवृत्ति के लिये ज्ञान योग और कर्मयोग का समुच्चय स्मर्णकरातेहूए उपसंहारकरते हैं॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवंतं न कर्माणि निबध्नंति धनंजय ।४१

पद०—योगसंन्यस्तकर्माणं। ज्ञानसंछिन्नसंशयं। आत्मवन्तं। न। कर्माणि। निबध्नन्ति। धनंजय॥

पदार्थ—हे धनंजय (योगसंन्यस्तकर्माणं) निष्कामकर्म द्वारा दूर कर दिया है कर्मों का बन्धन जिसने, ऐसे पुरुष को और (ज्ञानसंछिन्नसंशयं) नित्यानित्य वस्तु के विवेक से जिसने संशय को दूर कर दिया है, ऐसे (आत्मवन्तं) आत्मिकबलवाले पुरुष को (कर्माणि) कर्म (न निबध्नन्ति) नहीं बांधते ॥

भाष्य—जो पुरुष ज्ञानकर्म के समुच्चय वाला है अर्थात् कर्म योग और ज्ञानयोग का साथ २ अनुष्ठान करता है जैसा कि "कर्मण्यकर्मयःपश्येत्" इस श्लोक में वर्णन कियागया है, उसको कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते, यहां ज्ञानकर्म के समुच्चयके उपपादन करने से एकमात्र जीवब्रह्म की एकतारूप ज्ञान मानने वालोंको मौनधारण करादिया, इस श्लोक में स्वामी शं० चा० और उनके शिष्य मण्डल ने मौनधारण करलिया है, यहां केवल ज्ञानका कोई दम नहीं भरा, भरते ही कैसे, देखो फिर महर्षिव्यास कर्म योगपर बल देते हैं :—

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठभारत । ४२

पद०—तस्मात् । अज्ञानसंभूतं । हृत्स्थं । ज्ञानासिना । आत्मनः । छित्वा । एनं । संशयं । योगं । आतिष्ठ । उत्तिष्ठ । भारत ॥

पदार्थ—(तस्मात्) इसलिये (अज्ञानसंभूतं) अज्ञानसे जो उत्पन्न हुआ है (हृत्स्थं) जो बुद्धिमें है, ऐसे (आत्मनः संशयं) अपने संशयको (ज्ञानासिनाछित्वा) ज्ञानरूप खड्ग से छेदन करके (योगं) कर्म योग को (आतिष्ठ) आश्रय कर और उसको आश्रय करके हे भारत तु (उत्तिष्ठ) उठ खड़ा हो ॥

भाष्य—इस श्लोक में ज्ञानरूपी खड्ग से संशयके छेदनकरने के अनन्तर योग का अनुष्ठान वतलाया है इससे पाया जाता है कि मायावादियों के अज्ञानके निवर्त्तक मनोरथमात्र के ज्ञानका यहां गन्ध भी नहीं क्योंकि यदि उनके जीव ब्रह्म के एकतारूपी ज्ञानका यहां वर्णन होता तो फिर उसके अनन्तरकर्मका अनुष्ठान कदापि न वतलाया जाता, जैसा कि गी० ४। ३६ में "सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनंसंतरिष्यसि" इस पर आनन्दगिरी यहलिखतेहैं कि:- "ब्रह्मात्मैक्यज्ञानस्य सर्वपापनिवर्तकत्वेन माहात्म्यमिदानीं प्रकटयति सर्वमिति"

अर्थ—जीवब्रह्मकी एकता रूप जो ज्ञान है वह सब पापों की निवृत्ति करनेवाला है यहवात "सर्वं" इस पदसे प्रकट की है। यदि इस प्रकार का जीव ब्रह्म की एकता विषयक ज्ञान महर्षि व्यास को यहां इष्ट होता तो मायावादियों के ज्ञानको संशय छेदन का साधन वतलाकर अन्तमें कर्मयोग का अनुष्ठान कथन न करते, इससे पाया गया कि कर्मयोगसे अभ्युदय की सिद्धि और तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति की सिद्धि होती है, मायावादियों की पाषाण कल्प मुक्ति की कदापि नहीं॥
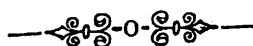
इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिवद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये ज्ञानकर्मसंन्यासयोगोनाम चतुर्थोऽध्यायः॥

अथ

॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

—:-0-:—

सङ्गति—चतुर्थाध्याय में कर्मयोग की ज्ञानाकारता कथनकरके अर्थात् "कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्मयः" गी० ४ । १८ "यस्यसर्वेसमारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः" गी० ४ । १९ "त्यक्त्वाकर्मफलासङ्गंनित्य तृप्तोनिराश्रयः" गी० ४ । २० इत्यादि श्लोकों में यह वर्णन किया है कि कर्मयोग को निष्कामता से करता हुआ पुरुष कर्मों में प्रवृत्त हुआ भी अकर्त्ता ही है अर्थात् निष्काम कर्म करने के कारण प्राकृत लोगों के कर्मों के समान उसके कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते, इस प्रकार कर्मयोग की ज्ञानाकारता कथन करके फिर ज्ञानयोग को सर्वोपरि वर्णनकिया जैसाकि :—" श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात्ज्ञानयज्ञः परंतप " गी० ४ । ३३ "नहिज्ञानेनसदृशं पवित्रमिहविद्यते " गी० ४ । ३८ इत्यादिकों में ज्ञानको अधिक वर्णन किया, और फिर अंतमें जाके "योगमातिष्ठोत्तिष्ठभारत" गी० ४ । ४२ इसमें कर्मयोग सर्वोपरि रख दिया । इसलिये यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि कर्मयोग बड़ा है वा ज्ञानयोग ? इससन्देहकी निवृत्ति के लिये यह अध्याय प्रारम्भ किया जाता है ॥

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १

पद०—संन्यासं । कर्मणां । कृष्ण । पुनः । योगं । च । शंससि । यत् । श्रेयः । एतयोः । एकं । तत् । मे । ब्रूहि । सुनिश्चितं ॥

पदार्थ—हे कृष्ण तुम (कर्मणां) कर्मों के (संन्यासं) त्यागकी (शंससि) प्रशंसा करते हो (च) और (पुनः) फिर (योगं) योग की प्रशंसा करते हो (एतयोः) इन दोनों में से (एकंयत्श्रेयः) एक जो श्रेष्ठ है (तत्) वह (मे) मेरे लिये (सुनिश्चितं) निश्चय करके (ब्रूहि) कहो ?

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तुकर्मसंन्यासात्कर्मयोगोविशिष्यते॥२

पद०—संन्यासः । कर्मयोगः । च । निःश्रेयसकरौ । उभौ । तयोः । तु । कर्मसंन्यासात् । कर्मयोगः । विशिष्यते ॥

पदार्थ—(संन्यासः) कर्मों का त्याग और (कर्मयोगः) कर्मों का करना (उभौ) दोनों ही (निःश्रेयसकरौ) कल्याण के करने वाले हैं, पर (तयोः) उक्त दोनों में से (तु) निश्चय करके (कर्मसंन्यासात्) कर्म संन्यास जो ज्ञानयोग है उससे (कर्मयोगः) कर्मों का करना (विशिष्यते) बड़ा है ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते। ३

पद०—ज्ञेयः । सः । नित्यसंन्यासी । यः । न । द्वेष्टि । न । कांक्षति । निर्द्वन्द्वः । हि । महाबाहो । सुखं । बन्धात् । प्रमुच्यते ॥

पदार्थ—(सः) वहपुरुष(नित्यसंन्यासी) सदैवसंन्यासी (ज्ञेयः) समझना चाहिये (यः) जो (न द्वेष्टि) न किसीके साथ द्वेष करता है (नकांक्षति) और न इच्छा करता है (निर्द्वन्द्वः) कामक्रोध मोहादि द्वन्द्वों से रहित है (महावाहो) हे बड़े वलवाले, वह पुरुष (सुखं) सुखपूर्वक ही (वन्धात्) वन्धनसे (प्रमुच्यते) छूटजाताहै॥

भाष्य—जो न किसीके साथ द्वेष करता है और न रागकरता है, ईश्वर की आज्ञा समझकर सव कर्तव्यों को करता चला जाता है वह सुख पूर्वक ही कर्मों के वन्धनसे छूट जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। अद्वैतवादी लोग इसके यह अर्थ करते हैं कि विज्ञान के प्रतिवन्धक जो कर्म हैं उनसे छूट जाता है, क्योंकि इनका सिद्धान्त यह है कि कर्म अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु हैं और ज्ञान साक्षात्मुक्तिका हेतु है, इसलिये इन्होंने यह कल्पना की है। पर यह अर्थ इस श्लोक के कदापि नहीं, क्योंकि आगे के चतुर्थ श्लोक में इस वातको उपपादन करना है कि ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों एक ही वस्तु है, फिर इनका यह कथनकैसे सङ्गत हो सकता है कि कर्म अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु है और ज्ञान साक्षात् मुक्ति का हेतु है॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः
एकमप्यास्थितःसम्यगुभयोर्विन्दतेफलम्॥४

पद०—सांख्ययोगौ। पृथक्। वालाः। प्रवदन्ति। न। पण्डिताः। एकं। अपि। आस्थितः। सम्यक्। उभयोः। विन्दते। फलं॥

पदार्थ—(सांख्ययोगौ) "**संख्यायंते ज्ञातव्यविषया येनतत्सांख्यं**"—जिससे जानने योग्य विषयोंका वर्णन किया जाय उसका नाम सांख्य है अथवा संख्या नाम सम्यक् वुद्धि

का है उसको जो प्राप्त कराये उसका नाम सांख्य है, इसप्रकार सांख्य नाम ज्ञानयोग का है ॥

उस सांख्ययोग और कर्मयोग को (बालाःपृथक्प्रवदन्ति) बालकलोग जुदा २ कहते हैं (न पण्डिताः) पण्डित लोग नहीं, क्योंकि (एकं अपि आस्थितः) एककोभी आश्रयकिया हुआ पुरुष (उभयोः) दोनों का जो (सम्यक्) ठीक २ (फलं) फल है उस को (विन्दते) लाभ करलेता है ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति५

पद०—यत् । सांख्यैः । प्राप्यते । स्थानं । तत् । योगैः । अपि । गम्यते । एकं । सांख्यं । च । योगं । च । यः । पश्यति । सः । पश्यति ॥

पदार्थ—(यत् स्थानं) जो स्थान (सांख्यैः प्राप्यते) सांख्य नाम ज्ञानयोग के मानने वालों को मिलता है (तत्) वही स्थान (योगैः अपि) योग के मानने वालों सेभी (गम्यते) उपलब्ध किया जाता है (सांख्यं) सांख्य (च) और (योगं) योग को (एकं) एक (यः पश्यति) जो देखता है (सः पश्यति) वहीयथार्थ देखता है ॥

भाष्य—इन श्लोकों में महर्षिव्यास ने ज्ञानकर्म के समुच्चय-वाद को स्पष्ट कर दिया कि ज्ञानयोग और कर्मयोग में कोई भेद नहीं जैसाकि:—"**कर्मण्यकर्म यः पश्येत्**" इसश्लोक में कहा था कि ज्ञान और कर्म दोनों को साथ २ रखे, यहां मा-यावादियों ने यह अर्थ किये हैं कि कर्मयोग अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा मोक्षरूपी स्थान की प्राप्ति का हेतु है और ज्ञानयोग साक्षात् मुक्ति का हेतु है ॥

पर यह उनका आधुनिक भेद गीता के अर्थों को कदापि नहीं बिगाड़ सकता, देखो आगे के श्लोक में स्पष्ट योग को साक्षात् मुक्ति का साधन कहा है :—

संन्यासस्तुमहाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तोमुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति। ६

पद०—संन्यासः । तु । महाबाहो । दुःखं । आप्तुं । अयोगतः। योगयुक्तः । मुनिः । ब्रह्म । न चिरेण । अधिगच्छति ॥

पदार्थ—(महाबाहो) हे बड़े बलवाले अर्जुन (संन्यासः तु) संन्यास तो (अयोगतः) योगसे बिना (दुःखं आप्तुं) बड़े दुःख से मिलता है और (योगयुक्तः) योगसे युक्त जो (मुनिः) मननशील हैं वह ब्रह्म को (चिरेण) चिर से (न अधिगच्छति) प्राप्त नहीं होते अर्थात् योगी पुरुष को ब्रह्म प्राप्ति के लिये चिरकाल नहीं लगता॥

भाष्य—यहां आकर कृष्णजी ने "**तयोस्तुकर्मसंन्यासात्कर्मयोगोविशिष्यते**" गी० ५।२ इस कथन को सफल कर दिया कि कर्मयोग ही विशेष है। अब यहां मायावादियों से यह पूछना चाहिये कि तुम जो ब्रह्मप्राप्ति को मुक्ति मानते हो, यहां तो ब्रह्मप्राप्ति साक्षात् कर्मयोग से कथन की है, यहां तुम्हारा मनोरथ मात्र का निष्कर्मप्रधान ज्ञान कहां गया ?

सच तो यह है कि यदि मायावादियों की ब्रह्मप्राप्ति नित्य प्राप्त की प्राप्ति होती और केवल अपना भ्रम निवृत्त करना ही ज्ञान का प्रयोजन होता तो "**योगयुक्तोमुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति**" कृष्णजी यह कथन न करते, फिरतो इतना ही कहदेते कि "**ज्ञानयुक्तोमुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिग-**

च्छति" अर्थात् ज्ञानयुक्त मुनि शीघ्रही उस ब्रह्म को प्राप्त हो जाताहै। पर कह कैसे देते, यदि हाथके कंकणके समान ब्रह्मप्राप्ति नित्य प्राप्त की प्राप्ति होती और केवल कंकण के समान नष्ट होने का भ्रम ही होता तो भ्रम के निवृत्त करनेवाले ज्ञान से आधुनिक वेदान्तियों की मुक्ति केवल ज्ञान से हो जाती पर कृष्ण जी के ध्यान में तो तद्धर्मतापत्तिरूपी मुक्ति थी अर्थात् परमेश्वर के निष्पापादि धर्मों के धारण करने का नाम तद्धर्मतापत्ति है। ऐसी मुक्ति केवल ज्ञान अर्थात् समझ से कैसे मिल सकती है। इसलिये औपनिषद लोगों ने आत्मज्ञान के अनन्तरः—
"आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" वृ० ४।५।६ इस प्रकार के योग का विधान किया है॥

इस श्लोक के भाष्य में भी मधुसूदन स्वामी ने अर्थ फेरने की योग्यता उठा नहीं रखी देखो:—"अयोगतः-योगमन्तः करणशोधकं शास्त्रीयं कर्मान्तरेण हठादेव यः कृतः संन्यासः स तु दुखमाप्तुमेव भवति अशुद्धान्तःकरणत्वेन तत्फलस्य ज्ञाननिष्ठायाअसंभवात् शोधकत्वे च कर्मण्यधिकारात् कर्मब्रह्मोभय भ्रष्टत्वेन परमसङ्कटापत्तेः कर्मयोगयुक्तस्तु शुद्धान्तःकरणत्वान्मुनिर्मननशीलः संन्यासी भूत्वा ब्रह्म सत्यज्ञानादि लक्षणमात्मानं न चिरेण शीघ्रमेवाधिगच्छति साक्षात्करोति प्रतिवन्धका भावात्

एतच्चोक्तं प्रागेव न कर्मणा मनारम्भा नैष्कर्म्यं पुरुषोश्नुतेनचसंन्यसनादेव सिद्धिंसमधिगच्छतीति, अत एकफलत्वेऽपि कर्म संन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते इति यत्प्रागुक्तं तदुपपन्नम्"गी:५।६ म० सू०

अर्थ–अयोगतः–के अर्थ यह हैं कि योग जो अन्तःकरण को शुद्ध करने वाला शास्त्रीय कर्म, उससे बिना ही जिन्हों ने हठसेही संन्यास किया है उनको वह संन्यास दुःख सेही मिलता है अर्थात् योगरूप कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि करने के अनन्तर वह संन्यास ठीक होता है, और अशुद्धान्तःकरण वाले को संन्यास नाम ज्ञान का होना असंभव है और कर्मयोग से शुद्धान्तःकरण वाला मुनि संन्यासी होकर ब्रह्म जो सत्य ज्ञानादि लक्षण वाला है उस को शीघ्रही प्राप्त हो जाता है क्योंकि उस समय कोई प्रतिबन्धक नहीं रहता, इसीलिये कहा है कि बिना कर्मों के आरम्भ से पुरुष निष्कर्मता को प्राप्त नहीं हो सकता, और नाहीं केवल संन्यास से सिद्धि को प्राप्त होता है, इस लिये कर्मसंन्यास से कर्मयोग विशेष है ॥

इस समाधान में भी मधुसूदनस्वामी यहां तक गड़बड़ाए हैं कि कर्मसंन्यास से कर्मयोग विशेष है, इसको सिद्ध करते हुए "नचसंन्यसनादेवसिद्धिंसमधिगच्छति"इसकोलिख ही बैठे, जिसके अर्थ यह हैं, कि संन्यास नाम केवल ज्ञानसे कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं होता, हमभी तो यहीकहते हैं कि केवलज्ञान से कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं होता, किन्तु वह ज्ञान जब योग के आकार को धारण करता है अर्थात् अनुष्ठान के रूप में आता है

तब उससे फल प्राप्ति होती है । यदि मान भी लिया जाय कि योगसे केवल अन्तःकरण की शुद्धि होती है और मोक्षरूपी फल केवल ज्ञानही से मिलता है तो अन्तःकरण की शुद्धि का हेतुयोग इस श्लोकमें वर्णन कर दिया, फिर आगे के श्लोकों में योगही पुरुषार्थ का हेतु क्यों कहा ? जैसा कि :—

योगयुक्तोविशुद्धात्माविजितात्माजितेंद्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि नलिप्यते॥७॥

पद०—योगयुक्तः । विशुद्धात्मा । विजितात्मा । जितेन्द्रियः । सर्वभूतात्मभूतात्मा । कुर्वन् । अपि । न । लिप्यते ॥

पदार्थ—(योगयुक्तः) जोकर्मयोगसेयुक्त है और (विशुद्धात्मा) विशुद्धहै आत्मा अर्थात् निर्मल है अन्तःकरण जिसका (विजितात्मा) और जिसनेअपनादेहरूपी आत्मा वश में कर लिया है,फिर कैसा है (जितेन्द्रियः) जिसने वाग्दण्ड,मनोदण्ड, कायदण्ड, इन तीन दण्डोंसे सर्व इन्द्रियों को जीत लिया है,और (सर्वभूतात्मभूतात्मा) सब भूतों का आत्मभूत जो परमेश्वर, वह है आत्मा जिसका अर्थात्उसको ही अपने आत्मवत् जो प्रिय मानता है (कुर्वन्अपिन लिप्यते) वह कर्म करता हुआ भी कर्म के बन्धन में नहीं आता ॥

भाष्य—ऐसा पुरुष अपने लिये काम नहीं करता किन्तु ईश्वर आज्ञापूर्त्ति के लिये कर्म करता है इसलिये उसके कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते ॥

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जड़ चेतन सब वस्तु मात्र को जो अपनाआत्मामानता है अर्थात् भेदबुद्धि नहीं करता वह कर्मके बन्धन में नहीं आता, पर जब उसमें भेदबुद्धि ही नहीं

तो कर्म कैसे करेगा क्योंकि क्रिया कारकादि व्यवहार बिना भेद बुद्धि से नहीं हो सकता। और दूसरी बात यह है कि दशम श्लोक में जाकर यह कथन करना है कि परमेश्वर को समर्पण करके जो कर्म करता है वह बन्धन को प्राप्त नहीं होता, यदि भेद बुद्धि न होती तो परमेश्वर को समर्पण करके कर्म करने के क्या अर्थ? इसलिये यहां तात्पर्य्य यह है कि जो ईश्वर को समर्पण करके निष्काम कर्म किये जाते हैं वह बन्धन का हेतु नहीं होते अर्थात् ईश्वरके निष्पापादि गुणों को धारण किया हुआ जो पुरुष है वह अन्य पुरुषों के समान देखता, सुनता, खाता, पीता, प्रकृति के बन्धन में नहीं आता, इस बातको अगले ८वें और ९वें श्लोकों में वर्णन किया जाता है:—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यन्शृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्॥८॥

पद०—न। एव। किंचित्। करोमि। इति। युक्तः। मन्येत। तत्त्ववित्। पश्यन्। शृण्वन्। स्पृशन्। जिघ्रन्। अश्नन्। गच्छन्। स्वपन्। श्वसन्॥

पदार्थ—(तत्त्ववित्) तत्त्व का वेत्ता (युक्तः) जो योगी है वह (नएवकिंचित्करोमि) मैं कुछ नहीं करता यह माने, क्या करता हुआ (पश्यन्) देखता हुआ (शृण्वन्) सुनता हुआ (स्पृशन्) स्पर्श करता हुआ (जिघ्रन्) सूंघता हुआ (अश्नन्) खाता हुआ (गच्छन्) चलता हुआ (स्वपन्) सोताहुआ (श्वसन्) श्वासलेता हुआ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

पद०—प्रलपन् । विसृजन् । गृह्णन् । उन्मिषन् । निमिषन् । अपि । इन्द्रियाणि । इन्द्रियार्थेषु । वर्तन्ते । इति । धारयन् ॥

पदार्थ—(प्रलपन्) प्रलाप करताहुआ (विसृजन्) किसीवस्तु को छोड़ता हुआ (गृह्णन्) किसी को ग्रहण करता हुआ (उन्मिषन्) आखों को खोलता हुआ (निमिषन्) मीटता हुआ, यह सब कुछ काम करता हुआ (इन्द्रियाणि) इन्द्रियें (इन्द्रियार्थेषु) इन्द्रियों के अर्थों में (वर्त्तन्ते) वर्त्तते हैं (इतिधारयन्) ऐसा धारण करता हुआ यह समझे कि मैं कुछ नहीं करता ॥

भाष्य—आत्मरति वाला पुरुष जिसकी एक मात्र परमात्मा में प्रीति है वह एवंविध शरीर यात्रा के लिये चेष्टा करता हुआ भी निष्कर्म ही कहलाता है, इसलिये उसको इन कर्मों से कोई आयास अथवा कर्त्तव्यता प्रतीत नहीं होती ॥

मायावादियों के मत में इसके यह अर्थ हैं कि :—"यस्यैवं तत्त्वविदः सर्वकार्य्यकरण चेष्टासु कर्मस्वकर्मैव पश्यतः सम्यग्दर्शिनस्तस्यसर्वकर्मसंन्यास एवाधिकारः कर्मणोऽभावदर्शनात् । नहिमृगतृष्णिकायामुदकबुद्ध्या पानायप्रवृत्तउदकाभावज्ञानेऽपि तत्रैवपानप्रयोजनायप्रवर्तते ॥ गी० ५।९ शं० भा०

अर्थ—उक्त सब प्रकार की चेष्टाओं में जो कर्म में अकर्मदेखने वाला सम्यग्दर्शी है उसका सब कर्मों के संन्यास में ही अधिकार है उसके कर्मों का अभाव देखे जाने से, जैसेकि मृग तृष्णा के

जलकी बुद्धि करके जो पुरुष पीने के लिये प्रवृत्त होता है और जब उसको उसमें जलके अभावका ज्ञान हो जाता है तब फिर वहां जल पीने के लिये नहीं जाता, इस प्रकार तत्त्ववेत्ता उन मृगतृष्णारूपी कर्मों का कर्त्ता नहीं । यह भाव जो मिथ्यावादियों ने इसश्लोकका निकाला है यह कदापि नहीं ! यदि यह सब कर्म मिथ्या होने से वह अकर्त्ता समझा जाता तो आगे के श्लोक में इससे विरुद्धार्थ वर्णन न किये जाते, जैसाकिः—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १०

पद०—ब्रह्मणि । आधाय । कर्माणि । सङ्गं । त्यक्त्वा । करोति । यः । लिप्यते । न । सः । पापेन । पद्मपत्रं । इव । अम्भसा ॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (कर्माणिं) कर्मों के (सङ्गं) सङ्गको (त्यक्त्वा) छोड़कर (ब्रह्मणि आधाय) ब्रह्मके आश्रित होकरकर्म करता है अर्थात् ईश्वरार्पण कर्म करता है स्वार्थ के लिये नहीं (सः) वह पुरुष (पापेन) पापके साथ (अम्भसा) जलसे (पद्मपत्रं) कमलके पत्ते के (इव) समान (न लिप्यते) कर्म के सङ्गको प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि जो केवल ईश्वरार्थ कर्म करता है वह कर्मों के सङ्गको नहीं प्राप्त होता अर्थात् उसके कर्म निष्काम ही होते हैं जैसेकि स्वामी के लिये काम करने वाला सेवक उस कर्म के फलसे मुक्त समझा जाता है ॥

सं०—ननु, जब वह अपने कर्मों को शरीर, मन, बुद्धि द्वारा करता है तो फिर उन कर्मों का कर्त्ता कैसे नहीं कहलाता ? उत्तर

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ११

पद०—कायेन । मनसा । बुद्ध्या । केवलैः । इन्द्रियैः । अपि । योगिनः । कर्म । कुर्वन्ति । सङ्गं । त्यक्त्वा । आत्मशुद्धये ॥

पदार्थ—(कायेन) केवलकाया से (मनसा) केवल मन से (बुद्ध्या) केवल बुद्धि से (केवलैः इन्द्रियैः अपि) केवल इन्द्रियों सेभी (योगिनः) योगी लोग (सङ्गं त्यक्त्वा) सङ्ग को छोड़कर (आत्मशुद्धये) आत्माकी शुद्धि के लिये कर्म (कुर्वन्ति) करते हैं ॥

भाष्य—यद्यपि काया, मन, बुद्धि, अथवा केवल इन्द्रियों से योगी जन कर्म करते हैं पर जब वह कर्म निष्कामता से अर्थात् किसी अन्य फल की इच्छा न करके केवल आत्मा की शुद्धि के लिये किये जाते हैं इसलिये वह उन कर्मों को करता हुआ भी अकर्त्ता ही कहलाता है क्योंकि वह कर्म किसी कामना के लिये नहीं किये गए ॥

सं०—ननु, आत्मा की शुद्धि भी एक कामना है फिर आपके सकाम कर्म और निष्काम कर्मों में क्या भेद है ? उत्तर

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।१२

पद०—युक्तः । कर्मफलं । त्यक्त्वा । शान्तिं । आप्नोति । नैष्ठिकीं । अयुक्तः । कामकारेण । फले । सक्तः । निबध्यते ॥

पदार्थ—(युक्तः) योगी पुरुष (कर्मफलं) कर्म के फल को (त्यक्त्वा) छोड़कर (नैष्ठिकीं) ब्रह्मनिष्ठा वाली (शान्तिं) मुक्ति को (आप्नोति) प्राप्त होता है और (अयुक्तः) जो योगी नहीं है अर्थात् निष्कामकर्म करने वाला नहीं है वह (कामकारेण) काम

का जो करना है इस हेतु से (फले) फलमें (सक्तः) लगा हुआ (निबध्यते) बांधा जाता है ॥

भाष्य—योगी मुक्ति के लिये कर्म करता है इसलिये वह कर्म उसके बन्धन का हेतु नहीं, और अयोगी पुरुष काम्यकर्मों की इच्छा करके अर्थात् स्त्री, पुत्र, धनादिकों की इच्छा करके कर्म करता है इसलिये वह कर्मों में बांधा जाता है। और योगी पुरुष का यह भी भेद है कि :—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्। १३

पद०—सर्वकर्माणि। मनसा। संन्यस्य। आस्ते। सुखं। वशी। नवद्वारे। पुरे। देही। न। एव। कुर्वन्। न। कारयन् ॥

पदार्थ –(सर्वकर्माणि) सब कर्मों को (मनसा) मनसे (संन्यस्य) त्याग करके (सुखं आस्ते) सुखपूर्वक स्थिर होता है, वह (वशी) जितेन्द्रिय सुखपूर्वक कहां ठहरता है (नवद्वारे पुरे) नवद्वारों वाला जो पुर नाम शरीर है उसमें, छ ज्ञानेन्द्रियों के द्वार और सातवां मस्तिष्क के ऊपर मूर्द्धादेश में, और दो मलमूत्र के। इस प्रकार नवद्वारों वाले शरीर में (देही) जीवात्मा स्थिर रहता है (न एव कुर्वन्) न कुछ करता है और (न कारयन्) न करने की प्रेरणा करता है अर्थात् समाधि अवस्था में जब सब कर्मों को मनसे त्याग देता है तब इस शरीर में रहता हुआ ही न कर्म करता है और न कर्म करने की प्रेरणा करता है ॥

सं०—ननु, जब परमात्मा ने उसे कर्मों का कर्त्ता बनाया है और उसके कर्म बनाए हैं फिर वह ऐसा स्वतन्त्र कैसे हो सकता है कि पूर्वोक्त देहमें रहकर भी स्वतन्त्र रहे? उत्तर—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते। १४

पद०—न । कर्तृत्वं । न । कर्माणि । लोकस्य । सृजति । प्रभुः । न । कर्मफलसंयोगं । स्वभावः । तु । प्रवर्त्तते ॥

पदार्थ—(लोकस्य) यह जो जीवलोक है इसके (कर्माणि) कर्मों को (प्रभुः) परमात्मा (न सृजति) नहीं रचता (न कर्तृत्वं) न उसके कर्त्तापन को रचता है और (न कर्मफलसंयोगं) कर्मों का जो फल उसके साथ संयोग को भी परमात्मा नहीं रचता (स्वभावः) जो पूर्वकृत प्रारब्ध कर्मों से उस जीव का साधु असाधु रूप स्वभाव बना है वही उस जीव की प्रकृति का हेतु है। और उस स्वभाव ही से कर्तृत्वादि व्यापार में (प्रवर्त्तते) प्रवृत्त होताहै॥

भाष्य—जब वह स्वभाव चित्तवृत्ति निरोध से रुक जाता है फिर वह उस काल में फल देने के लिये समर्थ नहीं होता । इस प्रकार शरीर में रहकर भी जीव निष्काम हो सकता है ॥

सं०—ननु, जब वह अपने भक्तों को निष्पाप कर देता है और पापी भक्तों को पुण्यात्मा बना देता है फिर कैसे कहा जाता है कि परमात्मा हर्त्ता कर्त्ता नहीं ? उत्तर—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतंज्ञानं तेन मुह्यंतिजंतवः ॥१५॥

पद०—न । आदत्ते । कस्यचित् । पापं । न । च । एव । सुकृतं । विभुः । अज्ञानेन । आवृतं । ज्ञानं । तेन । मुह्यन्ति । जन्तवः ॥

पदार्थ—(कस्यचित् पापं) किसी के पाप को (विभुः) परमात्मा (न आदत्ते) नहीं लेता (न च एव) और नाही (सुकृतं) पुण्य को

(अज्ञानेन) अज्ञान से (ज्ञानं) ज्ञान (आवृतं) ढका रहता है (तेन) इस कारण से (जन्तवः) प्राणी (मुह्यन्ति) मोह को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ईश्वर किसी के पापपुण्य का हर्त्ता कर्त्ता नहीं किन्तु जीव के अज्ञान से ही पापपुण्य उत्पन्न होते हैं जैसाकि आगे के श्लोक में भी कहते हैं:—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानंप्रकाशयति तत्परम्।१६

पद०—ज्ञानेन । तु । तत् । अज्ञानं। येषां। नाशितं। आत्मनः। तेषां । आदित्यवत् । ज्ञानं । प्रकाशयति । तत् । परं ॥

पदार्थ—(येषां) जिन जीवों के (आत्मनः) आत्मा का (तत्) वह (अज्ञानं) अज्ञान (ज्ञानेन) ज्ञानसे (नाशितं) दूर हो गया है (तेषां) उनका (आदित्यवत्) आदित्य के समान जो प्रकाशवाला ज्ञान है वह ज्ञेय वस्तु को (प्रकाशयति) प्रकाश कर देता है, वह ज्ञान कैसा है (तत्परं) परमात्मा विषयक अर्थात् परमार्थ वस्तु विषयक है। वह ज्ञान किस प्रकार उसका प्रकाश करता है:—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिंज्ञाननिर्धूतकल्मषाः१७

पद०—तद्बुद्धयः । तदात्मानः । तन्निष्ठाः । तत्परायणाः । गच्छन्ति । अपुनरावृत्तिं । ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

पदार्थ—(तद्बुद्धयः) उसपरमात्मा में है बुद्धि जिनकी(तदात्मानः) वही है आत्मा जिनका (तन्निष्ठाः) उसी परमात्मा में जिनकी निष्ठा है अर्थात् सर्व कर्मों को जिन्होंने ईश्वराधीन कर दिया है और (तत्परायणाः) वही है परं अयन नाम गति जिनकी वह

(गच्छन्ति अपुनरावृत्ति) अपुनरावृत्ति नाम तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति को प्राप्त होते हैं, फिर वह कैसे हैं (ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः) ज्ञानसे निर्धूत नाम दूरहोगए हैं कल्मष नाम पाप जिनके ॥

भाष्य—ननु, तुम्हारे मतमें तो मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है और यहां तो मुक्ति को अपुनरावृत्ति लिखा है जिसके अर्थ यह हैं कि जिससे पुनरावृत्ति न हो ?

उत्तर—अपुनरावृत्ति शब्द के यहां यह अर्थ नहीं किन्तु यह अर्थ है कि:-**आवर्तनं आवृत्तिः**-जिस में बारंबार अभ्यास किया जाय उसका नाम आवृत्ति है जैसेकि:—"**आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**" यह आवृत्ति है, इस प्रकार की आवृत्ति मुक्ति में मुक्तपुरुष को नहीं करनी पड़ती, क्योंकि मुक्ति तद्धर्मतापत्ति है अर्थात् ईश्वर के धर्मों की प्राप्ति है, इसलिये फिर वहां अभ्यासरूप आवृत्ति की आवश्यकता नहीं, इसलिये मुक्ति को अपुनरावृत्ति कहते हैं "**न पुनरावृत्ति यस्यां सा अपुनरावृत्तिः**" न हो पुनरावृत्ति नाम अभ्यास जिसमें सो कहिये अपुनरावृत्ति, ऐसी मुक्ति को प्राप्त होते हैं। अपुनरावृत्ति वाली मुक्ति कथन करने से जीवनमुक्ति की भी व्यावृत्ति होगई अर्थात् उससे भेद करने से यह विशेषण सार्थक होगया ॥

मायावादी और पौराणिकों की न लौटने वाली मुक्ति का खण्डन हमने विस्तार पूर्वक वेदान्तार्य्यभाष्य के अन्तिम सूत्र में किया है जो विशेष देखना चाहें वह वहां देखलें ॥

सं०-ननु, जिस ज्ञान में ईश्वराकार बुद्धि होजाती है उसकी परीक्षा क्या है ? उत्तर

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥ १८

पद०—विद्याविनयसम्पन्ने । ब्राह्मणे । गवि । हस्तिनि । शुनि । च । एव । श्वपाके । च । पण्डिताः । समदर्शिनः ॥

पदार्थ—(विद्याविनयसम्पन्ने) विद्या और विनय नाम नम्रता से सम्पन्नजो ब्राह्मण है उसमें और (गवि)गौ में (हस्तिनि) हाथी में (शुनि) कुत्ते में (च) और (श्वपाके) अत्यन्त अधमजो चाण्डालादिक हैं इन सब में, जो (समदर्शिनः) समदर्शी हैं अर्थात् उक्त प्रकार के ऊंच नीच जीवों में जो रागद्वेष बुद्धि नहीं करते ऐसे समदर्शी (पण्डिताः) पण्डित कहलाते हैं ॥

भाष्य—जिनकी इस प्रकार की रागद्वेष शून्य बुद्धि हो जाती है वह लोग "तद्बुद्धयस्तदात्मानः" इस श्लोक में कथन की गई बुद्धिवाले होते हैं अर्थात् उनको आत्मरति छोड़कर किसी में रागद्वेष करने की बुद्धि नहीं रहती। इसलिये वह लोग समदर्शी कहलाते हैं। स्वामी शं० चा० और उनके चेले यहां समदर्शी के यह अर्थ करते हैं कि:—"यथागंगातोयेतड़ागे सुरायां मूत्रेवाप्रतिबिम्बितस्यादित्यस्य नतद्गुणदोषसम्बन्धस्तथा ब्रह्मणोऽपि चिदाभासद्वाराप्रतिबिम्बित स्यनोपाधिगतगुणादोष सम्बन्धः" अर्थ—जैसे गंगा के जलमें तालाव के जलमें और (सुरा) मदिरा में, मूत्रमें, प्रति बिम्बित जो सूर्य्य है उसको इन वस्तुओं के गुण दोषकेसाथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, इसी प्रकार ब्रह्मको भी जो चिदाभास के द्वारा प्रतिबिम्बित है उसको उपाधिके गुण दोषों के साथ कोई सम्बंध

नहीं होता । इसभावसे जो समदर्शी है जिसकी दृष्टि में ब्राह्मण, गौ, कुत्ते आदिकों में सर्वत्र ब्रह्मही जीवभाव को प्राप्त हो रहा है उसको समदर्शी कहते हैं ॥

ब्रह्म ही ऊंच नीच योनियों में प्रविष्ट होकर जीव बन रहा है यह भाव गीता का कदापि नहीं, क्योंकि यदि नित्य शुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव ब्रह्मही जीव बनजातातो फिर उसकीनित्यशुद्धबुद्धमुक्तता ही क्या ? अज्ञानी जीव भी अपने लिये आप जेलख़ाना बनाकर आप प्रविष्ट नहीं होता तो ज्ञानीब्रह्म की तो कथा ही क्या। ब्रह्म अपने आप जीव कदापि नहीं बन सकता, इस बातको हम विस्तार पूर्वक वेदान्तार्य्यभाष्य "कृत्स्नप्रसक्तिनिरवयवत्वशब्दकोपोवा" ब्र० सू० २ । १ । २६ में इस प्रकार वर्णन कर आए हैं कि सारा ब्रह्मजीव बन जायगा तो शेष ब्रह्म नहीं रहेगा और यदि कुछ ब्रह्म भिन्न २ जीवों के भावको धारण करेगा तो ब्रह्म निरवयव नहीं रहेगा, इस प्रकार खण्डन कर आए हैं । यहां समदर्शी के यह अर्थ कदापि नहीं कि सब शरीरों में ब्रह्म जीवभाव से प्रविष्ट हो रहा है । यदि यह अर्थ होते तो आगे के श्लोकों में समदर्शी के वर्णन में यह न कहा जाता कि:—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समंब्रह्मतस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः १९

पद०—इह । एव । तैः । जितः । सर्गः । येषां । साम्ये । स्थितं । मनः । निर्दोषं । हि । समं । ब्रह्म । तस्मात् । ब्रह्मणि । ते । स्थिताः ॥

पदार्थ—(तैः) उन समदर्शियों ने (इह) इसी जन्म में (एव) निश्चय करके (सर्गः) संसार को (जितः) जीत लिया है (येषां)

जिनका (मनः) मन (साम्ये) समता में (स्थितं) स्थिर है (हि) जिस लिये (निर्दोषं) निर्दोष (समं) एकरस ब्रह्म है (तस्मात्) इसलिये (ब्रह्मणि) ब्रह्म में (ते) वे (स्थिताः) स्थिर हैं ॥

भाष्य—इस जन्म में उन्होंने मनको इसलिये जीत लिया है कि कूटस्थ नित्य निर्दोष जो ब्रह्म है जैसे वह निश्चल है उसी प्रकार जब उसके धर्मों को धारण करके जीव भी निर्दोष और एकाग्रवृत्ति वाला होजाता है तब वह ब्रह्म में स्थिर समझा जाता है ॥

यदि मायावादियों के मतानुकूल जीव के ब्रह्म बनने का उपदेश इन श्लोकों में होता तो यह न कहाजाता कि:—"**तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः**" निर्दोष और समता के कारण वे ब्रह्म में स्थिर हैं, किन्तु ब्रह्म का विवर्त्त होने से घट फूटकर जैसे मिट्टी हो जाता हैं और सुवर्ण के भूषण टूटकर जैसे सुवर्ण होजाते हैं, इस प्रकार ज्यों का त्यों ब्रह्म बनने का कथन होता, इस बात का उपदेश न होता कि जब उसको रागद्वेष नहीं रहते तब वह ब्रह्म में स्थिर समझा जाता है जैसाकि:—

न प्रहृष्येत्प्रियंप्राप्यनोद्विजेत्प्राप्यचाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः। २०

पद०— न। प्रहृष्येत्। प्रियं। प्राप्य। न। उद्विजेत्। प्राप्य। च। अप्रियं। स्थिरबुद्धिः। असंमूढः। ब्रह्मवित्। ब्रह्मणि। स्थितः॥

पदार्थ—(प्रियं) प्यारी वस्तु को (प्राप्य) प्राप्त होकर (प्रहृष्येत्) प्रसन्न न हो, और न (अप्रियं) अप्रिय वस्तु को (प्राप्य) प्राप्त होकर (उद्विजेत्) उद्वेग को प्राप्त हो अर्थात् दुखी नहो (स्थिर बुद्धिः) सदैव स्थिर बुद्धि वाला रहे (असंमूढः) मोह को कभी प्राप्त नहो,

इस प्रकार का (ब्रह्मवित) ब्रह्मको जानने वाला (ब्रह्मणिस्थितः) ब्रह्म में स्थिर समझा जाता है ॥

सं०—ननु, तुम्हारे मतमें जब मुक्ति कालमें भी जीवका ब्रह्म से भेद ही रहता है तो फिर वह ब्रह्म के आनन्द को कैसे लाभ करसक्ता है ? उत्तर

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्माविंदत्यात्मनियत्सुखम्
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मासुखमक्षय्यमश्नुते॥२१॥

पद०—बाह्यस्पर्शेषु । असक्तात्मा । विन्दति । आत्मनि । यत् । सुखं । सः । ब्रह्मयोगयुक्तात्मा । सुखं । अक्षय्यं । अश्नुते ॥

पदार्थ—(बाह्यस्पर्शेषु) बाहर के जो स्पर्श अर्थात् शब्द, स्पर्शादि विषय उनमें (असक्तात्मा) जिसका आत्मा फसा हुआ नहीं वह (आत्मनि) अपने आप में (यत्सुखं) जिस सुख को (विन्दति) लाभ करता है, अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोधरूपी जिस सुख को वह लाभ करता है उस सुख को (ब्रह्म योगयुक्तात्मा) ब्रह्म का जो योग अर्थात् ब्रह्म के साथ जो सम्बन्ध उससे युक्त है आत्मा जिसका (सः) वह (अक्षय्यंसुखं) नाश न होने वाले सुख को (अश्नुते) भोगता है ॥

भाष्य—ब्रह्मयोग से तात्पर्य्य यहां तद्धर्मतापत्ति का है जैसा कि :—(१) " परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिसम्पद्यते" (२) सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता (३) यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम् । तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूय निरञ्जनःपरमं साम्यमुपैति॥ मु० ३।२।३

(४) इदं ज्ञानमुपाश्रित्य ममसाधर्म्य मागताः ॥ गी० १४। २ अर्थ-(१) उस परंज्योति को प्राप्त होकर अपने निर्मल स्वरूप से स्थिर होता है अर्थात् उस परंज्योति परमात्मा के निष्पापादि धर्मों को पाकर ही जीवात्मा निर्मल होता है। (२) वह सब आनन्दों को ब्रह्म के साथ भोगता है। (३) जब जीवात्मा उस स्वयंप्रकाश सर्वजगत् की योनि परमात्मा को साक्षात्कार कर लेता हैं तब पुण्यपाप को छोड़ निष्पाप होकर परब्रह्म के साथ समता को प्राप्त होताहै। (४) इस ज्ञान को पाकर मेरी समता को प्राप्त होता है। इस प्रकार के सम्बन्ध का नाम यहां ब्रह्मयोग है, इस योग को उपलब्ध किया हुआ पुरुष ब्रह्म के अक्षय सुख को इस प्रकार भोगता है जिस प्रकार वाह्य विषयों से रहित जो अंतर्मुख पुरुष है वह चित्तवृत्ति निरोध रूपी सुख को अनुभव करता है ॥

इस श्लोक से स्पष्ट होगया कि मुक्ति में ब्रह्म के साथ योग होता है ब्रह्म का स्वरूप नहीं होता। यदि जीव मुक्ति में ब्रह्म हो जाता तो "ब्रह्मयोगयुक्तात्मा" कथन करने की आवश्यकता न पड़ती और फिर इस वात के उपदेश की भी आवश्यकता न होती कि वाह्य स्पर्शों में जो आसक्त नहीं है वही आत्मिक सुख को लाभ करता है, क्योंकि ब्रह्म बनने में तो वाह्य स्पर्श रहते ही नहीं फिर शमदमादिकों की शिक्षा की क्या आवश्यकता है ?

मधुसूदन स्वामी ने "ब्रह्मयोगयुक्तात्मा" के अर्थ जीव ब्रह्मकी एकताकेकिये हैं औरफिर यहां वही तत्त्वमसि की सारी कहानी लिखदी है अस्तु, इस खैंच से क्या, ब्रह्मयोग शब्द ही

इस बात को स्पष्ट करता है कि मुक्ति में जीव ब्रह्म नहीं बनता किन्तु ब्रह्म के योग के साथ युक्त होता है ॥

सं०—ननु, जब ब्रह्मके योगके साथ युक्त होना ही मुक्ति है तो ज्ञान दृष्टि से ब्रह्मके साथ युक्त रहे और सांसारिक भोगभी भोगता रहे, फिर मुक्त पुरुष बाह्य विषयों से असङ्ग क्यों रहे ?

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःख योनय एव ते। आद्यंतवंतः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२

पद०—ये। हि। संस्पर्शजाः। भोगाः। दुःखयोनयः। एव। ते। आद्यन्तवन्तः। कौन्तेय। न। तेषु। रमते। बुधः ॥

पदार्थ—(हि) निश्चय करके (संस्पर्शजाः) इन्द्रियों के सम्बंध से (ये) जो (भोगाः) भोग होते हैं (ते) वे (दुःखयोनयः) दुःख के कारण ही होते हैं। हे कौन्तेय फिर वह कैसे हैं (आद्यन्तवन्तः) आदि और अन्तवाले हैं अर्थात् उत्पत्ति और नाश वाले हैं (तेषु) उनमें (बुधः) बुद्धिमान् (नरमते) नहीं लगता ॥

सं०—ननु, शरीर छोड़ने के अनन्तर वह भोग अपनें आप छोड़ जायंगे, फिर यहां उनके छोड़नेका यत्न करनेसे क्यालाभ ?

शक्नोतीहैवयः सोढुं प्राक् शरीर विमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३

पद०—शक्नोति। इह। एव। यः। सोढुं। प्राक्। शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं। वेगं। सः। युक्तः। सः। सुखी। नरः ॥

पदार्थ—(शरीरविमोक्षणात्) शरीरके छोड़ने से (प्राक्) पहले (कामक्रोधोद्भवं) कामक्रोध से उत्पन्न हुए (वेगं) वेगको (यः)

जो पुरुष (इहएव) इसी जन्म में (सोढुं) सहारने को (शक्नोति) समर्थ होता है (सःयुक्तः) वही योगी है (सःनरःसुखी) और वही सुखी है ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेवयः। सयोगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति२४

पद०—यः। अन्तःसुखः। अन्तरारामः। तथा। अन्तर्ज्योतिः। एव। यः। सः। योगी। ब्रह्म। निर्वाणं। ब्रह्मभूतः। अधिगच्छति॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (अन्तःसुखः) अपने आत्मा में सुख वाला है (अन्तरारामः) अपने आत्मा में ही रमण करने वाला है (तथा) इसी प्रकार (अन्तर्ज्योतिः)अन्तर है ज्योतिनामप्रकाश जिसके (सःयोगी) वह योगी, (ब्रह्मभूतः) ब्रह्मके गुणोंको धारण करके (ब्रह्मनिर्वाणं) मुक्ति को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है॥

भाष्य—अन्तर्मुख पुरुष मुक्ति को प्राप्त होता है, यह इस श्लोक का आशय है। मधुसूदनस्वामी ने "ब्रह्मनिर्वाणं" के यह अर्थ किये हैं, कि कल्पितद्वैत ब्रह्म में न होने से वह ब्रह्म-निर्वाण कहलाता है, और स्वामी शङ्कराचार्य्य ने ब्रह्मनिर्वाणं के अर्थ मुक्ति के किये हैं॥

वास्तव में इसके अर्थ मुक्ति के ही हैं, अद्वैतवादियों की ब्रह्म बनजाने वाली मुक्ति के नहीं, किन्तु ब्रह्म प्राप्तिरूप मुक्ति के हैं, इसी लिये "लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं" कहा है, अर्थात् ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त होते हैं। ब्रह्मभूतः—के अर्थ मधुसूदनस्वामी ने यह किये हैं, कि:—"सर्वदैव ब्रह्मभूतोनान्यः"अर्थात् जीव सर्वदा काल ही ब्रह्म है उससे जुदा नहीं। यहां उक्त स्वामी

ने नित्य प्राप्त की प्राप्ति भी लिखी है अर्थात् जीव ब्रह्मरूप प्रथम भी था पर अपने स्वरूप को भूला हुआ था वह अपने नित्य प्राप्त रूप को पाकर ब्रह्मरूप होता है ॥

यदि इसके यह अर्थ होते तो "ब्रह्मभूतः" जीव को कह कर "ब्रह्मनिर्वाणं अधिगच्छति" न कहा जाता अर्थात् ब्रह्मभूतःनाम ब्रह्म के गुणों को धारण करके ब्रह्म निर्वाण नाम मुक्ति को प्राप्त होताहै । ब्रह्मभूतः यहां भूतकाल में क्त प्रत्ययहै जिसके यह अर्थ होते हैं ब्रह्मैव अभूत–ब्रह्मभूतः अर्थात् ब्रह्मके गुणों को धारण करके ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है । देखो इसी बातको अगले श्लोक में कथन करते हैं :—

लभंते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥२५

पद०—लभन्ते । ब्रह्म । निर्वाणं । ऋषयः । क्षीणकल्मषाः । छिन्नद्वैधाः । यतात्मानः । सर्वभूतहिते । रताः ॥

पदार्थ—(क्षीणकल्मषाः) क्षीण हो गये हैं पाप जिनके, ऐसे (ऋषयः) ऋषि (ब्रह्मनिर्वाणं) उस मुक्तिको (लभन्ते) प्राप्त होते हैं, फिरवह कैसेऋषि हैं (छिन्नद्वैधाः) जिनके संशय दूर होगए हैं, और (यतात्मानः) जिन्होंने परमात्मा में चित्त को एकाग्र किया है । (सर्वभूतहिते रताः) और जो सब प्राणियों के हितमें लगे हुए हैं॥

भाष्य—"सर्वभूतहितेरताः" इस शब्द से पाया जाता है कि समदर्शी लोग ब्रह्म निर्वाण पदको प्राप्तहोते हैं । वह समदृष्टि यह है :—"यस्मिन्त्सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोकएकत्वमनुपश्यतः॥

यजु०४०। ७ अर्थ—जिस परमात्मा में सम्पूर्ण प्राणी (आत्मैव) आत्मावत् (अभूत्) प्रतीत होते हैं, उस परमात्मा में एकत्वदेखने वाले पुरुष को (को मोहः कः शोक) कोई मोह और शोक नहीं होता अर्थात् परमात्मा के एकत्वदर्शी पुरुष की शोक मोह से निवृत्ति होजाती है, इसलिये परमात्मदर्शीको शोक मोह प्रतीत नहीं होते॥ मधुसूदन स्वामी इसके यह अर्थ करते हैं कि :— संयतात्मानः परमात्मन्येवेकाग्रचित्ताः एतादृशाश्चाद्वैतादर्शित्वे नसर्व भूतहितेरताःहिंसाशून्याः" अर्थ–संयतात्मा वहहैं जो परमात्मा में एकाग्र चित्तवाले हैं, इस प्रकार के अद्वैतदर्शी अर्थात् एक आत्मा देखने वाले सर्व भूतों के हितमें रत हैं अर्थात् हिंसा शून्य हैं॥

उक्त स्वामी के इस कथन में परस्पर विरोध पाया जाता है, जब एक परमात्मा में एकाग्र चित्तवाले हैं तो फिर अद्वैतदर्शी कैसे? और यदि यह कहा जाय कि एकमात्र परमात्मा ही परमात्मा उनको प्रतीत होता है इसलिये अद्वैतदर्शी हैं तो फिर "सर्वभूतहितेरताः" कैसे? क्योंकि इस शब्द के अर्थ यह हैं कि जो सर्व प्राणियोंके हित में लगाहो, इससे स्पष्ट द्वैतवाद पायाजाता है मायावादियों का अद्वैतवाद कदापि नहीं और जो"ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति" "अवस्थितेरितिकाशकृत्स्न" ब्र० सू० १। ४। २२ इस उपनिषद् वाक्य और ब्र० सू० को लिखकर जीवको ब्रह्म वनाया है यह भी ठीक नहीं, उपनिषद्वाक्य के अर्थ यह हैं कि वह ब्रह्म के गुणों को धारण करके ब्रह्म को प्राप्त होताहै औरसूत्रकेअर्थयहहैं कि "आत्मावारेद्रष्टव्यः"

इस वाक्य में परमात्माको आत्मा शब्द से इसलिये कहा गया है कि (अवस्थितेः) सर्वव्यापकता से उसकी स्थिति जीवात्मा में पाए जाने से उसको आत्मा कहा गया है इसलिये वह आत्मरूप से श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने योग्य है, और आगे के श्लोकों में फिर साधनों पर वल देते हैं, इससे पाया जाता है कि ब्रह्मनिर्वाण शमदमादिकों के अनुष्ठानसे होता है ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितोब्रह्मनिर्वाणंवर्त्ततेविदितात्मनाम्२६

पद०—कामक्रोधवियुक्तानां । यतीनां । यतचेतसां । अभितः । ब्रह्म । निर्वाणं । वर्त्तते । विदितात्मनां ॥

पदार्थ—(कामक्रोधवियुक्तानां) काम क्रोध से जो रहित हैं (यतीनां) यत्नशील (यतचेतसां) वशीकृत अन्तःकरण वाले (विदितात्मनां) जिन्होंने आत्मा परमात्माको विदित नाम जानलिया है उनके लिये (अभितः) दोनों ओर (ब्रह्मनिर्वाणं) ब्रह्मनिर्वाण परमात्मा की प्राप्तिहै अर्थात् वह जीवित भी शमदमादिकों के धारण करने के कारण ब्रह्मको प्राप्त हैं और मृत्यु के अनन्तर भी वह ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥

सं०—ननु, तद्धर्मतापत्तिरूप ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति मरणान्तर तो हो सकती है पर नानाविध क्लेशों का आकर इस शरीर को धारण करते हुए ब्रह्म प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर निम्नलिखित तीन श्लोकों से देते हैं :—

स्पर्शान्कृत्वाबहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः।
प्राणापानौसमौकृत्वानासाभ्यंतरचारिणौ २७

पद०—स्पर्शान् । कृत्वा । वहिः । वाह्यान् । चक्षुः । च । एव । अन्तरे । भ्रुवोः । प्राणापानौ । समौ । कृत्वा । नासाभ्यन्तरचारिणौ ।

पदार्थ—(वाह्यान्) बाहर के (स्पर्शान्) शब्द स्पर्शादिरूप जो विषय हैं उनको (वहिः कृत्वा) बाहर करके (च) और (भ्रुवोः) जो आंखों के ऊपर रोमावली हैं उनके (अन्तरे) मध्य में (चक्षुः) नेत्रों को करके अर्थात् नेत्रों की दृष्टि का निरोध करके (प्राणापानौ) जो प्राण और अपान वायु है वह कैसी है (नासाभ्यन्तरचारिणौ) जो नासिका के भीतर गति करती है उसको (समौकृत्वा) सम करके अर्थात् कुम्भक प्राणायाम करके :—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः । विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदामुक्तएवसः ॥ २८ ॥

पद०—यतेन्द्रियमनोवुद्धिः । मुनिः । मोक्षपरायणः । विगतेच्छाभयक्रोधः । यः । सदा । मुक्तः । एव । सः ॥

पदार्थ—(यतेन्द्रियमनोवुद्धिः) इन्द्रिय, मन, और बुद्धि, को जिसने अपने आधीन कर लिया है ऐसा (मुनिः) मननशील (मोक्षपरायणः) मोक्ष परायण होता है अर्थात् मुक्ति को पाता है, फिर वह कैसा है (विगतेच्छाभयक्रोधः) दूर हो गए हैं इच्छा भय क्रोध जिसके (यः) जो इस प्रकार का मुनि है (सः एव सदा मुक्तः) वह सदा ही मुक्त है अर्थात् जीवन काल में जीवन मुक्त है और मरणान्तर कैवल्य मुक्त है । वह परमात्मा के किस प्रकार के ज्ञान से मुक्ति में आनन्द को अनुभव करता है ?

भोक्तारंयज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् । सुहृदं-सर्वभूतानां ज्ञात्वामां शांतिमृच्छति ॥ २९ ॥

पद०—भोक्तारं । यज्ञतपसां । सर्वलोकमहेश्वरं । सुहृदं । सर्व भूतानां । ज्ञात्वा । मां । शान्ति । ऋच्छति ॥

पदार्थ—(भोक्तारंयज्ञतपसां) यज्ञ और तपों का भोक्ता नाम पालन करने वाला है, भुज् धातु के अर्थ यहां पालन करने वाले के हैं अर्थात् यज्ञादिकों की मर्यादा का जो पालन कराने वाला है, फिर कैसा है (सर्वलोकमहेश्वरं) सब लोकों का सर्वोपरि ईश्वर है और (सर्वभूतानां) सब प्राणियों का (सुहृदं) मित्र है (मां ज्ञात्वा) कृष्णजी कहते हैं कि मुझको ऐसा परमात्मा जानकर (शान्तिमृच्छति) पुरुष शान्ति को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—यहां कृष्णजी ने अपना प्रयोग तद्धर्मतापत्ति के अभिप्राय से किया है अर्थात् कृष्णजी उसकी विभूति का एक देश हैं इसलिये उन्होंने अपने आपको परमात्मा के राज्य में सम्मिलित करके ऐसा कहा है जैसाकि इन्द्र और प्रतर्दनादिकों ने भी कहा है । यदि अपने आपको साक्षात् ईश्वर मानकर कहते तो "**ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**" गी० १८ ६१ और "**तमेवशरणंगच्छ सर्वभावेनभारत**" गी० १८ । ६२ इत्यादि श्लोकों में ईश्वर को अपने से भिन्न और उसी को सर्वभूतों की एक मात्र शरण कदापि वोधन न करते ॥

—:o:—
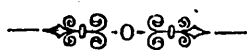
इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिवद्धे, श्रीमद्भगवद्गीता योगप्रदीपार्य्यभाष्ये, संन्यासयोगोनाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथ

॥ षष्ठोऽध्यायः ॥

—:-०-:—

सङ्गति—पञ्चमाध्याय में ज्ञानयोग और कर्मयोग का वर्णन भली भांति किया गया, अब इस अध्याय में कतिपय श्लोकों में ज्ञानयोग और कर्मयोग का समुच्चय वर्णन करके चित्तवृत्ति निरोध का मुख्य उपाय जो योग है उसका वर्णन करते हैं ॥

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

पद०—अनाश्रितः । कर्मफलं । कार्यं । कर्म । करोति । यः । सः । संन्यासी । च । योगी । च । न । निरग्निः । न । च । अक्रियः ॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (कर्मफलं) कर्म के फल को (अनाश्रितः) आश्रय न करके (कार्यकर्म) कर्तव्य कर्म को (करोति) करता है (सः संन्यासी) वह संन्यासी है (च) और योगी है (च) और (न निरग्निः) जो अग्नि को स्पर्श न करे वह संन्यासी नहीं (न च अक्रियः) और जो कर्म न करताहो वह भी संन्यासी नहीं ॥

भाष्य—इस श्लोक में ज्ञान और कर्म का समुच्चय सिद्ध किया है कि जो निष्काम कर्म करता है वही (संन्यासी) ज्ञानी है और वही योगी है, अन्य कोई निष्कर्मी अथवा निरग्नि संन्यासी नहीं कहला सकता । गीता से प्रथम कई स्मार्त्त लोग इस प्रकार के मिथ्या संन्यास को संन्यास मानते थे जिसमें अग्नि को स्पर्श नहीं किया जाता और नाहीं कोई सत्कर्म किया जाता है, इस प्रकार

का मिथ्या संन्यास अवैदिक था इस लिये गीता में इसका खण्डन किया गया है, और वेद में यह आज्ञा है कि:—"कुर्वन्नेवेह कर्माणिजिजीविषेच्छतꣳसमाः" यजु० ४० । २ वायुरनिलममृतमथेदंभस्मान्तꣳशरीरम्" यजु० ४० । १५ इन मंत्रों में यह कथन किया है कि कर्म करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। और इस शरीर के वायु आदि जो तत्त्व हैं वह अमृत हैं और शरीर भस्मान्त है अर्थात् दग्ध कर देने तक ही शरीररूप कार्य्य है।

उक्त दोनों मंत्रों से यह सिद्ध होगया कि कोई अकर्मी संन्यासी नहीं कहला सकता और नाही निराग्नि। स्मार्त्त संन्यास का मिथ्या प्रभाव लोगों पर यहां तक पड़ा हुआ है कि वे अवैदिक लोग अपने संन्यासियों को मृत्यु के अनन्तर दबाते हैं जलाते नहीं, क्योंकि वह संन्यासी का अग्नि संस्कार करना विरुद्ध समझते हैं, इससे ज्ञात होता है कि वैदिक संन्यास से भूलकर जबलोग संप्रदायी संन्यासोंमें पड़े तबसे यह निराग्नि और निष्क्रिय संन्यास मार्ग चलगए, जिनका खण्डन गीताके इस अग्रिमश्लोक में कियागयाहै:—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धिपांडव ।
नह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।२

पद०—यं । संन्यासं । इति । प्राहुः । योगं । तं । विद्धि । पाण्डव । न । हि । असंन्यस्तसंकल्पः । योगी । भवति । कश्चन ॥

पदार्थ—हे पाण्डव (यं) जिसको (संन्यासं) सब कर्मों का त्यागरूप संन्यास श्रुतियें (प्राहुः) कहती हैं (तं) उसको (योगं) योग (विद्धि) जान (हि) निश्चय करके (असंन्यस्तसं-

कल्पः) जिसने संकल्पों का त्याग नहीं किया वह पुरुष (कश्चन) कोई भी (योगी न हि भवति) योगी नहीं हो सकता ॥

भाष्य—इस श्लोक में योग और संन्यासको इसलिये एक कहा गया है कि:-"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" यो० १।१।२ इस सूत्र में चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है, और प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, यह पांच प्रकार की चित्त की वृत्तियें हैं, इनके रोकने से जब योग होता है तो वह संन्यास है, क्योंकि जबतक संकल्पों का त्याग नहीं होता तबतक उक्त प्रकार का योग नहीं हो सकता, इसलिये योग और संन्यास को एक कहा गया। वृत्तियें यह हैं:—

(१) **प्रमाण**—उसको कहते हैं जो प्रमानाम ज्ञानका करण हो अर्थात् ज्ञानके उत्पन्न करने वाला हो, वह प्रमाण "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" न्या० १।१।३ इस न्याय सूत्रानुकूल प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, एवं प्रमाण चार प्रकार का है और आधुनिक वेदान्ती अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को मिलाकर छः प्रकार का मानते हैं और योगशास्त्र वाले प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, यह तीन ही प्रमाण मानते हैं जो तीन वा चार मानते हैं वह और प्रमाणों को इन्हीं प्रमाणों के अन्तर्भाव करलेते हैं, इस प्रकार तीन, चार, छ, आठ, प्रमाणों की भिन्न २ संख्या मानने वालों का कोई विरोध नहीं। यह प्रमाण ग्रन्थों का विषय है इसलिये इसको यहां विस्तार पूर्वक नहीं लिखते, यहां वृत्तियों के प्रसङ्ग में नाम मात्र से निरूपण कर देते हैं (२) मिथ्या ज्ञानको **विपर्यय** कहते हैं। यह भी अ-

विद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेष, इस भेदसे पांच प्रकार का है (३) **विकल्प**—उसको कहते हैं जिस के लिये शब्द हो, और वस्तु नहो, जैसे शशशृङ्गादि (४) ज्ञानादिकों का जिस में अभाव हो उसको "**निद्रा**" कहते हैं जैसाकि महर्षि पतंजलि ने कहा है कि:—" **अभावप्रत्ययालंबनावृत्तिर्निद्रा**" यो० १।१।१० (५)पूर्व अनुभव किये हुए संस्कारों से जो ज्ञान उत्पन्न हो उसको **स्मृति** कहते हैं। एवं इन पांच वृत्तियों के निरोध का नाम यहां योग है॥

सं०—ननु, योग में कर्म कारण है अर्थात् जब तक वह कर्म न करे तब तक योगी नहीं हो सकता और संन्यास में शमदमादि कारण हैं, जब तक वह शमी और दमी न हो तबतक वह संन्यासी नहीं हो सकता। इस प्रकार योग और संन्यास का भेद पाया जाता है, फिर दोनों का ऐक्य कैसे? इस आशय को लेकर कहते हैं:—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्यतस्यैव शमः कारणमुच्यते।३।

पद०— आरुरुक्षोः। मुनेः। योगं। कर्म। कारणं। उच्यते। योगारूढस्य। तस्य। एव। शमः। कारणं। उच्यते॥

पदार्थ—(मुनेः) मननशील जो मुनि है उसको (योगं) योगपर (आरुरुक्षोः) आरोहण करने के लिये कर्म को (कारणं) कारण (उच्यते) कहा गया है और (योगारूढस्य) जब वह योगपर आरूढ़ हो जाता है अर्थात् साधनरूपीकर्म को प्राप्त होजाता है फिर

(तस्य एव) उसी का (शमः कारणं उच्यते) शम कारण कहा जाता है ॥

भाष्य—प्रथम चित्तवृत्ति निरोध के लिये यमनियमादिकों की आवश्यकता है और जब चित्तवृत्ति निरोध होने लगता है फिर केवल शम जो मनका निरोध है वही कारण कहा जाता है, इस प्रकार कर्म और शम साधनप्रधान होने से भी योग और संन्यास का भेद नहीं। जैसा आगे भी कहते हैं:—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।४

पद०—यदा। हि। न। इन्द्रियार्थेषु। न। कर्मसु। अनुषज्जते। सर्वसंकल्पसंन्यासी। योगारूढः। तदा। उच्यते ॥

पदार्थ—(हि) निश्चयकरके (इन्द्रियार्थेषु) इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूपादि विषयों में (यदा) जब (न अनुषज्जते) संगको प्राप्त नहीं होता और जब (कर्मसु न अनुषज्जते) कर्मों में संगको प्राप्त नहीं होता (सर्वसंकल्पसंन्यासी) और सब संकल्पोंका कर दिया है त्याग जिसने, ऐसा पुरुष (तदा) तब (योगारूढः उच्यते) योग पर आरूढ़ अर्थात् योग को प्राप्त कहा जाता है। इस प्रकार योगारूढ़ होकर पुरुष को चाहिए कि वह अपने आत्माका उद्धार करे॥

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ।५।

पद०—उद्धरेत्। आत्मना। आत्मानं। न। आत्मानं। अवसादयेत्। आत्मा। एव। हि। आत्मनः। बन्धुः। आत्मा। एव। रिपुः। आत्मनः ॥

पदार्थ—(आत्मना) आत्मिक बल से (आत्मानं) विषय सागर में निमग्न अपने आत्मा को (उद्धरेत्) निकाले (आत्मानं) आत्मा को (न अवसादयेत्) नीचे न डुबावे (एव) निश्चय करके आत्मा ही (आत्मनः) अपने आपका (बन्धुः) बन्धु है और (आत्माएव) आत्मा ही (आत्मनः रिपु) अपने आपका शत्रु है ॥

सं०—किन लक्षणों वाला आत्मा अपने आपका बन्धु है और किन लक्षणों वाला आत्मा अपने आपका शत्रु है इस बात को आगे के श्लोक में स्पष्ट करते हैं:—

बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्ययेनात्मैवात्मनाजितः
अनात्मनस्तुशत्रुत्वेवर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६

पद०—बन्धुः । आत्मा । आत्मनः । तस्य । येन । आत्मा । एव। आत्मना । जितः । अनात्मनः । तु । शत्रुत्वे । वर्त्तेत । आत्मा । एव । शत्रुवत् ॥

पदार्थ—(तस्य) उसका (आत्मनः) अपने आपका (आत्मा) अपना आप (बन्धुः) सम्बन्धि है (येन) जिसने (आत्मना) अपने आपसे (एव) निश्चय करके (आत्मा) अपना आप (जितः) जीत लिया है (अनात्मनः) जिसने अपने आत्मा को वशीभूत नहीं किया उसके (तु) निश्चय करके (शत्रुत्वे) शत्रुपन में (आत्माएव) आत्मा ही (शत्रुवत्) शत्रु के समान (वर्त्तेत) वर्त्तता है॥

भाष्य—जिसने अपने आपको जीत लिया है उसका अपना आप उसका सम्बन्धि है और जिसने अपना आप नहीं जीता उसका अपना आप उसका शत्रु है ॥

जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७

पद०—जितात्मनः । प्रशांतस्य । परमात्मा । समाहितः । शीतोष्णसुखदुःखेषु । तथा । मानापमानयोः ॥

पदार्थ—(जितात्मनः) जीत लिया है आत्मा जिसने, फिर कैसा है कि जो (प्रशान्तस्य) शान्त चित्त वाला है, उसकी (समाहितः) समाधि में परमात्मा आरूढ होता है, वह प्रशान्त चित्त कैसा है, जिसने (शीतोष्णसुखदुःखेषु) शीत, ऊष्ण, सुख, दुःख में (तथा) तैसे ही (मानापमानयोः) मान अपमान में अपने आपको जीत लिया है । फिर वह योगी कैसा है :—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥८॥

पद०—ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा । कूटस्थः । विजितेन्द्रियः । युक्तः । इति । उच्यते । योगी । समलोष्टाश्मकांचनः ॥

पदार्थ—(ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा) ज्ञान=शास्त्रोक्त ज्ञान और विज्ञान=अनुभवरूप ज्ञान अर्थात् परमात्मा का साक्षात्काररूप ज्ञान, इस प्रकार के ज्ञान और विज्ञान से तृप्त नाम संतुष्ट है आत्मा जिसका, वह योगी कैसा है (कूटस्थः) विषयों के समीपस्थ होने पर भी विकार से शून्य है, (विजितेन्द्रियः) जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, फिर कैसा है (समलोष्टाश्मकांचनः) लोष्ट=मिट्टी, अश्म=पत्थर, कांचन=सुवर्ण, जिसके लिये सम हैं। इस प्रकार का योगी (युक्तः) योगारूढ (इति उच्यते) कहा जाता है ॥

भाष्य—इसका नाम पर वैराग्य है । अपर वैराग्य से इसका भेद यह है कि इसमें विज्ञान द्वारा तृप्तात्मा होने के कारण पर-

मात्मा का साक्षात्कार हो जाता है और उसमें केवल देखे और सुने हुए भोगों से ही उदासीनता होती है, फिर वह योगी इस प्रकार का समदर्शी हो जाता है जैसाकि अग्रिम श्लोक में वर्णन किया जाता है:—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥९॥

पद०—सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुषु । अपि च। पापेषु । समबुद्धिः । विशिष्यते ॥

पदार्थ—(सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु) सुहृद्=जो बिना उपकार किये और बिना पूर्व स्नेह के सम्बन्ध से उपकार करता हो । मित्र=जो स्नेह के कारण उपकारक हो । अरि=जो स्वाभाविक द्वेष करता हो । उदासीन=जो दो विवाद करने वालों की उपेक्षा करदे । मध्यस्थ=जो दो विवाद करने वालों की हित की इच्छा करने वाला हो । द्वेष्य=जो अपकार किये जाने पर द्वेष करता हो । बन्धु=जो सम्बन्ध के कारण उपकार करता हो। इस प्रकार के सुहृद्, मित्र, अरि, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, और बन्धुओं में (साधुषु) शास्त्रोक्त करने वालों में (अपिच) और (पापेषु) पापात्माओं में जो (समबुद्धिः) समदृष्टि की बुद्धि वाला है वह (विशिष्यते) सबसे उत्कृष्ट योगी है । इस प्रकार योगारूढ का लक्षण और फल कहके अब उसके योग के अंगों का वर्णन करते हैं:—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥१०॥

पद०—योगी । युंजीत । सततं । आत्मानं । रहसि । स्थितः । एकाकी । यतचित्तात्मा । निराशीः । अपरिग्रहः ॥

पदार्थ—(योगीआत्मानं) योग करने वाला अपने आत्मा को (सततं) निरंतर (रहसि स्थितः) एकान्त में स्थित हुआ २ (आत्मानं युंजीत) अपने आत्मा को योग के साधनों के साथ जोड़े, कैसा योगी है कि जो (एकाकी) अकेला रहता है और (यतचित्तात्मा) आधीन कर लिया है अपना अन्तःकरण जिसने, फिर कैसा है (निराशीः) जिसको तृष्णा नहीं है,और (अपरिग्रहः) जो आवश्यकता से अधिक वस्तु पास नहीं रखता ॥

सं०—अब निम्नलिखित दो श्लोकों में योगी के आसन की विधि बतलाते हैं :—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितंनातिनीचंचैलाजिनकुशोत्तरम्

पद०—शुचौ । देशे । प्रतिष्ठाप्य । स्थिरं । आसनं । आत्मनः । न । अति । उच्छ्रितं । न । अति । नीचं । चैलाजिनकुशोत्तरं ॥

पदार्थ—(आत्मनः) अपना(स्थिरं) स्थिर आसन (शुचौदेशे) अच्छे पवित्र देश में (प्रतिष्ठाप्य) विछाकर अभ्यासकरे, वह कैसा आसन हो जो (न अति उच्छ्रितं) न बहुत ऊंचा हो और (न अति नीचं)न बहुत नीचा हो, फिर कैसाहो (चैलाजिनकुशोत्तरं) प्रथम कुशा विछाए, फिर मृगका चर्म और उसके ऊपर कपड़ा ॥

तत्रैकाग्रंमनःकृत्वायतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये।१२

पद०—तत्र । एकाग्रं । मनः । कृत्वा । यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्य । आसने । युंज्यात् । योगं । आत्मविशुद्धये ॥

पदार्थ—(तत्र) उस आसन पर (मनः) मनको (एकाग्रंकृत्वा) एकाग्र करके (यतचित्तेन्द्रियक्रियः) स्वाधीन कर लिया है अपना चित्त और इन्द्रियों की क्रिया जिसने, ऐसा योगी (आसने उपविश्य) उस आसन पर बैठकर (आत्मविशुद्धये) आत्मा की शुद्धि के लिये (योगं) योगरूप जो समाधि है उसका (युंजात्) अभ्यास करे। जैसा कि " **दृश्यतेत्वग्रयाबुद्धयासूक्ष्मयासूक्ष्म दर्शिभिः** " इस उपनिषद्वाक्यमें वर्णन किया है कि सूक्ष्मबुद्धि वालों से वह देखाजाता है अर्थात् समाधि में एकाग्र चित्तवालों से ही वह परमात्मा देखाजाता है ॥

सं०—अब इस बातका कथन कियाजाता है कि उस समाधि के आसन पर किस प्रकार से शरीर को स्थिर रखे :—

समंकायशिरोग्रीवंधारयन्नचलंस्थिरः ।
संप्रेक्ष्यनासिकाग्रंस्वंदिशश्चानवलोकयन् १३

पद०—समं । कायशिरोग्रीवं । धारयन् । अचलं । स्थिरः । संप्रेक्ष्य । नासिकाग्रं । स्वं । दिशः । च । अनवलोकयन् ॥

पदार्थ-(कायशिरोग्रीवं) काय=शरीर, शिर=मस्तिष्क, ग्रीवा= गर्दन, इनको समान (स्थिरः) स्थिर और (अचलं) निश्चलता के साथ (धारयन्) धारण करता हुआ (स्वं) अपनी (नासिकाग्रं) नासिका के आगे के भागको (संप्रेक्ष्य) देखकर (दिशः) जो पूर्वोत्तरादि दिशाएं हैं उनको (अनवलोकयन्) न देखता हुआ योगसेयुक्तहो॥

प्रशांतात्माविगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनःसंयम्यमच्चित्तोयुक्तआसीतमत्परः ।१४

पद०—प्रशान्तात्मा। विगतभीः। ब्रह्मचारिव्रते। स्थितः। मनः। संयम्य। मच्चित्तः। युक्तः। आसीत। मत्परः॥

पदार्थ—फिर वह कैसा योगी है कि (प्रशान्तात्मा) शान्त है आत्मा जिसका (विगतभीः) दूर हो गया है भय जिसका, अर्थात् भयसे रहित और (ब्रह्मचारिव्रते) ब्रह्मचारियोंके व्रत में (स्थितः) जो स्थिर है और (मनः संयम्य) मनको रोककर (मच्चितः) मुझ परमात्मा में चित्त है जिसका और (मत्परः) मैं ही हूं परमस्थान जिसका, ऐसायोगी (युक्तःआसीत) संप्रज्ञातादि योगों के साथ युक्त हो॥

भाष्य—संप्रज्ञातयोग उसको कहते हैं जिसमें वितर्क, विचार आनन्द, अस्मितारूप चार वृत्तियें वनी रहती हैं अर्थात् संप्रज्ञात में यह चारो वीज वने रहते हैं, इसलिये इसको निर्वीज समाधि नहीं कहते और असंप्रज्ञात में यह वीज नहीं रहते इसलिये इसका नाम निर्वीज समाधि है॥

ननु—इस श्लोक में कृष्ण जी ने "मच्चितः" कहा है इस से पाया जाता है कि समाधि में भी कृष्णजी का ही ध्यान किया जाता है? उत्तर—यहां कृष्णजी ने अपने आपका प्रयोग परमेश्वर की तद्धर्मतापत्ति के अभिप्राय से किया है अर्थात् परमेश्वर के अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करके कृष्णजी ने ऐसा कहा है अन्यथा "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" यो० १।१।२३ इस सूत्र में ईश्वर की भक्ति से समाधि लाभ कथन किया गया है न कि कृष्णजी की भक्ति से, और ईश्वर का लक्षण यह किया है:—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टःपुरुषविशेष ईश्वरः" यो० १।१।२४ अर्थ—अविद्यादि पांच क्लेश, और

भले बुरे कर्म, और (विपाक) उन कर्मों का फल, और उस फलके अनुकूल जो सूक्ष्म वासनाएं हैं उनका नाम आशय है । इन चारों का जिससे सम्बन्ध न हो उसको ईश्वर कहते हैं । यदि ऐसा ईश्वर कृष्णजी अपने आप होते तो यह न कहते कि :-"**वहूनि मे व्यतीतानिजन्मानि**" गी० ४।५, कि मेरे वहुत जन्म व्यतीत हुए हैं । यदि यह कहा जाय कि जन्म धारण करने से भी ईश्वर की क्या हानि ? तो उत्तर यह है कि महर्षिव्यास ईश्वर को जन्मादि वन्धनों से रहित मानते हैं, देखो :-"**यथामुक्तस्यपूर्वा वन्ध कोटिःप्रजायतेनैवमीश्वरस्ययथावाप्रकृतिलीनस्योत्तराबन्धकोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य**" यो० १।१।२४ व्या० भा० अर्थ–जिस प्रकार प्रकृति में लीन पुरुष फिर वन्धकोटि में आजाते हैं इस प्रकार ईश्वर नहीं आता, वह सदा ही मुक्त और सदा ही ईश्वर है । यदि व्यासजी कृष्णजी को ईश्वर मानते तो वह कृष्णजी के वहुत जन्म वर्णन न करते । जब यह व्यास भाष्य ईश्वरको सदा मुक्त कहता है और "**अधिष्ठानानुपपत्तेश्च**" ब्र० सू० २।२।३८ "**करणवच्चेन्नभोगादिभ्यः**" ब्र० सू० २।२।३९ इत्यादि सूत्रों में व्यासजी ईश्वर के शरीरधारण का खण्डनकरते हैं, तो फिर गीता में आकर व्यासजी की मति में क्या परिवर्तन हुआ जो ईश्वरका जन्ममानने लग पड़े, व्यासजी के लेखों से ही यदि व्यासजी की गीता का व्याख्यान किया जाय तो "**मच्चित्तः**" "**मत्परः**" इत्यादि शब्दों का तात्पर्य्य कृष्णजी के ईश्वर होने का नहीं पाया जाता किंतु ईश्वर के भावोंको प्राप्त होने से वामदेवादि ऋषियों

के समान कृष्णजी ने अहंभाव का उपदेश किया है, देखोः—

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शांतिंनिर्वाणपरमांमत्संस्थामधिगच्छति१५

पद०—युंजन् । एवं । सदा । आत्मानं । योगी । नियतमानसः । शान्ति । निर्वाणपरमां । मत्संस्थां । अधिगच्छति ॥

पदार्थ—(नियतमानसः योगी) रोक लिया है अपने मनको जिसने ऐसा योगीं (एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (आत्मानं) आत्मा को (सदा युंजन्) सदा योग में जोड़ता हुआ (शान्ति) शान्ति को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है, कैसी शान्ति (निर्वाणपरमां) मुक्ति ही है परमपद जिसमें, कैसी मुक्ति है (मत्संस्थां) मेरे में जो स्थिर है अर्थात् जैसा मैं मुक्त हूं वैसा ही वह मुक्त होता है अथवा अहंभाव से जिस ईश्वर का मैं निर्देश करता हूं उसकी तद्धर्मताप-त्तिरूप मुक्ति को वह योगी प्राप्त होता है । इस बातको "**इदं-ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः**" गी० १४ । २ इस श्लोकमें वर्णन किया है कि इस ज्ञानको पाकर मेरे समान धर्मों को मुक्त पुरुष पाते हैं अर्थात् मेरे समान ईश्वर के अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करते हैं । इस से पायागया कि "**मच्चित्तः**" और "**मत्परः**" के अर्थ कृष्ण परायण तथा कृष्ण में चित्त लगाने के नहीं, किन्तु ईश्वर परायण और ईश्वर में चित्त लगाने के हैं ॥

सं०—अब योगी के आहारादिकों के नियमों का वर्णन किया जाता हैः—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः ।

न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन १६

पद०—न । अति । अश्नतः । तु । योगः । अस्ति । न । च । एकान्तं । अनश्नतः । न । च । अति । स्वप्नशीलस्य । जाग्रतः । न । एव । च । अर्जुन ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (अतिअश्नतः) अधिक खानेवाले पुरुष का (योगः) योग (न अस्ति) नहीं होता (च) और (एकान्तं) सर्वथा (अनश्नतः) न खानेवाले का भी योग (न) नहीं होता (च) और (अति स्वप्नशीलस्य) अधिक सोने वाले का (योगः) योग नहीं होता (च) और (न एव) नाही (जाग्रतः) अधिकजागनेवालेका ॥ फिर किस प्रकार से योग होता है :—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगोभवति दुःखहा । १७

पद०—युक्ताहारविहारस्य । युक्तचेष्टस्य । कर्मसु । युक्तस्वप्नावबोधस्य । योगः । भवति । दुःखहा ॥

पदार्थ—(युक्ताहारविहारस्य) आहार = भोजनादि, विहार = गमनादि, यह हों युक्त = नियत परिमाण वाले जिस के अर्थात् आहार भी नियत हो और विहार भी नियत हो, (कर्मसुयुक्तचेष्टस्य) और कर्मों में जिसकी युक्त चेष्टा हो (युक्तस्वप्नावबोधस्य) स्वप्न = सोना, और अवबोध = जागना, जिसका युक्तनाम नियत हो, उस पुरुष का (योगः) योग (दुःखहा) दुःखों के नाश करने वाला (भवति) होता है ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा १८

पद०—यदा । विनियतं । चित्तं । आत्मनि । एव । अवतिष्ठते । निःस्पृहः । सर्वकामेभ्यः । युक्तः । इति । उच्यते । तदा ॥

पदार्थ—(यदा) जब (विनियतं) रुका हुआ (चित्तं) चित्त (आत्मनिएव) परमात्मामें ही (अवतिष्ठते) स्थिर होता है और (सर्वकामेभ्यःनिःस्पृहः) सब कामनाओं से इच्छारहितहोताहै (तदा) तब (युक्तः इति उच्यते) वह योगसे युक्त कहा जाता है ॥

सं०—अब समाहित चित्तवाले योगीकी उपमा कथन करतेहैं :—

यथादीपो निवातस्थोनेंगतेसोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्ययुंजतोयोगमात्मनः १९

पद०—यथा । दीपः । निवातस्थः । न । इंगते । सा । उपमा । स्मृता । योगिनः । यतचित्तस्य । युंजतः । योगं । आत्मनः ॥

पदार्थ—(यथा) जिस प्रकार (निवातस्थः) विना वायुवाले स्थान में रखा हुआ (दीपः) दीपक (न इंगते) चेष्टा नहीं करता, इसी प्रकार (योगिनः) योगी की (साउपमा) वह उपमा (स्मृतः) कथन की गई है, किस योगी की (यतचित्तस्य) जिसने अपने चित्त को स्वाधीन किया है और (आत्मनः) परमात्मा सम्बन्धि (योगं) समाधिका (युंजतः) जिसने अनुष्ठान किया है ॥

सं०—जिस योगमें आगे कथन किये हुए भाव पाए जाते हैं उस को योग समझना चाहिये :—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया । यत्र
चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनितुष्यति २०

पद०—यत्र । उपरमते । चित्तं । निरुद्धं । योगसेवया । यत्र । च । एव । आत्मना । आत्मानं । पश्यन् । आत्मनि । तुष्यति ॥

पदार्थ—(योगसेवया) योग के अनुष्ठान करने से (निरुद्धं) रुका हुआ (चित्तं) चित्त (यत्र) जिस योग में (उपरमते) उपराम हो जाता है अर्थात् विषयों से विरक्त हो जाता है (च) और (यत्र) जिस योगमें (आत्मना) अष्टांगयोगसे संस्कार किये हुए मनसे (आत्मानं) परमात्मा को (पश्यन्) देखता हुआ (आत्मनि) परमात्मा में (तुष्यति) संतोष को प्राप्त होता है उसको दुःख के स्पर्श से रहित योग समझो ॥

सुखमात्यंतिकंयत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्तियत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः २१

पद०—सुखं । आत्यंतिकं । यत् । तत् । बुद्धिग्राह्यं । अतीन्द्रियं । वेत्ति । यत्र । न । च । एव । अयं । स्थितः । चलति । तत्त्वतः ॥

पदार्थ—(यत्र) जिस योग में (आत्यंतिकंसुखं) अत्यन्त सुख हो अर्थात् जिससे बढ़कर कोई सुख नहीं होसक्ता, वह कैसा सुख है (यत्तत्बुद्धिग्राह्यं) जो केवल बुद्धि से ग्रहण किया जाता है, (अतीन्द्रियं) जिस को इन्द्रिय विषय नहीं कर सक्ते और (यत्र) जिस योग में उक्त प्रकार के सुख को योगी (वेत्ति) जानता है (यत्र स्थितः) जहां स्थिर हुआ (अयं) यह योगी (तत्त्वतः) परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से (नचलति) नहीं चलता अर्थात् परमात्मा के यथार्थ ज्ञान में उसको संशय विपर्यय नहीं होता॥

यं लब्ध्वाचापरंलाभंमन्यते नाधिकंततः । य
स्मिन्स्थितोनदुःखेनगुरुणापिविचाल्यते ।२२

पद०—यं । लब्ध्वा । च । अपरं । लाभं । मन्यते । न । अधिकं । ततः । यस्मिन् । स्थितः । न । दुःखेन । गुरुणा । अपि । विचाल्यते ।

पदार्थ—(यं) जिस योग को (लब्ध्वा) लाभ करके (ततः अधिकं) उससे अधिक (अपरंलाभं) अन्यलाभ (न मन्यते) नहीं मानता (यस्मिन्) जिस योग में (स्थितः) स्थिर हुआ (गुरुणा-अपि दुःखेन) बड़े दुख से भी (न विचाल्यते) चलायमान नहीं होता, उसको दुःख के स्पर्श से रहित योग समझो ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् । स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा २३

पद०—तं । विद्यात् । दुःखसंयोगवियोगं । योगसंज्ञितं । सः । निश्चयेन । योक्तव्यः । योगः । अनिर्विण्णचेतसा ॥

पदार्थ—(तं) पूर्वोक्त गुणों वाले को (योगसंज्ञितं) योग नामवाला (विद्यात्) जाने, वह योग कैसा है (दुखसंयोगवियोगं) दुख के संयोग का है वियोग जिससे अर्थात् दुःख से रहित (अनिर्विण्णचेतसा) जिस चित्त में उदासीनता न आती हो अर्थात् मैं इतने काल योग में लगा रहा और फिर वह योग सिद्ध न हुआ, इस प्रकार जिसका चित्त उदासीन न होता हो, उस चित्त से (निश्चयेन) निश्चय पूर्वक (सः) वह योग (योक्तव्यः) अभ्यास करने योग्य है और उसका प्रकार यह है :—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः । मनसैवेंद्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥२४॥

पद०—संकल्पप्रभवान् । कामान् । त्यक्त्वा । सर्वान् । अशेषतः । मनसा । एव । इन्द्रियग्रामं । विनियम्य । समंततः ॥

पदार्थ—(संकल्पप्रभवान्) संकल्प से है उत्पत्ति जिनकी (कामान्) उनकामनाओं को (त्यक्त्वा) छोड़कर (सर्वान्)

सबको (अशेषतः) सम्पूर्ण रीति से (मनसाएव) मनसे ही (इ-न्द्रियग्रामं) सब इन्द्रियों को (समंततः) सब ओर से (विनियम्य) रोक करके विषयों से उपराम होवे ॥

शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्याधृतिगृहीतया । आत्मसंस्थंमनःकृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् २५

पद०—शनैः । शनैः । उपरमेत् । बुद्ध्या । धृतिगृहीतया । आत्मसंस्थं । मनः । कृत्वा । न । किंचित् । अपि । चिन्तयेत् ॥

पदार्थ—(धृतिगृहीतया) धैर्य्य से ग्रहण की हुई (बुद्ध्या) बुद्धि से (शनैः शनैः) धीरे २ (उपरमेत्) वैराग्य को प्राप्त होकर (मनः) मनको (आत्मसंस्थं) आत्मा में स्थिर (कृत्वा) करके (किंचित् अपि) कुछ भी (न चिन्तयेत्) चिन्तन न करे । इस प्रकार के योग को करताहुआ योगी मनको इसप्रकार वशी-भूत करे ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् । ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशंनयेत् २६॥

पद०—यतः । यतः । निश्चरति । मनः । चंचलं । अस्थिरं । ततः । ततः । नियम्य । एतत् । आत्मनि । एव । वशं । नयेत् ॥

पदार्थ—(चंचलं) चंचल (मनः) मन (अस्थिरं) जो स्थि-रता से रहित है वह (यतः यतः) जिस २ ओर से (निश्चरति) निकलता है (ततः ततः) उसी२ ओर से (एतत्) इसको (आ-त्मनिनियम्य) परमात्मा में लगाकर (वशंनयेत्) वशीभूत करे ॥

प्रशांतमनसंह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् । उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

पद०—प्रशान्तमनसं । हि । एनं । योगिनं । सुखं । उत्तमं । उपैति । शान्तरजसं । ब्रह्मभूतं । अकल्मषं ॥

पदार्थ—(प्रशान्तमनसं) शान्त चित्त वाले (एनं) इस (योगिनं) योगी को (हि) निश्चय करके (उत्तमं) उत्तम (सुखं) सुख (उपैति) प्राप्त होता है, वह कैसा योगी है (ब्रह्मभूतं) ब्रह्म के गुणों को धारण करने से (शान्तरजसं) रजोगुण जिसका शान्त होगया है अर्थात् नाश को प्राप्त होगया है और (अकल्मषं) पाप से रहित होगया है, ऐसे योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है॥

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेनब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥२८॥

पद०—युंजन् । एवं । सदा । आत्मानं । योगी । विगतकल्मषः । सुखेन । ब्रह्मसंस्पर्शं । अत्यन्तं । सुखं । अश्नुते ॥

पदार्थ—(विगतकल्मषः) दूर होगए हैं पाप जिसके ऐसा योगी (एवं) उक्त प्रकार से (आत्मानं) अपने आपको (सदा) सदैव (युंजन्) ब्रह्म के साथ जोड़ता हुआ (सुखेन) सुखपूर्वक (ब्रह्मसंस्पर्शं) ब्रह्म के साथ है सम्बन्ध जिसका, ऐसे (अत्यन्तं) अत्यन्त (सुखं) सुखको (अश्नुते) भोगता है अर्थात् ब्रह्मानन्द को भोगता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में जो सुखको ब्रह्मसंस्पर्श कहा है अर्थात् परब्रह्म के साथ है सम्बन्ध जिस सुखका ऐसे सुखको उक्त योगी भोगता है, इस कथन ने द्वैतवाद स्पष्ट कर दिया और यह भी स्पष्ट कर दिया कि जीव स्वयं सुख स्वरूप नहीं है किन्तु ब्रह्मानन्द को लाभ करके आनन्द वाला होता है जैसाकिः—"**रसंह्येवायंलब्ध्वानन्दीभवति**" तै० २।७ (रसं) ब्रह्मका जो आनन्द है उसी

को पाकर यह जीव आनन्द वाला कहला सकता है। यदि जीव ब्रह्म की एकता गीता शास्त्र का सिद्धान्त होता तो जीवको ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति न कहीजाती किंतु स्वयं ब्रह्म बनने का उपदेश कियाजाता, इस श्लोक में जो "सुखेन" पद दियाहै, इसका तात्पर्य्य यह है कि समाधि में जो (अन्तराय) विघ्न कहे जातेहैं योगी के उन विघ्नों की अनायास सेही निवृत्ति होजाती है,वह विघ्नयहहैं:-"व्याधिः, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्धभूमिकत्व,अनवस्थितत्व," यह नव प्रकार के चित्त के विक्षेप हैं, यह समाधि में विघ्न गिने जाते हैं। (व्याधिः) शरीरस्थ धातुओं की न्यूनाधिकता से ज्वरादिरोगों का होना (स्त्यान) कर्मों में चित्तका न लगना जिससे गुरू आदि कों की शिक्षा मिलने पर भी उस कर्म के योग्य न होना (संशय) उभयकोटि ज्ञान रहना अर्थात् यह बात ठीक है अथवा यह बात ठीक है (प्रमाद) समाधि के साधनों के योग्य होकर भी उनका अनुष्ठान न करना (आलस) जिससे शरीर और चित्त आदिकों में भारापन प्रतीतहोना अर्थात् अभ्यासादि कर्त्तव्यों में चित्त का बोझ मानना (अविरति) विषय विशेष के सम्बन्ध होने पर चित्त में उमंग उत्पन्न होना (भ्रान्तिदर्शन) योगके साधनों में असाधन बुद्धि होना और असाधनों में साधन बुद्धि होना (अलब्धभूमिकत्व) समाधिका लाभ न होना (अनवस्थितत्व) समाधी के लाभ हो जानेपर भी प्रयत्न की शिथिलता से वहां चित्तका स्थिर न रहना। इन विघ्नों को दूर करके सुख पूर्वक ही योगी ब्रह्मानन्द को पालेता है, वह इस प्रकार कि इनविघ्नों के दूर करनेके लिये "तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः" यो० १।१।३२

इन विघ्नों के हटाने के लिये एकमात्र तत्त्व जो परमात्मा है उसका वारंवार अभ्यास करना, एकतत्त्व के अर्थ यहां परमात्मा के हैं जैसा कि :—"ओंतत्सदितिनिर्देशोब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः" गी० १७ । २३ अर्थ—ओं तत् सत् इन तीन प्रकार के नामों से ब्रह्म का कथन किया जाता है और उसके भावका नाम तत्त्व है, इस प्रकार एक तत्त्वके अभ्याससे सुखपूर्वकही जिज्ञासु को ब्रह्मानन्द उपलब्ध होता है, इस ब्रह्मानन्द को पाकर वह योगी परमात्मा को व्याप्य व्यापक भावसे सर्वत्र समान देखता है ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९

पद०—सर्वभूतस्थं । आत्मानं । सर्वभूतानि । च । आत्मनि ईक्षते । योगयुक्तात्मा । सर्वत्र । समदर्शनः ॥

पदार्थ—(सर्वभूतस्थं) सब भूतों में स्थिर (आत्मानं) परमात्मा को वह योगी (ईक्षते) देखता है (च) और (सर्वभूतानि) सब प्राणियों को (आत्मनि) परमात्मा में (ईक्षते) देखता है (योगयुक्तात्मा) पूर्वोक्त योग से युक्त है आत्मा जिसका अर्थात् संप्रज्ञात समाधि से युक्त योगी (सर्वत्र) सब स्थानों में (समदर्शनः) परमात्मा को समदृष्टि से देखता है ॥

भाष्य—"सर्वत्रसमदर्शनः" के अर्थ शङ्करभाष्य में यह किये हैं कि :—"सर्वत्रसमदर्शनः = सर्वेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विषमेषु सर्वभूतेषु समं निर्विशेषं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं दर्शनं ज्ञानं यस्य स सर्वत्रसमदर्शनः ।

अर्थ—सब प्राणि जो ब्रह्मा से लेकर पशु पक्षीतक हैं उनमें ब्रह्म और जीव की एकता का है दर्शन नाम ज्ञान जिसको वह समदर्शन कहलाता है ॥

उक्त स्वामी जी ने जो इससे जीव ब्रह्मकी एकता निकाली है यह गीता का आशय कदापि नहीं, यदि यह आशय होता तो:—
"योऽयं योगस्त्वयाप्रोक्तः साम्येन मधुसूदन" गी० ६ । ३३ में इस योग को समता का योग न कहा जाता । समता के अर्थ यहां सब भूतों में समदृष्टि और परमेश्वरकी एकरस व्यापकता के हैं ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ३०

पद०—यः । मां । पश्यति । सर्वत्र । सर्वं । च । मयि । पश्यति । तस्य । अहं । न । प्रणश्यामि । सः । च । मे । न । प्रणश्यति ॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (मां) मुझको (सर्वत्र) सब स्थानों में (पश्यति) देखता है (च) और (सर्वं) सब वस्तुओं को (मयि) मुझमें (पश्यति) देखता है (तस्य) ऐसे समदृष्टिवाले पुरुष की दृष्टि से (अहं) मैं (न प्रणश्यति) नाशको प्राप्त नहीं होता अर्थात् उसके ज्ञानका विषय होता हूं (च) और (सः) वह पुरुष (मे) मेरी दृष्टि से (न प्रणश्यति) नाश नहीं होता अर्थात् वह मेरी दृष्टि में कृतार्थ हो चुका है, इसलिये वहनाश को प्राप्त नहीं होता॥

भाष्य—इस श्लोकने उसी भावको वर्णन किया है जो भाव यजु० ४ । ६ में कथन किया गया है कि जो सर्व प्राणियों का अधिकरण परमात्मा को समझता है और सब वस्तुओं को परमात्मा का व्याप्य स्थान समझता है अर्थात् सर्व ब्रह्माण्ड परमेश्वर

में है और परमेश्वर सर्व ब्रह्माण्डों में व्यापक है इस प्रकार का व्याप्य व्यापकभाव समझनेवाला परमात्मा के स्वरूपज्ञानमें संशय को प्राप्त नहीं होता ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ३१॥

पद०—सर्वभूतस्थितं । यः । मां । भजति । एकत्वं । आस्थितः । सर्वथा । वर्त्तमानः । अपि । सः । योगी । मयि । वर्त्तते ॥

पदार्थ—(यः) जो योगी (मां) मुझको (सर्वभूतस्थितं) सब भूतों में स्थिर जानकर (एकत्वं) मेरे एकत्व में (आस्थितः) स्थिर होकर (भजति) मुझको भजता है (सः योगी) वह योगी (सर्वथा वर्त्तमानः अपि) सब प्रकार के काम करता हुआ भी (मयि) मेरे में (वर्त्तते) वर्त्तता है ॥

भाष्य—"**एकत्वंआस्थितः**" के अर्थ यह हैं कि जो परमात्मा में एकत्व मानताहै अर्थात् नाना ईश्वर नहीं मानता जैसा कि उपनिषद् में लिखा है :—"**मनसैवेदमाप्तव्यं नेहनानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युंगच्छति यइहनानेवपश्यति**" कठ० ४ । ११ अर्थ—वह ब्रह्म मनसे जानने योग्य है उसमें नानापन कुछ नहीं, जो उस ब्रह्म में नानापन देखता है वह मरण से मरणको प्राप्त है अर्थात् परमेश्वर सर्वान्तर्यामी एक है उसमें नानापन नहीं, इस प्रकार के एकत्व को यहश्लोक वर्णन करता है । मधुसूदन स्वामी इसके यह अर्थ करते हैं कि तत् पद और त्वं पदका अर्थ निरूपण करने के अनन्तर "**तत्त्वमसि**" इस वाक्य के अर्थ को निरूपण करते हैं :—"**सर्वेषुभूतेष्वधि-**

ष्ठान तया स्थितं सर्वानुस्यूत सन्मात्रं मामीश्वरं तत्पदलक्ष्यंस्वेनत्वंपदलक्ष्येणासहैकत्वमत्यन्ताभेद मास्थितः सन् घटाकाशो महाकाश इत्यत्रैवोपाधिभेद निराकरणेन निश्चिन्वन् योभजतिअहंब्रह्मास्मितिवेदान्त वाक्यजेन तत्त्वसाक्षात्कारेणापरोक्षीकरोति" म० सू० अर्थ—सब भूतों में अधिष्ठान रूप से स्थित और सब भूतों में ओतप्रोत सन्मात्र मैं परमेश्वर हूं उस मुझ तत्पद के लक्ष्य को (स्व) जो त्वं पदका लक्ष्यजीव उस के साथ एकत्व अर्थात् असन्त अभेद को प्राप्त हुआ घटाकाश और महाकाश इन दोनों की उपाधियों के हटादेने से जैसे उन दोनों आकाशों की एकता हो जाती है इसी प्रकार मेरी और जीवकी एकताकोनिश्चयकरताहुआजोमुझको "अहंब्रह्मास्मि" इस वेदान्त वाक्य से तत्त्वसाक्षात्काररूप से अपरोक्ष करता है वह मुझे भजता है। इन अर्थों का अंश मात्र भी उक्त श्लोक में नहीं, इसीलिये स्वामी शं० चा० ने भी इस एकत्व पर कुछ नहीं लिखा। स्वामी रामानुजने इसके अर्थ परमेश्वर के साम्यभावके कियेहैंजैसाकि :—" सर्वदामत्साम्यंएवपश्यतीत्यर्थः"। वह योगी सर्वदाकाल परमेश्वर के धर्मों को उपलब्ध करके उस के सम हो जाने को देखता है॥

सं०— अब आगे के श्लोक में योगी की सबभूतों में समदृष्टि का विधान करते हैं :—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।

सुखंवायदिवादुःखं सयोगी परमो मतः। ३२

पद०—आत्मौपम्येन । सर्वत्र । समं । पश्यति । यः । अर्जुन । सुखं । वा । यदिवा । दुःखं । सः । योगी । परमः । मतः ॥

पदार्थ—(आत्मौपम्येन) अपनी उपमा से अर्थात् जैसे अपने आप में सुख दुःख होते हैं इस प्रकार (सर्वत्र) सब स्थानों में (यः) जो योगी, हे अर्जुन (सुखं) सुख हो (वा यदिवा दुःखं) अथवा दुःख हो, उसको जो (समं) सम समझता है (सः योगी) वह योगी (परमः मतः) परमयोगी समझा जाता है ॥

भाष्य—इस श्लोक के यह अर्थ स्पष्ट हैं कि जो पुरुष अपने समान दूसरे प्राणियों का सुख दुख देखता है वह परमयोगी है अर्थात् जैसे अपने आत्मा के प्रतिकूल काम करने से अपने को दुःख होता है इस प्रकार दूसरे के प्रतिकूल भी नहीं करना चाहिये। मायावादियों ने इस आशय को बदलकर जीवब्रह्म की एकता सिद्ध करने के लिये सारा बल इसी पर लगा दिया है देखो:—“ब्रह्मवेदब्रह्मैवभवति” मु० ३ । १९ “भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्तेसर्वसंशयाः । क्षीयन्तेचास्य कर्माणितस्मिन्दृष्टेपरावरे” “योवेदनिहितंगुहायां परमेव्योमन्” “सोऽश्नुतेसर्वान्कामान्सहब्रह्मणाविपश्चिता” “तमेवविदित्वातिमृत्युमेति” इत्यादि अनेक उपनिषद् वाक्य लिखकर मधुसूदन स्वामी ने इससे जीवब्रह्म की एकता सिद्ध की है, पर इस श्लोक में जीवब्रह्म की एकता के लिये अर्थाभास करने का भी स्थान नहीं, इसलिये स्वामी शं० चा० ने इस श्लोक में आत्मवत् सर्व प्राणियों में समता

का ही व्याख्यान किया है। उनके चेलों ने इस शमविधि के व्याख्यान से भी लाभ उठाने का यह प्रकार सोचा है कि इस शमविधि को जीवब्रह्म की एकता विषय में लगा दिया जाय और वह इस प्रकार से लगाया है कि:—"तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षय होने से शमविधि होती है। तत्त्वज्ञान का लक्षण इनके मत में यह है कि यह सब द्वैतप्रपंच सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले ब्रह्म में माया से कल्पित होने के कारण मिथ्या है, एवं जब ब्रह्म से भिन्न सब वस्तुओं को योगी मिथ्या जान लेता है तब मनका नाश होजाता है और फिर रागद्वेषादि वासनाओं का नाश होजाता है, इस प्रकार तत्त्वज्ञान और (मनोनाश) मनका नाश (वासनाक्षय) रागद्वेषादि वासनाओं का क्षय यह तीनों बातें शमविधि में कारण हैं, यदि इनकी मानी हुई एकात्मवाद की यहां शमविधि होती तो उक्त श्लोक में "समंपश्यति" यह वाक्य निष्फल होजाता, क्योंकि इनके मत में मनके नाश और वासना के क्षय होने पर कोई वस्तु ही नहीं रहती, फिर कौन किसको शमविधि से देखेगा और कौन अपने दुःख के समान दूसरे के दुःख को जानेगा। यह व्याख्यान वाशिष्ठादि आधुनिक ग्रन्थों से लेकर मधुसूदन स्वामी आदि टीकाकारों ने यहां भर दिया है, वास्तव में समदृष्टि से देखने के यदि यह अर्थ होते कि एक ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं तो उत्तर श्लोक में द्वैतवाद के योग का निरूपण न किया जाता।

अर्जुनउवाच

योऽयंयोगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहंनपश्यामि चंचलत्वात्स्थितिंस्थिरां

पद०—यः। अयं। योगः। त्वया। प्रोक्तः। साम्येन। मधुसूदन। एतस्य। अहं। न। पश्यामि। चंचलत्वात्। स्थितिं। स्थिरां॥

भाष्य—हे मधुसूदन (साम्येन) समता वाला (यः) जो (अयं) यह (योगः) योग (त्वया) तुमने (प्रोक्तः) कहा है (एतस्य) इस योग की (स्थिरांस्थितिं) स्थिर स्थिति को (अहं) मैं (चंचलत्वात्) चंचलता के कारण (नपश्यामि) नहीं देखता॥

चंचलंहिमनःकृष्णप्रमाथि बलवद्दृढम्। त स्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥३४॥

पद०—चंचलं। हि। मनः। कृष्ण। प्रमाथि। बलवत्। दृढं। तस्य। अहं। निग्रहं। मन्ये। वायोः। इव। सुदुष्करं॥

पदार्थ—हे कृष्ण (हि) निश्चय करके (मनः) मन (चंचलं) बड़ा चंचल है (प्रमाथि) शरीर और इन्द्रियों को मथन कर डालता है अर्थात् विक्षेप करके परवश कर देता है, फिर कैसा है (बलवत्) बड़ा बलवान् है (दृढं) बड़ा दृढ है (तस्य) उस मन का (अहं) मैं (वायोः इव) वायु के समान (सुदुष्करं) बड़े दुःख से (निग्रहं) रोकना (मन्ये) मानता हूं, अर्थात् जैसे वायु सूक्ष्म होने से बड़े दुःख से रोका जाता है इस प्रकार मन भी अति दुःख से रोका जाता है॥

सं०—श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि यह बात ठीक है मन ऐसा ही चंचल है:—

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहंचलम्। अ भ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥३५॥

पद०—असंशयं । महाबाहो । मनः । दुर्निग्रहं । चलं । अभ्यासेन । तु । कौन्तेय । वैराग्येण । च । गृह्यते ॥

पदार्थ—(महाबाहो) हे बड़े बल वाले अर्जुन (असंशयं) इसमें सन्देह नहीं कि (मनः) मन (दुर्निग्रहं) बड़े दुःख से वश किया जा सक्ता है (चलं) चल वृत्ति वाला है, हे कौन्तेय (तु) निश्चय करके (अभ्यासेन) अभ्यास से (च) और (वैराग्येण) वैराग्य से (गृह्यते) वशीभूत किया जासक्ता है अन्यथा नहीं ॥

सं०—जिसने अपने मनको वश नहीं किया उसको उक्त प्रकार का योग कठिन है, इस बात को आगे श्लोक में कथन करते हैं:—

असंयतात्मनायोगोदुष्प्रापइतिमेमतिः।
वश्यात्मना तु यतताशक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

पद०—असंयतात्मना । योगः । दुष्प्रापः । इति । मे । मतिः । वश्यात्मना । तु । यतता । शक्यः । अवाप्तुं । उपायतः ॥

पदार्थ—(असंयतात्मना) जिसका मन अपने आधीन नहीं है उसको (योगः) उक्त समाधिरूपी योग (दुष्प्रापः) बड़े दुःख से प्राप्त होता है (इति मे मतिः) यह मेरी सम्मति है (वश्यात्मना) जिसने अपने मनको वश किया है (तु) और (यतता) यत्नशील है उसको (उपायतः) उपाय से यह योग (अवाप्तुं) प्राप्त होने को (शक्यः) योग्य है अर्थात् उसको प्राप्त हो सक्ता है ॥

सं०—अब इस बात का वर्णन करते हैं कि जो श्रद्धालु मन की चंचलता के कारण योग से भ्रष्ट हो जाता है वह किस गति को प्राप्त होता है ?

अर्जुनउवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतोयोगाच्चलितमानसः । अ
प्राप्य योगसंसिद्धिं कांगतिंकृष्णगच्छति ३७

पद०—अयतिः । श्रद्धया । उपेतः । योगात् । चलितमानसः । अप्राप्य । योगसंसिद्धिं । कां । गतिं । कृष्ण । गच्छति ॥

पदार्थ—हे कृष्ण (अयतिः) जो पुरुष यत्नशील नहीं है (श्रद्धया उपेतः) श्रद्धा से युक्त है अर्थात् योग में श्रद्धालु है और (योगात्) योग से (चलितमानसः) गिरगया है मन जिसका (योगसंसिद्धिं) योग की सिद्धिको (अप्राप्य) प्राप्त न होकर (कां गतिं) किस गति को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।३८

पद०—कच्चित् । न । उभयविभ्रष्टः । छिन्नाभ्रं । इव । नश्यति । अप्रतिष्ठः । महाबाहो । विमूढः । ब्रह्मणः । पथि ॥

पदार्थ—हे महाबाहो (कच्चित्) क्या (उभयविभ्रष्टः) कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों से गिरा हुआ पुरुष (छिन्नाभ्रं इव) बड़े मेघ से फटे हुए बादल के छोटे टुकड़े के समान (न नश्यति) नाशको प्राप्त नहीं हो जाता, जो (ब्रह्मणः) परमात्मा के (पथि) ज्ञान और कर्मरूपी मार्ग में (विमूढः) मोह को प्राप्त है अर्थात् अज्ञानी है और (अप्रतिष्ठः) अप्रतिष्ठित है अर्थात् साधन हीन है ।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ॥
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता नह्युपपद्यते ।३९

पद०—एतत् । मे । संशयं । कृष्ण । छेत्तुं । अर्हसि । अशेषतः ।

त्वदन्यः । संशयस्य । अस्य । छेत्ता । न । हि । उपपद्यते ॥

पदार्थ—हे कृष्ण (एतत) यह (मे) मुझको (संशयं) संशय है, इस संशय को (अशेषतः) सर्व प्रकार से (छेत्तुं) छेदन करनेको (अर्हसि) तुम समर्थ हो (त्वदन्यः) तुम्हारे से भिन्न (अस्य संशयस्य) इस संशय का (छेत्ता) छेदन करने वाला (हि) निश्चय करके (न उपपद्यते) कोई नहीं मिलसक्ता ।

श्री भगवानुवाच

पार्थ नैवेहनामुत्र विनाशस्तस्यविद्यते ॥
नहिकल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिंतातगच्छति।४०

पद०—पार्थ । न । एव । इह । न । अमुत्र । विनाशः । तस्य । विद्यते । न । हि । कल्याणकृत् । कश्चित् । दुर्गतिं । तात । गच्छति ॥

पदार्थ—हे पार्थ (एव) निश्चय करके (इह) इसलोक में (तस्य) उस पुरुष का (विनाशः) नाश (न विद्यते) नहीं होता और (न अमुत्र) न दूसरे जन्म में, (तात) हे शिष्य (हि) इसलिये (कश्चित्) कोई एक (कल्याणकृत) शास्त्र विहित कर्म करने वाला (दुर्गतिं) दुर्गति को (न हि गच्छति) प्राप्त नहीं होता ।

भाष्य—कल्याणकारी कर्मों के करनेवाला जिज्ञासु चित्तकी चंचलता से यदि योगमार्ग से भ्रष्ट भी होजाता है अर्थात् निष्काम कर्म नहीं करसक्ता अथवा किसी मोह में आकर परमात्मा के यथावत् स्वरूप को नहीं जान सक्ता, वह भी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता,क्योंकि पूर्व शुभ संस्कार उसके बने रहते हैं जैसाकिः—

"स्वल्पमप्यस्यधर्मस्यत्रायतेमहतोभयात्"

गी०२।४० में यह कथन किया है कि इस योगरूपी धर्म का

अंशमात्र भी बड़े २ भय से रक्षा करता है अर्थात् वह अंशमात्र भी निष्फल नहीं जाता ।

सं०-योगभ्रष्ट पुरुष की क्या गति होती है इस बातको आगे कथन करते हैं:—

प्राप्यपुण्यकृतांल्लोकानुषित्वाशाश्वतीःसमाः।
शुचीनांश्रीमतांगेहेयोगभ्रष्टोऽभिजायते।४१

पद०-प्राप्य । पुण्यकृतान् । लोकान् । उषित्वा । शाश्वतीः । समाः । शुचीनां । श्रीमतां । गेहे । योगभ्रष्टः । अभिजायते ।

पदार्थ-(पुण्यकृतान्) पुण्य करने वालों के (लोकान्) लोकों को (प्राप्य) प्राप्त होकर (शाश्वतीः समाः) चिरकालतक (उषित्वा) वहां निवास करके (शुचीनां) जो पवित्र लोग हैं और (श्रीमतां) जो श्रीमान् हैं उनके (गेहे) घर में (योगभ्रष्टः) योगभ्रष्ट पुरुष (अभिजायते) जन्म लेता है ॥

भाष्य-लोक शब्द के अर्थ यहां **"लोक्यतेइतिलोकः"** जो दर्शन का विषय हो उसका नाम लोक है अर्थात् पुनर्जन्म की दशा का नाम लोक है । वह पुरुष पुनर्जन्म में उस दशा को प्राप्त होते हैं जिस दशा को पुण्यात्मालोग प्राप्त होते हैं अर्थात् योगभ्रष्ट पुरुषों का उत्तम जन्म होता है ।

अथवा योगिनामेव कुलेभवतिधीमताम्।
एतद्धिदुर्लभतरं लोकेजन्मयदीदृशम्॥४२

पद०-अथवा । योगिनां । एव । कुले । भवति । धीमतां । एतत् । हि । दुर्लभतरं । लोके । जन्म । यत् । ईदृशं ॥

पदार्थ-अथवा (धीमतां) बुद्धिवाले (योगिनां) योगियों के

(कुले) कुलमें (एव) निश्चय करके (यत् ईदृशं) जो योग भ्रष्ट पुरुष है वह (भवति) उत्पन्न होता है (हि) निश्चय करके (लोके) लोक में (एतद् जन्म) ऐसा जन्म (दुर्लभतरं) दुर्लभ होताहै॥

भाष्य–इस द्वितीयपक्ष में अथवा कहकर इस बात को बोधन किया है कि "श्रीमतां" जो विभूति वाले राजा महाराजा हैं उनकी अपेक्षा से बुद्धिवाले योगियों के घर में जो जन्म है वह अतिदुर्लभ है और "धीमतां" बुद्धिवाला विशेषण जो योगियों को दिया है वह ज्ञानकर्म के समुच्चय के अभिप्राय से है अर्थात् वह कर्मयोगी भी हैं और ज्ञानयोगी भी हैं जैसाकि "सांख्ययोगौपृथग्बालाःप्रवदन्तिनपण्डिताः" गी० ५।४ इत्यादि श्लोकों में सिद्ध कर आए हैं।

तत्रतंबुद्धिसंयोगं लभतेपौर्वदेहिकम् ॥
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥४३

पद०–तत्र। तं। बुद्धिसंयोगं। लभते। पौर्वदेहिकं। यतते। च। ततः। भूयः। संसिद्धौ। कुरुनन्दन॥

पदार्थ–हे कुरुनन्दन (तत्र) पूर्वोक्त कुलों में जन्म पाकर (तं बुद्धिसंयोगं) उस बुद्धि संयोग को जो पूर्व संस्कारों से योगरूपी बुद्धिका संयोग है उसको (लभते) वह पुरुष लाभ करता है, वह कैसा बुद्धिसंयोग है (पौर्वदेहिकं) जो पूर्वदेह में लाभ किया गयाथा (ततः) उसके अनन्तर (भूयः) फिर (संसिद्धौ) मुक्ति के लिये वह पुरुष (यतते) यत्न करता है॥

सं०–पूर्व जन्म की बुद्धि इस जन्म में कैसे आजाती है? उत्तर

पूर्वाभ्यासेनतेनैवह्रियतेह्यवशोऽपि सः।

जिज्ञासुरपियोगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ४४

पद०—पूर्वाभ्यासेन । तेन । एव । ह्रियते । हि । अवशः । अपि । सः । जिज्ञासुः । अपि । योगस्य । शब्दब्रह्म । अतिवर्त्तते ॥

पदार्थ—(तेन) उसी (पूर्वाभ्यासेन) पूर्व जन्म के अभ्यास से (एव) निश्चय करके (अवशः अपि) अवश्यमेव (सः) वह पूर्व संस्काररूपी योग (ह्रियते) इस जन्म में लाया जाता है (योगस्य) उस योग का (जिज्ञासुः अपि) जिज्ञासु भी अर्थात् जानने की इच्छा करने वाला भी (शब्दब्रह्म) जो प्रकृति है (अतिवर्त्तते) उसके बन्धनों से छूट जाता है ॥

भाष्य—शङ्करमत में "शब्दब्रह्म" के अर्थ वेदके किये हैं और आशय यह निकाला है कि योग को जो सीखने वाला है वह भी "शब्दब्रह्म" जो वेद है उसको अतिवर्त्तते नाम दूर कर देता है अर्थात् उसके बन्धन से निर्मुक्त होजाता है, और जो योग को ठीक २ जानचुका हो उसकी तो कथा ही क्या । यह अर्थ यहां गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं, यदि गीता का आशय वेदमार्ग को छुड़ाकर लोगों को निर्वन्धन बना देने का होता तो :—"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्यवर्ततेकामकारतः" गी० १६ । २३ इत्यादि श्लोकों में शास्त्र की मर्यादा को त्यागने का दोष न कहा जाता और नाही "यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके" गी० २ । ४६ इत्यादि श्लोकों में वेद को सब अर्थों का भण्डार माना जाता । शब्दगुणकंब्रह्म=शब्दब्रह्म=शब्द, स्पर्शादि गुणों वाला जो ब्रह्म है उसका नाम शब्दब्रह्म है । सो ऐसा ब्रह्म प्रकृति है, इसलिये शब्दब्रह्म के अर्थ यहां प्रकृति के हैं । और जैसाकि स्वामी रामानुज ने भी यह

लिखा है कि "शब्दाभिलाप योग्यं ब्रह्मप्रकृतिः" शब्द से जिसका कथन किया जाता है ऐसी प्रकृति को यहां शब्दब्रह्म कहा गया है, और उस प्रकृति के वन्धन से वह योगी पुरुष आगे बढ़ जाता है, इस लिये "शब्दब्रह्मातिवर्त्तते" कहा गया है। यह अर्थ युक्तिसिद्ध भी प्रतीत होते हैं और वह युक्ति यह है कि योगी के लिये वन्धन प्रकृति का ही है वेद विचारे का क्या वन्धन? उसने तो यथावस्थित वस्तु को प्रतिपादन करदेना है अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही प्रतिपादन करना है, इसलिये योगीके लिये इस श्लोक में वेदमारग त्यागका उपदेशनहीं॥

सं०—फिर उस योगी को क्या फल होता है? उत्तर—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततोयातिपरांगतिम्॥४५

पद०—प्रयत्नात्। यतमानः। तु। योगी। संशुद्धकिल्बिषः। अनेकजन्मसंसिद्धः। ततः। याति। परां। गतिं॥

पदार्थ—(प्रयत्नात्) अष्टांग योगरूपी साधनों के यत्न से (यतमानः) यत्न करता हुआ (तु) निश्चय करके (संशुद्धकिल्बिषः) भले प्रकार शुद्ध हो गए हैं पाप जिसके अर्थात् निष्पापात्मा योगी (अनेक जन्म संसिद्धः) अनेक जन्म के किये हुए साधनों से जो सिद्धि को प्राप्त है (ततः) उसके अनन्तर (परांगतिं) परागति जो मुक्ति है उसको (याति) प्राप्त होता है॥

सं०—अब उस योगी का महत्व वर्णन करते हैं॥

तपस्विभ्योऽधिकोयोगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिकोयोगी तस्माद्योगी

भवार्जुन ॥ ४६ ॥

पद०—तपस्विभ्यः । अधिकः । योगी । ज्ञानिभ्यः । अपि । मतः । अधिकः । कर्मिभ्यः । च । अधिकः । योगी । तस्मात् । योगी । भव । अर्जुन ॥

पदार्थ—योगी (तपस्विभ्यः) तपस्वियों से (अधिकः) बड़ा है (ज्ञानिभ्यः अपि) ज्ञानियों से भी (अधिकः) बड़ा (मतः) माना गया है (च) और (कर्मिभ्यः) कर्मियों से भी (अधिकः) बड़ा है (तस्मात्) इस लिये हे अर्जुन तु (योगीभव) योगीबन ॥

भाष्य—इस श्लोक में इस बातको सिद्ध कर दिया कि योगी शब्द यहां केवल कर्मी के लिये नहीं आया किन्तु जो ज्ञान और कर्म को साथ २ करता है उसके लिये योगी शब्द आया है, इस लिये केवल ज्ञानियों से और केवल कर्मियों से योगी को भिन्न कर दिया है और भिन्न भी यहां तक कि जो सच्चे दिल से परमात्मा की भक्ति करने वाला योगी है वही परमात्मा को प्यारा है॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना । श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमोमतः ४७

पद०—योगिनां । अपि । सर्वेषां । मद्गतेन । अन्तरात्मना । श्रद्धावान् । भजते । यः । मां । सः । मे । युक्ततमः । मतः ॥

पदार्थ—(सर्वेषां) सब (योगिनां) योगियों में से (मद्गतेन) मेरे विषयक (अन्तरात्मना) जो चित्तवृत्ति लगाकर (श्रद्धावान्) श्रद्धा वाला (यः) जो (मां) मुझको (भजते) प्राप्त होता है (सः) वह (मे) मुझको (अपि) भी (युक्ततमः) श्रेष्ठ योगी (मतः) अभिमत है ॥

भाष्य—इस श्लोक में सब योगियों में से उस योगी को श्रेष्ठ माना है जो एक मात्र परमात्मा को अवलम्बन करके अपनी चित्तवृत्ति का निरोध करता है । जैसाकिः—"एतदालंबनं श्रेष्ठमेतदालम्बनंपरं एतदालंबनंज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते" कठ० २ । १७ अर्थ—ओं० अक्षर का अर्थ जो परमात्मा है वही श्रेष्ठ अवलम्बन है और वही सबसे बड़ा अवलम्बन है इस अवलम्बन वाला पुरुष ब्रह्मलोक में अर्थात् ब्रह्म ज्ञानियों में श्रेष्ठ समझा जाता है, इस आशय को लेकर कृष्णजी ने "मद्गतेनान्तरात्मना" यह शब्द कहा है अर्थात् एक मात्र परमात्मा द्वारा जो चित्तवृत्ति निरोधरूपी योग करते हैं वह योग परमात्मा को अभिमत है । अस्मच्छब्द के यहां वही अर्थ हैं जो पीछे हम कई एक स्थलों में कर आए हैं अर्थात् परमात्मा के धर्मों को धारण करने के कारण कृष्णजी अपने आपको परमात्मा की ओर से कथन करते हैं ॥

ननु-जब "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इस लक्षण से योग एक ही प्रकार का है तो सब योगियों में से एक प्रकार के योगी को क्यों श्रेष्ठ कहा ?

उत्तर-चित्तवृत्तिनिरोधरूपीयोग बहुत प्रकार के हैं इस बातको योग शास्त्र ने भी माना है जैसाकि "प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य" यो० १ । १ । ३४ अर्थ-प्राण को बाहर निकालने और भीतर लेजाने से चित्तवृत्ति का निरोध होता है अर्थात् एक प्रकार का निरोध प्राणायाम से होता है और दूसरा "विषयवतीवाप्रवृत्तिरुत्पन्नामनसःस्थितिनिबन्धि

नी" यो० १।१।३५अर्थ–किसी विषयवाली वस्तु में चित्तवृत्ति का निरोध करना भी योग है जैसाकि स्वाध्याय आदि विषयों में, एवं इससे आगे यह वर्णन कियाहै कि किसी विरक्तको लक्ष्य रखकर भी चित्तवृत्ति का निरोध किया जा सकता है, इसप्रकार चित्तवृत्ति निरोध के अनेक उपाय हैं, पर इन सब उपायों में से मुख्य उपाय परमात्मा में चित्तवृत्ति निरोध का है। इसी अभिप्राय से कृष्ण जी ने यह कहा है कि सब योगियों में से परमात्मा विषयक चित्तवृत्ति निरोध वाला योगी सबसे श्रेष्ठ है। स्वामी शं० चा० सब योगियों में से श्रेष्ठ योगीके यह अर्थ करते हैं कि "रुद्रादि ध्यान करनेवालों में से जो कृष्ण का भक्त है वह श्रेष्ठ है" पर यह अर्थ इनके सिद्धान्तानुकूल शोभते नहीं, क्योंकि इनके मतमें रुद्र शिव का नाम है और वह भी साक्षात् ईश्वर का अवतार है फिर उसके भक्त श्रेष्ठ योगी क्यों नहीं? इसलिये इस का यथावत् अर्थ यही प्रतीत होता है कि जो चित्तवृत्ति निरोध के सर्व कारणों में से मुख्य ईश्वरको कारणसमझता है वह योगी श्रेष्ठ है॥

ननु—तुमतोमूर्त्तिपूजनादिकों से चित्तवृत्तिकाविरोध ही नहीं मानते, और यहां आकर तुमने चित्तवृत्ति निरोध के योग सूत्रों से भी कई उपाय मान लिये, फिर यदि कोई मूर्त्तिपूजाद्वाराचित्त वृत्ति निरोध करता है तो क्या बुरा करता है?

उत्तर—हम यह कब कहते हैं कि और वस्तुओं से चित्तवृत्ति निरोध नहीं होता, मिथ्याज्ञान से भी चित्तवृत्ति निरोध होजाता है और विषय लम्पटों को विषयों की प्राप्ति से भी होजाताहै,पर वह शास्त्रीय निरोध नहीं कहलाता, इसलिये चित्तवृत्ति निरोध को योग शास्त्र में "विशोकावाज्योतिष्मती" यो० १।

१। २६ इस सूत्रसे लेकर यह वर्णन किया है कि शोक रहित चित्तवृत्ति निरोध वही है जो सात्विक है अर्थात् जो जैसी वस्तु है उसको वैसा समझना, जैसा कि:—यत्तुकृत्स्नवदेकास्मिन्कार्य्येसक्तमहैतुकम्। अतत्त्वार्थवदल्पञ्चतत्तामसमुदाहृतम्॥ गी० १८। २२ अर्थ—जो एक कार्य्य में नानाप्रकार का ज्ञान हो और फिर वह कैसा हो जो बुद्धि से निरूपण न हो सके उसको तामस ज्ञान कहते हैं जैसा कि एक मूर्त्तिमें उपासक की ईश्वरबुद्धि भी है और पाषाणबुद्धि भी है, ऐसे विषयों में चित्तवृत्ति निरोध सात्विक नहीं कहलाता किन्तु आविद्यक कहलाता है जैसा कि:—"अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या" यो० १। २। ५ अर्थ—अनित्यमें नित्य बुद्धि, अपवित्र में पवित्र बुद्धि और दुःख में सुख बुद्धि अनात्म में आत्मबुद्धि, अविद्या कहलाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मूर्त्तिपूजा में जो चित्तवृत्ति निरोध है वह अविद्या है, वह उपादेय नहीं, किन्तु हेय है अर्थात् ग्राह्य नहीं त्याज्य है, और जो "यथाभिमतध्यानाद्वा" यो० १। १ ३९ इस सूत्र का इसभावसे व्याख्यान करते हैं कि जिसमें अभिमत हो उसी में चित्तवृत्ति निरोध करले, यह इसके अर्थ नहीं, यथाभिमत के अर्थ यो० १। १—२६। २७। २८ इस त्रिसूत्री में चित्तवृत्ति निरोधका उपाय कहागया है, वह यथाभिमत शब्द से लियागया है। इसीलिये जो स्वामी शं०चा० और उनकेचेलों ने रुद्रादिकों का ध्यान जो योगियों के लिये कथन किया है वह योगसूत्र और गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, किन्तु गीता का यही आशय है कि प्राणायाम आदि चित्तवृत्ति निरोध के

कारणों में से सच्चिदानन्दादि लक्षण लक्षित परमात्मा को लक्ष्य रखकर जो चित्तवृत्ति निरोध कियाजाता है वह सर्वोपरि है । इस अभिप्रायसेकृष्णजीने कहाहै कि :—"समेयुक्ततमोमतः"॥

इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिवद्धे, श्रीमद्भगवद्गीता योगप्रदीपार्य्यभाष्ये, ध्यानयोगोनाम षष्ठोऽध्यायः ॥

—:o:—

इतिश्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रथमं षट्कं समाप्तम् ॥

अथ

॥ सप्तमोऽध्यायः ॥

सङ्गति—पूर्व के छ अध्यायों में अर्जुन के सन्देह की निवृत्ति के लिये सांख्ययोग से नित्यानित्य वस्तुओं का विवेचन किया अर्थात् अर्जुन को देहादि अनित्य पदार्थों में जो नित्य बुद्धि हो रही थी उसकी निवृत्ति की। उसके अनन्तर कर्मयोग और कर्म-संन्यासयोग के विरोध को मिटाया, अर्थात् कर्मों की अवश्य कर्तव्यता बोधन करके निष्कामकर्मों को ही संन्यास वर्णन किया, फिर ध्यानयोग में शब्द, स्पर्श, रूपादिकों से रहित जो एक मात्र सृष्टि का कर्त्ता, हर्त्ता, और सम्पूर्ण सृष्टि का धारण करता है उसकी उपासना ध्यानयोग द्वारा वर्णन की ॥

अब इस मध्यम षट्क में उस परमात्मा की विभूति और उसके ध्यानकर्त्ता योगेश्वरों का उससे सम्बन्ध निरूपण किया जाता है अर्थात् यह बतलाया जाता है, कि जीव ईश्वर का परस्पर सम्बन्ध क्या है, और यह षट्क इस अभिप्राय को भी निरूपण करता है कि "मद्गतेनान्तरात्मना" पूर्वषट्क के अन्तिम श्लोक में जो यह वाक्य है इसके क्या अर्थ हैं, इस अर्थ में जो भ्रान्ति उत्पन्न होती थी कि कृष्ण ही परमेश्वर है अथवा इस चराचर जगत् का अधिकरण कोई और है। इस भ्रान्ति की निवृत्ति के लिये (अस्मच्छब्द) अहं शब्द वाच्य ब्रह्म को सब प्रकृति का स्वामी वर्णन करके और सम्पूर्ण विश्वको एक मात्र अक्षर ब्रह्म में ओत प्रोत वर्णन करके, इस सन्देह की निवृत्ति करते हैं ॥

स्वामी शं० चा० और उनके चेलों ने इस षट्क की पूर्व षट्क से यह सङ्गति लिखी है कि पूर्वषट्क में त्वं पद का लक्ष्यरूप वर्णन किया गया, अब तत् पदका लक्ष्य वर्णन करते हैं अर्थात् प्रथम के छ अध्यायों में जीवरूप चेतनका निरूपण किया गया, अब इन छ अध्यायों में ब्रह्मरूप चेतन का निरूपण कियाजाताहै। प्रथम तो यह सङ्गति इसलिये ठीक नहीं कि प्रथम के छ अध्यायों में केवल जीवका ही निरूपण नहीं किया गया किन्तु " चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः " गी० ४। १३ "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" गी० ४। ११ इत्यादि श्लोकों में ईश्वर का भी निरूपण किया गया है और इन अध्यायों में विशेष करके ज्ञानकर्म के समुच्चयवाद का वर्णन है। फिर त्वं पद के लक्ष्य का वर्णन करने वाला पूर्वषट्क को बतलाना जीव ब्रह्म की एकता की मनोरथमात्र से भूमिका बान्धना है। अस्तु, अब इनके जीव ब्रह्म की एकता की साक्षी इस षट्क से कहांतक मिलती है इस बातको इस षट्क का विषय स्वयं बतलादेगा। देखोः—

श्री भगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १

पद०—मयि। आसक्तमनाः। पार्थ। योगं। युंजन्। मदाश्रयः। असंशयं। समग्रं। मां। यथा। ज्ञास्यसि। तत्। शृणु।

पदार्थ—हे पार्थ (मयि) मेरे में (आसक्तमनाः) लगेहुए मन वाला होकर (योगंयुंजन्) योग के साथ जुड़ता हुआ और

(मदाश्रयः) एकमात्र मेरे आश्रय रहता हुआ (असंशयं) संशय से रहित (समग्रं मां) सम्पूर्ण मुझको (यथा ज्ञास्यसि) जैसे जानेगा (तत्) वह (शृणु) सुन ॥

भाष्य—एतावानस्यमहिमातोज्यायांश्चपूरुषः । पादोस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि । यजु० ३१ । ३ अर्थ-(एतावान्) यह ब्रह्माण्डरूप (अस्य) इस परमात्मा का (महिमा) महत्व है, (अतः) इस महत्व से अर्थात् इस चराचर जगत् से वह परमात्मा बड़ा है, सम्पूर्ण विश्व के जड़ चेतन रूपीभूत उसके पाद स्थानीय हैं अर्थात् एक देशी हैं और वह परमात्मा त्रिपाद स्थानीय (अमृत) मृत्यु से रहित हैं । इस मन्त्र में पाद कल्पना इस संसार को उसके एक देश में बोधन करने के अभिप्राय से है, साकार के अभिप्राय से नहीं । इसबात को साकार वादियों के सर्वोपरि स्वामी शं० चा० भी मानते हैं कि यह पाद कल्पना ईश्वर के साकार होने के अभिप्राय से नहीं किन्तु इस सम्पूर्ण विश्वको परमात्मा के एक देशी होने के अभिप्राय से है । इस मन्त्र को लक्ष्य रखकर परमात्मा के एक देश में जो प्रकृति आदि भूत हैं उनको वर्णन करने के लिये व्यासजी जी ने " समग्रंमांयथाज्ञास्यसितच्छृणु " यह कथन किया है अर्थात् परमात्मा को सम्पूर्ण रीति से जानना तभी होसक्ता है जब उसके पाद स्थानीय प्रकृति को भी जाना जाता है और वह जानना परमात्मा के योग को आश्रित करके होता है । यहां कृष्ण जी अस्मच्छब्द का प्रयोग परमात्मा की विभूति में से एक पाद रूपी अवयव होने के अभिप्राय से अवयव अवयवी का अभेद करके कथन करते हैं । इसी अभेद को विशिष्टाद्वैतवादी स्वामी रामानुजआदि विशिष्टाद्वैतवाद के नाम

से कथन करते हैं अर्थात् जिसप्रकार एक महाराजा की विभूति का पुरुष उस विभूति को अपनी विभूति कह देता है, इसीप्रकार कृष्णजीउसविभूतिकाएकदेशहोनेसेअभेदोपचारसेअस्मच्छब्द द्वारा अर्थात् अपने वाची शब्दसे परमात्माका कथन करते हैं, और यहबात इसी अध्याय के चतुर्थश्लोक से स्पष्ट पाई जाती है, जिसमें भूमि आदि प्रकृत्ति को कृष्ण जी ने अपनी प्रकृति वतलाया है। यदि कृष्णजी का यह भाव न होता तो भूमि आदिकों को अपनी प्रकृति कैसे कहते ? मायावादियों ने यहां प्रकृति शब्द के अर्थ भी अपनी मायाके ही करलिये हैं देखोः—" **स्वसिद्धान्तेचईक्षणसंकल्पात्मकौ माया परिणामावेव**" गी० ७।५

म० सू० हमारे सिद्धान्त में इच्छा और संकल्प करना माया का परिणाम ही है अर्थात् मायावादियों के सिद्धान्त में ब्रह्मही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। निमित्तकारण जिस उपादान कारण से भिन्न न हो उसको अभिन्ननिमित्तोपादान कारण कहते हैं, जगत् में तो ऐसा दृष्टान्त कोई नहीं मिलता, मायावादियों के मत में ही यह सिद्धान्तहै कि निमित्त कारणभी आपहो और उपादान कारण भी आपहो। उपादान कारण उसको कहते हैं कि जिसमें से कार्य्य बन जाय जैसे मिट्टी से घड़ा, रूई से कपड़ा। घड़े का मिट्टी उपादान कारणहै और रूई कपड़ेका। निमित्तकारण वह कहलाता है जोअपने आप भिन्नहो अर्थात् उसका स्वरूप बदलकर कार्य्यरूप नहो, जैसे घटकी उत्पत्ति में कुम्हार और पटकी उत्पत्ति में जुलाहा और चक्रदण्डादि। मायावादी लोग ब्रह्मको प्रकृतिरूपी उपादान कारण भी मानतेहैं, और निमित्तकारण भी मानते हैं इसीलिये "**प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्** ब्र० सू० १।४।

२३ का इनके मतमें यह व्याख्यान है कि प्रकृतिरूप उपादान कारण भी ब्रह्म है और निमित्त कारण भी ब्रह्म है। पर इस स-समाध्याय में आकर व्यास जी ने मिथ्यावादियोंका यह सिद्धान्त मिथ्या कर दिया। यदि व्यास जी के मतमें उपादान कारणभी ब्रह्म होता तो इस अध्याय में " भूमिरापोऽनलोवायुः खं मनोबुद्धिरेवच " गी० ७। ४ इस श्लोक में प्रकृतिको भिन्न वर्णन करके आगे के श्लोक में जीव को भिन्न वर्णन न करते, और उससे आगे परमात्मा को भिन्न वर्णन किया है। इस प्रकार तीन पदार्थों को भिन्न २ अनादि क्यों वर्णन किया जाता? एवं प्रकृति, जीव, ईश्वर, इन तीनों को मिलाकर जो परमात्मा की समग्र विभूति है उसके ज्ञानके लिये इस षट्कका प्रारम्भ किया गया है, इसलिये कहा है कि :—

ज्ञानंतेऽहंसविज्ञानमिदंवक्ष्याम्यशेषतः।यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥२॥

पद०—ज्ञानं। ते। अहं। सविज्ञानं। इदं। वक्ष्यामि। अशेषतः। यत्। ज्ञात्वा। न। इह। भूयः। अन्यत्। ज्ञातव्यं। अवशिष्यते।

पदार्थ—(ते) तुमको (सविज्ञानं) विज्ञान के सहित (इदं-ज्ञानं) इस ज्ञान को (अशेषतः) सम्पूर्णरीति से (वक्षामि) कथन करता हूं, (यज्ज्ञात्वा) जिसको जानकर (इह) इस संसार में (भूयः) फिर (अन्यत्) और (ज्ञातव्यं) जानने योग्य (न-अवशिष्यते) शेष नहीं रहेगा॥

भाष्य—ज्ञान शब्द का अर्थ यहां साधारण ज्ञान का है, और विज्ञान शब्द का अर्थ विशेषज्ञान का है। जो ज्ञान परमात्मा को विषय करने वाला है अर्थात् जिस से जीव, ईश्वर, प्रकृति का

भिन्न २ ज्ञान होजाता है उसको विज्ञान कहते हैं जैसाकि स्वामी रामानुज ने लिखा है कि:— "विज्ञानंविविक्ताकार विषयं ज्ञानं यथाहं मद्व्यतिरिक्तात्समस्तचिदचिद्वस्तु जातान्निखिल हेय प्रत्यनीकतया ऽनवधिकातिशया संख्येयकल्याणगुणगणनन्तमहाविभूतितया च विविक्तः तेन विविक्तविषयज्ञानेन सहमत्स्वरूपाविषयज्ञानंवक्ष्यामि"

अर्थ —विज्ञान के अर्थ यहां विवेक के हैं अर्थात् जीव ईश्वरको भिन्न २ जानलेना,परमात्मा से भिन्न जो सम्पूर्ण जड़ चेतन वस्तु हैं उन से परमात्मा भिन्न है और सम्पूर्ण हेय पदार्थों से भिन्न है, विना अवधि की अधिकतावाले अर्थात् वेहद जो अनन्तकल्याण गुण हैं उनगुणों के भेद से परमात्मा इन सम्पूर्ण जड़ चेतन वस्तुओं सेविलक्षण है, ऐसे विवेक वाले ज्ञान के साथ जो परमात्मा को जानता है उस ज्ञान को मैं कथन करता हूं, यह विविक्तज्ञान चौथे, पांचवे और छवेंश्लोक में स्पष्टरीति से वर्णन किया गया है। मधुसूदन स्वामी ऐसे स्पष्ट विभिन्नता के ज्ञानको मायावाद में यों मिलातेहैं-'यतूज्ञानं नित्यचैतन्यरूपंज्ञात्वावेदान्तजन्यमनोवृत्ति विषयीकृत्य इह व्यवहारभूमौ भूयः पुनरपि अन्यत्किञ्चदपि ज्ञातव्यं नावशिष्यते सर्वाधिष्ठानसन्मात्रज्ञानेन कल्पितानां सर्वेषां बाधे सन्मात्र परिशेषात् तन्मात्रज्ञानेनैव त्वं कृतार्थो भविष्यसीत्यभिप्रायः" गी० ७।२ म० सू० अर्थ—जो ज्ञान नित्य

चैतन्यरूप है जिसको जानकर वेदान्त वाक्यसे उत्पन्न हुई जो मनकी वृत्ति है उसको विषय करके इस संसार में फिर व्यवहार में और कुछ जानने योग्य नहीं रहता, सबका अधिष्ठान जो सत्तामात्र ब्रह्म उसके ज्ञान से सब कल्पित वस्तुओं का बाध होजाने से तू कृतार्थ होगा, यह अभिप्राय है अर्थात् जैसे रज्जु के ज्ञान से भ्रमरूप सर्प की निवृत्ति होजाती है इस प्रकार एकमात्र ब्रह्म के जानने से यह सम्पूर्ण कल्पित संसार की निवृत्ति होजाती है, इस अभिप्राय से कहाहै कि "नअन्यत्ज्ञातव्यंअवशिष्यते" अर्थात् फिर और जानने योग्य नहीं रहेगा। यदि मायावादी मधुसूदन स्वामी के इस भावको लक्ष्य रखकर गीता लिखी गई होती तोः— " मत्तःपरतरंनान्यत्किंचिदस्तिधनं-जय " गी० ७।७ इस से आगे न चार प्रकार के भक्तों का वर्णन कियाजाता और नाही अनन्त प्रकार की विभूति का, और न दैवी सम्पत्ति और न आसुरी सम्पत्ति बतलाकर मनुष्यों को सन्मार्ग का उपदेश कियाजाता, अधिक क्या, अर्जुन को भीरु देखकर यह कल्पित की कहानी पढ़ादी जाती तो फिर " मिथ्यैषव्यवसायस्तेप्रकृतिस्त्वांनियोक्ष्यति " गी० १८।५९ इत्यादि श्लोकों में बलपूर्वक युद्ध कर्मका उपदेश न कियाजाता और न परमात्मा के जानने में इस प्रकार की दुर्विज्ञेयता पाई जाती जैसाकिः—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यत-तामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३

पद०—मनुष्याणां। सहस्रेषु। कश्चित्। यतति। सिद्धये।

यतताम् । अपि । सिद्धानां । कश्चिद् । मां । वेत्ति । तत्त्वतः ॥

पदार्थ—(मनुष्याणां सहस्रेषु) हज़ारों मनुष्यों में से (सिद्धये) सिद्धि के लिये (कश्चिद् यतति) कोई एक यत्न करता है (यततां अपि सिद्धानां) उनयत्न करने वाले जिज्ञासुओं में से (कश्चिद्) कोई एक पुरुष (मां) मुझको (तत्त्वतः वेत्ति) यथार्थपन से जानता है ॥

भाष्य—पूर्व श्लोक में जो यह कथन किया गया था कि परमात्मा के जानने के अनन्तर फिर कुछ ज्ञातव्य नहीं रहता, इस लिये इस श्लोक में परमात्मा की दुर्विज्ञेयता कथन की गई है कि प्रथम तो सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक पुरुष साधन सम्पन्न होनेका यत्न करता है, फिर उन साधन सम्पन्न पुरुषों में से कोई एक पुरुष परमात्मा को वास्तव में जानता है । ठीक है परमात्मा का जानना ऐसा ही दुर्घट है, यदि परमात्मा इन्द्रिय गोचर होता तो राम, कृष्ण, देवी, देवता, को जानने वाले सभी परमात्मा के ज्ञाता कहलाते और शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी, मूर्त्त पदार्थों के मानने वाले भी ब्रह्मवेत्ता कहलाते, परमात्मा इन्द्रिय गोचर नहीं किन्तु ज्ञान और अनुष्ठानगम्य है इसीलिये कहा है कि:—"न चक्षुषा गृह्यते नापिवाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" मु० २ । ३ । ८ अर्थ—वह परमात्मा न आंखों से देखा जाता है न वाणी से कथन किया जा सक्ता है न और इन्द्रियों से, किन्तु ज्ञान के प्रसाद से शुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष उस निर्गुण परमात्मा को जान सक्ता है । मधुसूदन स्वामी ने परमात्मा को तत्त्व

से जानने की फिर वही तत्त्वमसि वाली कहानी कथन की है कि "तत्त्वतः प्रत्यगभेदेन तत्त्वमसीत्यादि गुरूपदिष्ट महावाक्येभ्यः अनेकेषुमनुष्येष्वात्मज्ञान साधनानुष्ठायी" म० सू० अर्थ—(तत्त्वतः) के अर्थ यह हैं कि गुरु ने जो तत्त्वमसि आदि महा वाक्यों का उपदेश किया है उस उपदेश से जीवब्रह्म के अभेद को अनेक मनुष्यों में से कोई एक ही इस आत्मज्ञानरूपी साधनके अनुष्ठान वाला होता है। यदि इनके तत्त्वमसि के उपदेश से ही परमात्मा तत्त्व से जाना जाता था तो व्यासजी ने इन अष्टादश अध्यायों वाली गीता में तत्त्वमसि का ही उपदेश क्यों न करादिया जिससे इन चार अक्षरों से ही विचारे आधुनिक वेदान्तियों का कल्याण होजाता, फिर महाआयास साध्य गीताशास्त्र में ज्ञान और उसके अनुष्ठान का विधान क्यों किया ॥

सं०—ननु, तुम्हारे वैदिक मत में तो जीव, ईश्वर, प्रकृति, भिन्न २ हैं, इन तीनों के भेद का उपदेश गीता में कहा है ? उत्तर

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

पद०—भूमिः । आपः । अनलः । वायुः । खं । मनः । बुद्धिः । एव । च । अहंकारः । इति । इयं । मे । भिन्ना । प्रकृतिः । अष्टधा ॥

पदार्थ—(भूमिः) पृथिवी (आपः) जल (अनलः) अग्नि वायु, (खं) आकाश, मन, बुद्धि, (च) और अहंकार, (इति) ये (मे) मेरी (भिन्ना) भिन्न २ (अष्टधाप्रकृतिः) आठ प्रकार की प्रकृति है ॥

भाष्य—यहां प्रकृति शब्दके अर्थ "प्रक्रियतेऽनयाइति प्रकृतिः"=इस प्रकार उपादान कारण के हैं अर्थात् जिससे यह जगत् बनाया जाय। यहां सांख्य शास्त्रकी मानी हुई प्रकृति को व्यासजीने लिखा है जिसका प्रमाण यह है :—"सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्महतोऽहंकारोऽहंकारात्पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यःस्थूलभूतानि पुरुषइतिपंचविंशतिर्गणः" सां० १। ६१ अर्थ—सत्व, रज, तम, इन तीनों गुणों की जो साम्यावस्था है वह प्रकृति कहलाती है, प्रकृति से (महान्) मह तत्व, महतत्व से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्र=शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, इनसे पांच कर्मेन्द्रिय और मनको मिलाकर छ ज्ञानेन्द्रिय और इन्हीं पंचतन्मात्रों से पांच स्थूल भूत होते हैं और पुरुष, यह (पंचविंशति) पच्चीस गण है जो सांख्य शास्त्र का सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्तको लेकर यहां यह आठ प्रकार की प्रकृति गीता में लिखी है। भूमि आदि शब्दों से यहां पंच तन्मात्रों का ग्रहण है। मायावादी लोग यहां प्रकृति के अर्थ माया के लेते हैं जो इनके मत में ब्रह्मके आश्रय रहने वाले अज्ञानका नाम है, और वह अज्ञान इनके मतमें ज्ञानमात्र से निवृत्त होजाता है इसलिये वह कोई भाव पदार्थ नहीं कहा जा सकता, यदि गीता में प्रकृति शब्द इनकी माया का वाचक होता तो :—"य एवंवेत्तिपुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह" गी० १३। २३ इसमें यह क्यों कहा जाता कि गुणों के साथ जो प्रकृति को जानता है वह बन्धन में नहीं आता। इनके मतमें तो उस मायारूपी अज्ञान के नाश से बन्धन से रहित होता है नकि और किसी ज्ञान अथवा

अनुष्ठान से, इतनाही नहीं गी० १३ । ५ में सांख्य शास्त्रका माना हुआ उक्त पंचविंशति गण स्पष्टपाया जाता है । फिर प्रकृतिशब्द के अर्थ अद्वैतवादी माया के कैसे कर सकते हैं ? अस्तु,उन स्थलों में इस बातको विस्तार पूर्वक लिखा जायगा जिनस्थलों में मायावादी लोग अपने मिथ्या भाष्य से इस पंचविंशतिगण को छिपाते हैं । यहां इतना ही प्रकृत था कि इस आठ प्रकार की प्रकृति से व्यासजी का अभिप्राय उपादान कारण का है और उस उपादान कारणकोजीव औरब्रह्म सेभिन्न मानाहै, इसलिये इसके अर्थ मायाके नहींहोसकते,मायावादियों के सिद्धान्तानुकूलमाया ब्रह्म सेभिन्न कोई वस्तु नहीं, किन्तुब्रह्मके सहारे रहनेवाले एकअज्ञानका ही नाम माया है । इसलिये गीता में प्रकृति शब्दके अर्थ मायावादियोंकी माया के नहीं हो सकते ॥

सं०—अब जीवरूप प्रकृति को वर्णन करते हैं :—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

पद०—अपरा । इयं । इतः । तु । अन्यां । प्रकृतिं । विद्धि । मे । परां । जीवभूतां । महाबाहो । यया । इदं । धार्यते । जगत् ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (इयं) यह अपराप्रकृति आठ प्रकार की कथन की गई है (तु) निश्चय करके (मे) मेरी (इतः अन्यां प्रकृतिं) इससेअन्य जो प्रकृति है (जीवभूतां) और जो जीवरूप है (परां) पूर्व वर्णित आठ प्रकार की प्रकृति सेजो परानाम बड़ी है, हे महाबाहो (यया) जिस जीवरूप प्रकृति से (इदंजगत्) यह शरीररूपी जगत् (धार्यते) धारण किया जाता है उसको तु (विद्धि) जान ॥

भाष्य—जगत्शब्द यहां गति वाला होने के कारण शरीर के

लिये आया है, इस अभिप्रायसे नहीं आया कि इस सम्पूर्ण जगत् को जीव धारण कर लेता है। पर मायावादी लोगों ने " यया इदं धार्यतेजगत् " इसका यही व्याख्यान किया है कि जीव निखिलजगत् को धारण करता है और यहां प्रमाण उन्होंने यह दिया हैकिः-अनेनजीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्यनामरूपे व्याकरवाणि " छा० ६ । ३ । २ अर्थ—इस जीवरूप आत्मा से प्रवेश करके नाम रूपको करूं। इसके अर्थ मायावादियों ने यह किये हैं कि ब्रह्मही जीवरूप होकर उत्तम, अधम, जन्तुओं में प्रविष्ट हो रहा है, पर यह अर्थ गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं, यदि यह अर्थ होते तो आगे के श्लोक में परमात्मा को इस दोनों प्रकार की प्रकृतिसे भिन्न क्यों निरूपण किया जाता ? और यदि ब्रह्मही जीवरूप होकर प्रविष्ट हुआ होता तो कोई ऊंच और कोई नीच कैसे बन जाता ? यदि कर्मों की व्यवस्था स्वीकार करो तो जब ब्रह्मजीवरूप होकर प्रविष्ट हुआतो उस समय आपके उस शुद्धब्रह्म में कर्म कहां से आए ? जीवके ब्रह्म बनने के खण्डन में महर्षिव्यास "नकर्माविभागादितिचेन्नाऽनादित्वात्" ब्र० सू० २ । १ । ३५ में इस बातको वर्णन करते हैं कि यदि यह कहा जाय कि पहले कर्म नहीं थे एक ब्रह्मही था तो यह ठीक नहीं क्योंकि (अनादित्वात्) जीव और उसके कर्मों के अनादि होने से । और यहां स्वामी शं०चा० ने भी कर्मों के बन्धन की व्यवस्था में फसकर जीव को अनादि ही मानलिया है, जीव किसी समय में ब्रह्म था मायावश से जीव बना, मायावादियों के इस सिद्धान्त को स्वामी शं० चा० ने यहां जलांजलि देदी है, सन्देह हो तो उक्त सूत्र का शङ्करभाष्य पढ़ देखें ॥

सं०—ननु, प्रकृति के अर्थ तो तुमने यहां उपादान कारण के किये हैं, फिर जीव को प्रकृति कैसे कहा गया ? उत्तर

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६

पद०—एतद्योनीनि । भूतानि । सर्वाणि । इति । उपधारय । अहं । कृत्स्नस्य । जगतः । प्रभवः । प्रलयः । तथा ।

पदार्थ–हे अर्जुन (सर्वाणिभूतानि) सबप्राणी (एतद्योनीनि) इन दोनों योनियों वाले हैं अर्थात् दोनों कारणों वाले हैं (इति) यह (उपधारय) निश्चयकर और (अहं) मैं (कृत्स्नस्य जगतः) सारे जगत् का (प्रभवः) उत्पत्ति तथा (प्रलयः) नाशका कारण हूं ।

भाष्य—प्राणियों की उत्पत्ति में जीव की भी कारणता पाई जाने से जीव को प्रकृति कहा और प्रकृति शब्द के अर्थ साधन के भी हैं, जैसाकि राजाकी प्रकृति मन्त्री आदि कहलाते हैं। मायावादी लोग इस श्लोक के भाष्य में फिर तीनों को मिला देते हैं जैसाकिः—"**स्वाप्निकस्येव प्रपञ्चस्य मायिकस्य मायाश्रयत्वविषयत्वाभ्यां मायाऽप्यहमेवोपादानं द्रष्टाचेत्यर्थः**" म० सू० अर्थ—माया का स्वाश्रय और विषय होने से स्वप्न प्रपञ्च के समान इस मायारचित सम्पूर्ण प्रपञ्च का मैं मायावी उपादान कारण हूं और द्रष्टा हूं अर्थात् निमित्त कारण हूं । माया का आश्रय और विषय माया वादी उसको कहते हैं कि जैसे गृहकी चारों ओर की भित्तियों के आश्रय अन्धकार उत्पन्न होता है और उसी गृह को आच्छादन करलेता है, इसी प्रकार ब्रह्म के आश्रय से अज्ञान

उत्पन्न होता है और उसी को ढक लेता है, उस अज्ञान सहित ब्रह्मको इन्होंने अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना है अर्थात् आप ही उपादान और आपही निमित्त कारण है, पर मायावादियों का यह कथन गीता से सर्वथा निर्मूल है। यदि ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण होता तो चौथे श्लोक में आठ प्रकार की प्रकृति ब्रह्मसे भिन्न वर्णन न की जाती और ना ही जीव को भिन्न वर्णन किया जाता। और बात यह है कि यदि सब जड़ चेतन वस्तुजात ब्रह्म ही होता तो उस अक्षर में सब ओत प्रोत न बतलाया जाता जैसा कि :—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

पद०—मत्तः। परतरं। न। अन्यत्। किंचित्। अस्ति। धनंजय। मयि। सर्वं। इदं। प्रोतं। सूत्रे। मणिगणाः। इव॥

पदार्थ—हे अर्जुन (मत्तः) मेरे से (परतरं) बड़ा (अन्यत्) और (किंचित्) कोई (न अस्ति) नहीं है (सूत्रे) सूत्र में (मणिगणाः इव) मणियों के समूह के समान (मयि) मेरे में (इदं सर्वं) यह सब (प्रोतं) ओत प्रोत है॥

भाष्य—इस श्लोक का विषय वाक्य यह है :—

"कस्मिन्नुखल्वाकाशओतश्चप्रोतश्च" वृ० ३।८।७

"सहोवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रम

न्तरमवाह्यंनतदश्नातिकिंचननतदश्नातिकश्चन” बृ० ३।८।८ अर्थ–इससे पूर्व गार्गि ने यह पूछा है कि इस ब्रह्माण्ड में जो पृथ्वी, द्यौलोकादि वस्तुएं हैं यह किसमें ओतप्रोत हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि आकाशमें, फिर जब आकाशके विषय में प्रश्न किया कि आकाश किसमें ओतप्रोत है ? तो याज्ञवल्क्य ने उस अक्षर में सबको ओतप्रोत बतलाया, जिसअक्षरको ब्रह्मवेत्तालोग (अस्थूल) स्थूलतासे रहित और (अनणु) अणुतासे रहित (अह्रस्व) ह्रस्वता रहित (अदीर्घ) दीर्घता रहित, इन चार प्रकारके द्रव्यों के धर्मों से रहित बतलाया, (अलोहित) जोलाल न हो (अस्नेह) जो चिकना न हो (अच्छायं) जिसकी छाया न हो (अतमः) जो अन्धकाररूप न हो (अवायु) जो वायुरूप न हो (अनाकाशं) जो आकाशरूप न हो (असङ्गं) जो संग से रहित हो (अरसं) जो रस से रहित हो (अगन्धं) जो गंध से रहित हो (अचक्षुष्कं) जो चक्षुओं से रहित हो (अश्रोत्रं) जो श्रोत्रों से रहित हो (अवाग्मनः) जो मनवाणी से रहित हो (अतेजस्कं) जो तेज न हो (अप्राणं) जो प्राण न हो (अमुखं) जो मुख न हो (अमात्र) जो मात्रारूप न हो, जो भीतर न हो, (अवाह्य) जो वाहर न हो, न वह किसी को खाय और न उसको कोई खा सके, इस प्रकार का अक्षर ब्रह्म जिसका कभी क्षय नहीं होता, उस अक्षरकी प्रशासना में सूर्य्य चन्द्रमा भ्रमण करते हैं, उसी अक्षर की प्रशासनामें नदियें चलती हैं अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस अक्षर में ओत प्रोत है। इस विषयवाक्य से पायागया कि (मत्तः) मेरे से और (मयि) मेरे में, इन शब्दों से कृष्ण वसुदेव के पुत्रका तात्पर्य्य नहीं, किन्तु अक्षर ब्रह्मका तात्पर्य्य है। उस अक्षर ब्रह्ममें व्याप्य व्यापक भावसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की वस्तुएं माला में मणकों के समान

पुरोई हुई हैं, इस अभिप्राय से यह कहा है कि :—"**मत्तःपरतरं नान्यत्किञ्चिदस्तिधनंजय**" हे अर्जुन उस अक्षर से बड़ी कोई वस्तु नहीं है ॥

ननु—यहां अक्षर शब्द से उस ब्रह्मका तात्पर्य्य कैसे लिया गया जबकि कृष्ण अपने आपको सूत्र स्थानी बनाकर सब ब्रह्माण्डों को माला के मणकों के समान वर्णन करते हैं? उत्तर—अक्षर ब्रह्म यहां लक्षणावृत्ति से लिया जाता है अर्थात् कृष्णमें सब ब्रह्माण्डों के ओतप्रोतरूपी तात्पर्य्य के न बन सकने से यहां (मत्तः) मेरे से और (मयि) मेरे में, इन शब्दों के अर्थ अक्षरब्रह्म के हैं। इसमें स्वामी रामानुज यह लिखते हैं :—"**यस्यपृथिवीशरीरं**" "**यस्यमात्माशरीरं**" "**एषःसर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्योदेव एकोनारायणइत्यात्मशरीर भावेनावस्थानंच जगद्ब्रह्मणोरन्तर्यामिब्राह्मणादिषुसिद्धम्**" अर्थ—जिस ब्रह्मके पृथिव्यादि भूत और जीवात्मा यह सब वस्तुएं शरीररूप कथन की गई हैं वह सब भूतों का अन्तरात्मा निष्पाप, प्रकाशस्वरूप, एक नारायण, यहां कथन किया गया है। और जगद्ब्रह्म का यह शरीर शरीरी भाव अन्तर्यामी ब्राह्मणादिकों में प्रसिद्ध है, वहां इस प्रकार वर्णन किया है कि :—"**यःपृथिव्यांतिष्ठन्पृथिव्यामन्तरो यंपृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यःपृथिवीमन्तरोयमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः**" बृ० ३।७।३ अर्थ —जो अन्तर्यामी पृथिवी में रहता है और पृथिवी के भीतर है और जिसको पृथिवी नहीं जानती और पृ-

थिवी शरीर स्थानी है। जो ऐसा परमात्मा है कि पृथिवी आदि सब भूतों को नियम में रखता है वह (ते) तुम्हारा अन्तर्यामी (अमृतः) संसार के सब धर्मों से रहित है। इस प्रकार इस अन्तर्यामी ब्राह्मण में पृथिवी, जल, वायु, आकाश, चन्द्र, तारे, आदि सबपदार्थोंकोउसअंतर्यामीपरमात्मामेंओतप्रोतकथनकियाहै। शरीर शरीरीभाव की एकता के अभिप्राय से इस वाद को सर्वात्मवाद कहाजाता है अर्थात् सब कुछ यह परमात्मा की ही विभूति है उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं, विशिष्टाद्वैतवादी सब जड़ चेतन को ब्रह्म का शरीर मानकर इसी भावको विशिष्टाद्वैत वाद के नाम से कथन करते हैं। मायावादी इसभाव को छिपा कर यहां माया का परदा डालकर यह अर्थ करते हैं कि यह जितना चराचर जगत् है परमात्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं, जैसे स्वप्न के पदार्थ स्वप्न द्रष्टा से भिन्न कोई सचाई नहीं रखते और जैसे सीपी में जो रजत प्रतीत होता है वह सीपी से भिन्न कोई सचाई नहीं रखता, इस प्रकार यह सारा प्रपञ्च ब्रह्म में रज्जु सर्पादिकों के समान काल्पित है, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। इस अभिप्राय से कृष्णजी ने यह कहा है कि:—"मत्तःपरतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय" और इसी बात को "तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" ब्र० सू० २।१।१४ इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार स्वामी शं० चा० ने विस्तार पूर्वक निरूपण किया है। इस श्लोक की टीका में मधुसूदन स्वामी गड़बड़ाते हैं, वह इस प्रकार कि इन के सिद्धान्त के अनुकूल जैसे मिट्टी के घटादि विकार मिट्टी से भिन्न नहीं, और जैसे सुवर्ण के भूषण सुवर्ण से भिन्न नहीं, इस प्रकार का कोई अद्वैत मतका साधक दृष्टान्त होना चाहिये था, फिर "सूत्रे म-

णिगणा इव" क्यों कहा ? क्योंकि सूत्र मणियों के गण का उपादान कारण नहीं, और इनके मत में ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण है, इसलिये ग्रन्थकर्त्ता व्यास को कोई उपादान कारण का दृष्टान्त देना चाहिये था, वह दृष्टान्त यह था:— "कनकेकुण्डलादिव इति तु योग्योदृष्टान्तः" गी० ७। ७। म० सू० सुवर्ण में कुण्डलादि भूषणों के समान कथन करना था, यह योग्य दृष्टान्त है। यह कथन करके इनके मधुसूदन स्वामी ने व्यासजी की यह न्यूनता पूर्ण की है और तात्पर्य्य यह निकाला है कि "सूत्रे मणि गणा इव" यह दृष्टान्त केवल ग्रन्थन=पुरोने मात्र में है अभेद में इसका अभिप्राय नहीं। महर्षिव्यास के तात्पर्य्य को अन्यथा वर्णन करने वाला यह मधुसूदन का व्याख्यान गीता में स्पष्ट भेदको दबा नहीं सक्ता और नाहीं व्यासजी के इस आशय को छिपा सक्ता है जो उन्होंने इस सातवें अध्याय में उपास्य उपासक भाव वर्णन करके जीव ब्रह्म का भेद कथन किया है॥

सं०—ननु, तुम्हारे मत में जब जीव और प्रकृति पहले ही अनादि सिद्ध हैं तो ईश्वर का कर्तृत्व और उसकी प्रभुता ही क्या ? उत्तरः—

रसोऽहमप्सु कौन्तेयप्रभाऽस्मिशशिसूर्य्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

पद०—रसः। अहं। अप्सु। कौन्तेय। प्रभा। अस्मि। शशिसूर्य्ययोः। प्रणवः। सर्ववेदेषु। शब्दः। खे। पौरुषं। नृषु॥

पदार्थ—(कौन्तेय) हे अर्जुन (अप्सु) जलों में (रसः अहं-अस्मि) मैं रस हूं (शशिसूर्य्ययोः) चांद और सूर्य्य में (प्रभा)

प्रकाश मैं हूं (सर्ववेदेषु) सब वेदों में (प्रणवः) ओंकार हूं (खे) आकाश में (शब्दः) शब्द हूं (नृषु) मनुष्यों में (पौरुषं) पुरुषार्थ हूं।

भाष्य—इस श्लोक में इस बात को सिद्ध किया है कि इस कार्य्यरूप संसार में जो रूप रसादिकों का अविर्भाव होता है वह परमात्मा से ही होता है। इस अभिप्राय से जलों में रस और सूर्य्यचन्द्रमादिकों में प्रकाश, यह परमात्मा ने अपनी विभूति वर्णन की है। मायावादी इसका यह अभिप्राय लेते हैं कि रसादि रूप सब कुछ परमात्मा अपने आपही बन गया है इसलिये यह कहा कि मैं जलों में रस हूं और सूर्य्य चन्द्रमादिकों में प्रकाश हूं। यदि इस श्लोक का यह भाव होतातो:—"**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यं**" कठ० ३। १५ इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में परमात्मा को रूप रसादि से रहित क्यों कहा जाता? और:—

"**समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्व विनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति**" गी० १३।२७

अर्थ—सब भूतों में जो परमेश्वर को एकरस मानता है और विनाशियों में अविनाशी मानता है वह यथार्थ मानता है। इस से आगे इस बात को निरूपण किया है कि इस प्रकार परमात्मा को अविनाशी जानता हुआ ही मुक्ति को प्राप्त होता है। फिर "**अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मा य मव्ययः**" गी० १३। ३१ में यह वर्णन किया है कि वह अव्यय परमात्मा अनादि और निर्गुण होने से किसी विकार को प्राप्त नहीं होता। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आदिकों में रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, आदि परमात्मा के ही गुण होते तो इस श्लोक में परमात्मा को निर्गुण क्यों कथन किया जाता। स्वामी रामानुज ने इन श्लोकों

को इस भाव से लगाया है कि:—"एते सर्वे विलक्षणा भावामत्त एवोत्पन्नाः मच्छेष भूतामच्छरीर तया मय्येवाऽवस्थिताः, अतस्तत्प्रकारोऽहमेवावस्थितः" अर्थ—यह सब रूपरसादिभाव परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं और परमात्मा के प्रकृति रूपी शरीर में स्थित हैं, इस लिये कहा गया है कि रसादिरूप से मैं ही स्थित हूं। आधुनिक वेदान्ती भी ब्रह्मको उपादान कारण मानकर सर्वभूतों की ब्रह्म रूपता सिद्ध करने के लिये रूपरसादि भावों में ब्रह्म का व्याख्यान करते हैं पर जब वैदिकभाव पर उनकी दृष्टि जा पड़ती है कि वेदों ने ब्रह्मको रूपरसादि गुणों से रहित माना है तो यह लिखते हैं:—"इयं विभूतिराध्यानायोपदिश्यत इति नातिवाभिनिष्टव्यं" गी० ७। ९ म० सू० अर्थ—यह विभूति ध्यान के लिये उपदेश की गई है, इस लिये इस बात में आग्रह नहीं करना चाहिये कि परमात्मा इस विभूति में वर्णन किये हुए रूपोंवाला है। यदि आधुनिक वेदान्तियों के सिद्धान्तानुकूल मृत्तिका से घट और सुवर्ण से कुण्डलादिकों के समान परमात्मा ने ही सब शुभाशुभरूप धारण किये होते तो निम्नलिखित श्लोकों में परमात्मा के पवित्रभाव क्यों वर्णन किये जाते:—

पुण्योगंधःपृथिव्यां चतेजश्चास्मिविभावसौ।
जीवनंसर्वभूतेषुतपश्चास्मि तपस्विषु॥९॥

पद०—पुण्यः। गन्धः। पृथिव्यां। च। तेजः। च। अस्मि। विभावसौ। जीवनं। सर्वभूतेषु। तपः। च। अस्मि। तपस्विषु॥

पदार्थ—हे अर्जुन (पृथिव्यां) पृथिवी में (पुण्यःगंधः) पवित्र गंध मैं हूं (च) और (विभावसौ) अग्निमें (तेजःअस्मि) तेज मैं हूं (सर्वभूतेषुजीवनं) सब भूतों में जीवन मैं हूं और (तपस्विषु) तपस्वियों में (तपः च अस्मि) तप मैं हूं ॥

भाष्य—पृथिवी आदिकों में पवित्रगंध परमात्मा की विभूति है, अग्नि में तेज परमात्मा की विभूति है, सब जीवों में जीवन परमात्मा की विभूति है, "येनजीवन्तिसर्वाणिभूतानि तज्जीवनं"=जिससे सब भूत जीते हैं उसका नाम जीवन है । और तपस्वियों में तप परमात्मा की विभूति है अधिक क्या :—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मितेजस्तेजस्विनामहम् १०

पद०—बीजं । मां । सर्वभूतानां । विद्धि । पार्थ । सनातनं । बुद्धिः । बुद्धिमतां । अस्मि । तेजः । तेजस्विनां । अहं ॥

पदार्थ—(सर्वभूतानां) सब प्राणियों का (मां) मुझको (सनातनंबीजंविद्धि) सनातनबीजजान (बुद्धिमतां) बुद्धि वालों में बुद्धि (अहंअस्मि) मैं हूं (तेजस्विनां) तेज वालों में (अहंतेजः अस्मि) मैं तेज हूं ॥

भाष्य—सब भूतों की बीजरूप विभूति मैं हूं अर्थात् परमात्मा की शक्ति से ही बीजाकारहोकर सब भूतों की उत्पत्ति होती है और बुद्धि वालों में बुद्धि परमात्मा की बिभूति है तेजस्वियों में तेज परमात्मा की विभूति है । इस श्लोक से यह बोधन किया कि तेजस्वी चक्रवर्त्ती आदिकों का तेज परमात्मा से ही उत्पन्न होता है और बुद्धिवालों की (बुद्धि) वेदरूपी आदिज्ञान परमात्मा से ही उत्पन्न होता है ॥

बलं बलवतांचाहं कामरागविवर्जितम् ॥
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।११

पद०—बलं । बलवतां । च । अहं । कामरागविवर्जितं । धर्माविरुद्धः । भूतेषु । कामः । अस्मि । भरतर्षभ ॥

पदार्थ—हे भरतर्षभ (च) और (बलवतां) बलवालों का (बलं) बल (अहं) मैं हूं, वह कैसा बल है जो (कामराग विवर्जितं) काम और राग से रहित है (भूतेषु) सब प्राणियों में (धर्माविरुद्धःकामः) धर्म से जो विरोध नहीं रखता वह काम मैं हूं ॥

सं०—ननु, जब सब भूतों का बीज परमात्मा ही है और सब कामादि बल परमात्मा ही है तो फिर परमात्मा को नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव कैसे कह सक्ते हैं ? उत्तर—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्चये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।१२

पद०—ये । च । एव । सात्त्विकाः । भावाः । राजसाः । तामसाः । च । ये । मत्तः । एव । इति । तान् । विद्धि । न । तु । अहं । तेषु । ते । मयि ॥

पदार्थ—(ये) जो (सात्त्विकाः भावाः) सात्विक गुण हैं (च) और (राजसाः तामसाः) जो राजस और तामस गुण हैं (तान्) उनको (मत्तः एव) मेरे से ही (विद्धि) जान (न तु-अहं तेषु) मैं उन गुणों में नहीं आता (ते) वे गुण (मयि) मेरे में हैं ॥

भाष्य—सात्त्विक, राजस, तामस, यह सब गुण परमात्मा की कारणता से इस कार्य्य जगत् में आते हैं और यह गुण परमात्मा

रूपी अधिकरण में रहते हैं अर्थात् परमात्मा के आश्रित जो प्रकृति है उसके यह सब गुण हैं, इसलिये कहा है "न त्वहं तेषु" मैं उन में नहीं "ते मयि" वे मुझ में हैं अर्थात् यह गुण जीवों को व्याप्त होते हैं परमात्मा इन गुणों से सर्वथा अतीत है, अतएव वह सदैव नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव होने से प्रकृति के सब बन्धनों से परे है। इस प्रकार परमात्मा की निमित्त कारणता इस विभूति वर्णन में कथन कीगई है और परमात्मा को उक्त भावों का निमित्तकारण होने से सर्वथा स्वतन्त्र वर्णन किया गया है पर मायावादी लोग इस भाव को भी कल्पित कहानी से ही वर्णन करते हैं। देखोः—"ते तु भावामयि रज्ज्वामिवसर्पादयः कल्पितामदधीनसत्तास्फूर्तिकाः मदधीना इत्यर्थः" गी० ७। १२ म० सू० अर्थ— यह सब भाव जो पूर्व वर्णन किये गए हैं रज्जु में सर्प के समान कल्पित हैं और परमात्मा के आधीन सत्तास्फुरति वाले हैं, इस लिये परमात्मा के आधीन कथन किये गए हैं। मायावादियों का जो नाममात्र का नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव परमात्मा है वह रज्जु सर्प के समान अपने आपमें सम्पूर्ण संसार की कल्पना का कल्पक होकर स्वयं बन्धन में फस जाता है॥

ननु, रज्जु सर्प के समान संसाररूपी कल्पना का कल्पक जीव है ब्रह्म तो नहीं, फिर उसको यह दोष क्यों लगाया जाता है? उत्तर— मायावादियों के सिद्धान्त के अनुकूल सर्वमिथ्या कल्पनाओं का मूल भूत माया शुद्ध ब्रह्म के आश्रित रहती है और उसी शुद्ध ब्रह्म को अज्ञानी बनाती है देखोः—आश्रयत्व विषयत्व भागिनी निर्विभाग चितिरेव केवला। पूर्वसिद्धतम

सोऽहिपश्चिमोनाश्रयो भवति नापिगोचरः॥ अर्थ— जीव ईश्वर के विभाग से रहित जो केवलाचिति है वही चिति (आश्रयत्व विषयत्वभागिनी) अज्ञान का आश्रय और विषय है (पूर्वसिद्धतमसः) पहला जो अज्ञान है अर्थात् जीव ईश्वर की उत्पत्ति से प्रथम जो अज्ञान है वह (पश्चिमः) पीछे होने वाले किसी पदार्थ को न आश्रय करता है (नापिगोचरः) और नाही उसका विषय होता है अर्थात् सब संसार की उत्पत्ति का कारण माया वा अज्ञान मायावादियों के शुद्धब्रह्म के सहारे रहता है और उसीको अज्ञानी बनाता है क्योंकि और सब पदार्थ तो पीछे से उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार रज्जुसर्प के समान इस मिथ्या भूत संसार की मिथ्या कल्पना करके मायावादियों का शुद्धब्रह्म स्वयं अशुद्ध होजाता है, इसलिये उसको नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव नहीं कह सक्ते, और इनके उक्त आधुनिक वेदान्त के श्लोक के आशय से विरुद्ध गीता का सिद्धान्त है। देखोः—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्। मोहितंनाभिजानातिमामेभ्यःपरमव्ययम्।१३

पद०—त्रिभिः । गुणमयैः । भावैः । एभिः । सर्वं । इदं । जगत् । मोहितं । न । अभिजानाति । मां । एभ्यः । परं । अव्ययं ।

पदार्थ—(एभिः त्रिभिः) इनतीनों (गुणमयैः) गुणरूप (भावैः) भावों से (इदं सर्वं जगत्) यह सब जगत् (मोहितं) मोहको प्राप्त हुआ (एभ्यः परं) तीनोंगुणों से परे (अव्ययं) विकार रहित (मां) मुझको (न अभिजानाति) नहीं जानता ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन किया गया है कि इन तीन गुणों से संसार मोहको प्राप्त होता है परमात्मा कदापि

नहीं और मायावादियों के सिद्धान्त के अनुकूल परमात्मा ही मोह को प्राप्त होकर जीव ईश्वरादि भावों को धारण करता है। इस प्रकार इनका अज्ञान ब्रह्माश्रित रहके ब्रह्म को मोह लेता है। यह सिद्धान्त गीताशास्त्र से सर्वथा विरुद्ध है। इस श्लोककी सङ्गति मधुसूदन स्वामी ने यों लिखी है कि :—

"रसोऽहमप्सुकौन्तेय" इत्यादि वचनों से परमेश्वर ने सब जगत को अपना स्वरूप कहा है और आप परमेश्वर नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव है फिर परमात्मा से अभिन्न इसजगत् में संसारी पन कैसे बनेगा, यदि नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव परमात्मा के अज्ञान से जीवों में संसारीपन है वास्तव में नहीं तो जीवों में अज्ञान कहां से आता है? अर्जुन की इस शङ्का की निवृत्ति के लिये यह श्लोक है। उक्त स्वामी की यह सङ्गति सर्वथा असङ्गत है क्योंकि इनके मतमें अज्ञानजीवों के मोहका कारण नहीं किन्तु ब्रह्मको मोहित करके जीव बनादेने का कारण है, फिर विचारे जीवों का क्या अपराध है जब शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञान के वशीभूत होकर जीव बनगया। मायावादियों के मतानुकूल यह उपालम्भ कृष्णजी जीवोंको तब देते जबकिस्वयं माया के वशी भूत होकर अपने स्वरूप को न भूल जाते, जब ब्रह्मही भूलकर जीव बनताहै तो जीवों को क्या उपालम्भ दे सकता है कि तुममोहके वशीभूत हुए मुझको नहीं जानते। वैदिक मतानुकूल (माया) प्रकृति जीवों के मोहका कारण है परमात्मा के मोहका कारण नहीं। देखो:—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते॥ १४॥

पद०—दैवी। हि। एषा। गुणमयी। मम। माया। दुरत्यया।

मां । एव । ये । प्रपद्यन्ते । मायां । एतां । तरन्ति । ते ॥

पदार्थ—(एषा) ये (गुणमयी) सत्त्व, रज, तम, इन गुणों वाली (मम) मेरी (माया) प्रकृति (दुरत्यया) दुःख से तरनेयोग्य है (मां एव) मुझको ही (ये) जो लोग (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (एतांमायां) इस मायाको (ते) वे (तरन्ति) तैर जाते हैं ॥

भाष्य—मायाशब्दके अर्थ यहां प्रकृति के हैं जैसा कि :— "मायान्तुप्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरं" छा० ४।१०।१३ अर्थ—प्रकृति को माया समझो और (मायि) मायावाला परमेश्वर को जानो, इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से स्पष्ट पाया जाता है कि माया यहां प्रकृति का नाम है, और इसमाया रूपी प्रकृति को अर्थात् मोहके हेतु प्रकृति को परमात्मा के ज्ञान से ही पुरुष तैर सकता है अन्यथा नहीं, जैसाकि :—"परं-ज्योतिरुपसंपद्यस्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" उस परं ज्योति परमात्मा को प्राप्त होकर अपने स्व स्वरूप से स्थिर होता है अर्थात् प्रकृति के बन्धनों से रहित हो जाता है। इस आशय से कृष्ण जी ने यहां यह कहा है कि परमात्मा के ज्ञान से प्रकृति के बन्धनों से पुरुष छूट जाता है। मायावादियों ने इसके यह अर्थ किये हैं कि जिस प्रकार तिगुनी की हुई रज्जु दृढ़ होजाती है तैसे ही अत्यन्त दृढ़ होने के अभिप्राय से यहां मायाको गुण मयी कथन किया है और गुणशब्द के अर्थ इन्होंने यहां सांख्य शास्त्र के माने हुए गुणोंके नहीं लिये क्योंकि यहां वह अर्थ लिये जाते तो इनकी मायासिद्ध न होती और माया के सिद्ध न होने से इनकी सारी प्रक्रिया बिगड़ जाती, क्योंकि इनके मतमें सब जगत् का उपादान कारण माया है, और माया से ही इनके मत में जीव ईश्वर बनते हैं, शुद्ध सत्वप्रधान माया उपाधि वाला ईश्वर

कहलाता है । और मलिन सत्व प्रधान अविद्याउपाधिवाला जीव कहलाता है अर्थात् जो अविद्या सत्वगुण की प्रधानता करके असन्त स्वच्छ है, जैसे स्वच्छ दर्पण मुखकेआभासको ग्रहणकरता है इस प्रकार स्वच्छ अविद्या चेतन के आभास को ग्रहण करती है। जिस प्रकार दर्पण के छाई आदि दोष मुखरूप बिम्ब को दूषित नहीं करते, इस प्रकार वह अविद्या बिम्बस्थानीय ईश्वर को दूषित नहीं करती । और जैसे दर्पण के दोषों से प्रतिबिम्ब दूषित होता है इस प्रकार उस अविद्या के दोषों से प्रतिबिम्ब स्थानीय जीवात्मा दूषित होता है । इस प्रकार आविद्यक उपाधि से ही इनके मतमें जीव ईश्वर आदि सब प्रपंच बना है । माया, अविद्या, अज्ञान, इनके मतमें यह एकही वस्तु के नाम हैं, यदि यहां अविद्यारूप माया न मानी जाती प्रकृतिरूप मायाही मानली जाती तो इनका मायिक मायावाद मनोरथमात्र हो जाता अर्थात् मायावी पुरुषके माया जालके समान उसकी माया के नाश से मायावाद नाश को प्राप्त होजाता । इसलिये जहां २ गीता में प्रकृति के अर्थों में मायाशब्द आता है उसके यह लोग अविद्याके ही अर्थकरते हैं, परन्तु "मममाया" कथन करने से यदि इस के अर्थ मेरे अज्ञान के किये जायं तो अर्थ सर्वथा बिगड़ जाते हैं। देखो :—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यंते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥१५

पद०—न । मां । दुष्कृतिनः । मूढाः । प्रपद्यन्ते । नराधमाः । मायया । अपहृतज्ञानाः । आसुरं । भावं । आश्रिताः ॥

पदार्थ—(मां) मुझको (दुष्कृतिनः) खोटे कर्मों वाले (मूढाः)

मोह को प्राप्त (नराधमाः) जो अधम पुरुष हैं वो (न प्रपद्यन्ते) नहीं प्राप्त होते, फिर वह कैसे हैं (मायया) प्रकृति के बन्धनों से (अपहृतज्ञानाः) जिनका ज्ञानदूरहोगया है (आसुरंभावंआश्रिताः) और जिन्होंने असुरों के भावों को आश्रय किया है॥

भाष्य—"मायया अपहृतज्ञानाः" इस वाक्य के अर्थ यह हैं कि माया से जिनका ज्ञान नष्ट होगया है। इस कथन से पायागया कि माया से जीवों का ज्ञान नाशको प्राप्त होजाता है न कि ईश्वरका, और इनके मतमें तो माया ब्रह्ममें भी मिथ्याज्ञान उत्पन्न कर देतीहै जैसा कि :—"तदैक्षतवहुस्यां प्रजायेय छा० ६। २। ३ इस वाक्य की मायावादी यह व्यवस्था करते हैं कि मायाके वशीभूत होकर ब्रह्ममें यह इच्छाउत्पन्नहुई, क्योंकि इनके मतमें शुद्ध ब्रह्ममें इच्छा नहीं है। इस प्रकार यदि माया ब्रह्म को मोहन करने वाली का ही इन श्लोकों में ग्रहण किया जाता तो आसुरभाव में विचारे जीवों का क्या दोष! वहतो इन के सर्वोपरिब्रह्म को भी मोहित करके सर्वाकार बना देती है। स्वामीरामानुज इस विषय में यह लिखते हैं :—"मिथ्यार्थेषु मायाशब्दप्रयोगोमायाकार्य्य बुद्धिविषयत्वेनौपचारिकः। मञ्चाःक्रोशन्तीतिवत्, एषागुणमयी पारमार्थिकीभगवन्मायैव" "मायान्तुप्रकृतिंविद्यान्मायिनन्तुमहेश्वरम्" इत्यादिष्वभिधीयते॥ अर्थ—जो कहीं २ मायावी लोगों में और मिथ्यार्थों में मायाशब्द का प्रयोग आता है वह औपचारिक है मुख्य नहीं, जैसे मञ्चा बोलते हैं, इस वाक्यमें मञ्चों का बोलना मुख्य नहीं होता किन्तु गौणीवृत्तिसे होता है "एषागुणमयिममाया" इसवाक्य

में माया सच्ची प्रकृति का नाम है क्योंकि "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरं" इत्यादि वाक्यों में प्रकृति को माया कथन किया गया है ॥

सं०—अब इस प्रकृतिरूपी माया के बन्धन से छूटने का उपाय व्यास जी और कथन करते हैं:—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।१६

पद०—चतुर्विधाः। भजन्ते। मां। जनाः। सुकृतिनः। अर्जुन। आर्त्तः। जिज्ञासुः। अर्थार्थी। ज्ञानी। च। भरतर्षभ ॥

पदार्थ—(भरतर्षभ) हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन (चतुर्विधाः) चार प्रकार के (सुकृतिनः जनाः) पुण्यात्मा लोग (मां भजन्ते) मुझको भजते हैं अर्थात् मेरी उपासना करते हैं, प्रथम (आर्त्तः) किसी दुःखसे दुखी होकर, द्वितीय (जिज्ञासुः) ईश्वर के जानने की इच्छा करने वाले, तीसरे (अर्थार्थी) किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये भक्ति करने वाले, चौथे (ज्ञानी) जो सदसद् वस्तु का विवेक रखकर तद्धर्मतापत्ति के लिये ईश्वर का भजन करते हैं ॥

भाष्य—उक्त चार प्रकार के भक्तों में से ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ होने के कारण प्रथम ज्ञानी का वर्णन करते हैं। मायावादियों के मत में ज्ञानी के अर्थ यह हैं कि जिसने भगवत्तत्त्व का साक्षात्कार किया हो, और वह साक्षात्कार इनके मतमें जीव ब्रह्मकी एकता रूप कहलाता है। ऐसे ज्ञानी के अभिप्राय से यहां ज्ञानी शब्द नहीं आया, किन्तु सदसद् विवेचन के अनन्तर अनुष्ठानी के

अभिप्राय से गीता में ज्ञानीशब्द आया है, जैसाकिः—"एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" गी० ५। ५ इत्यादि श्लोकों में निष्काम कर्म और उसके अनुष्ठान का नाम ज्ञानहै,और"सर्वभूतेषुयेनैकंभावमव्ययमीक्षते" गी० १८। २० इत्यादि श्लोकों में सब विनाशी पदार्थों में अविनाशी पदार्थों की दृष्टि का नाम ज्ञान है। यही ज्ञान "भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" मु० २। २। ८ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में कथन किया गया है और यही ज्ञान "आत्मावारेद्रष्टव्यःश्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि वाक्यों में कथन किया है। बहुत क्या इन के "तत्त्वमसि" और "अहंब्रह्मास्मि"वालाज्ञान अर्थात् ब्रह्म ही अविद्या उपाधि से जीवरूप बनाहुआ था, जब उसको फिर बोध हुआ तो उस अविद्या की निवृत्ति होकर फिर ज्यों का त्यों जीव ब्रह्म होगया, इस भाव से ज्ञान शब्द गीता में कहीं भी नहीं आया॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियोहिज्ञानिनोऽत्यर्थमहं सच मम प्रियः॥१७

पद०—तेषां। ज्ञानी। नित्ययुक्तः। एकभक्तिः। विशिष्यते। प्रियः। हि। ज्ञानिनः। अत्यर्थं। अहं। सः। च। मम। प्रियः॥

पदार्थ—(तेषां) उनचार प्रकार के भक्तों में से ज्ञानी (नित्ययुक्तः) परमात्मा के योग से नित्ययुक्त रहता है अर्थात् ज्ञान योग और कर्मयोग से नित्ययुक्त रहता है, फिर वह ज्ञानी कैसा है (एकभक्तिः) एक परमात्मा में ही है भक्ति जिस की, उसको

एक भक्ति कहते हैं, वह एक भक्ति वाला ज्ञानी विशिष्यते नाम औरों से विशेष समझा जाता है। (हि) निश्चय करके (ज्ञानिनः) ज्ञानी को (अहं) मैं (अत्यर्थं) अत्यन्त (प्रियः) प्रिय हूं और (सच) वह ज्ञानी (ममप्रियः) मेरा प्यारा है॥

भाष्य—एकस्मिन्भगवत्येव अनुरक्तिर्यस्य स तथा तस्य अनुरक्ति विषयान्तराभावात्" म० सू०

अर्थ—एक भगवान में भक्ति नाम प्रेम हो जिसका, उसको एक भक्ति कहते हैं, क्योंकि उसके प्रेम का अन्य कोई विषय नहीं होता। यहां मधुसूदनस्वामी ने भी एक भक्ति के अर्थ यही मान लिये कि जो परमात्मा से भिन्न किसी अन्य उपास्य में प्रेम नहीं रखता उसको एक भक्ति कहते हैं। इस प्रकार की एक भक्ति वाला ज्ञानी पूर्वोक्त भक्तों से विशेष है। इस कथन से यह बात सिद्ध होगई कि जो जीव ईश्वर के मायिक भावको मिटाकर मायावादी एक अद्वैत सिद्ध करते थे वह गीता से नहीं निकलता क्योंकि यहां ज्ञानी को भी एक प्रकार का भक्त ही माना है, और इनके मतमें ज्ञान होने के अनन्तर भक्तितो क्या प्रत्युत कोई कर्तव्य ही नहीं रहता। यदि ज्ञानी से मायावादियों का ज्ञानी अभिप्रेत होता तो फिर विचारी भेदरूपी भक्ति का क्या काम।

सं०—ननु, जब परमात्मा को चार प्रकार के भक्तों में से केवल ज्ञानी ही प्रिय है तो दूसरे तो सर्वथा निष्फल हुए फिर उनको भक्त ही क्यों कहा? उत्तर

उदाराःसर्वएवैतेज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्। आस्थितःसहियुक्तात्मामामेवानुत्तमांगतिम्॥१८

पद०—उदाराः। सर्वे। एव। एते। ज्ञानी। तु। आत्मा।

एव । मे । मतं । आस्थितः । सः । हि । युक्तात्मा । मां । एव । अनुत्तमां । गतिं ॥

पदार्थ—(एते) ये (सर्वेएव) सब ही (उदाराः) श्रेष्ठ हैं (ज्ञानीतु) ज्ञानी तो (मे) मेरा (आत्माएव) आत्मा ही (मतं) माना हुआ है (हि) जिसलिये (युक्तात्मा) निष्काम कर्मादि योग वाला है आत्मा जिसका (सः) वह (अनुत्तमांगतिं) जिस गति से उत्तम कोई गति नहीं, ऐसे (मां) मुझको (आस्थितः) आश्रय किया हुआ है अर्थात् सर्वोपरि मुझको उपास्य देव मानता है ॥

भाष्य—ज्ञानी सदसद् विवेकी होने से परमात्मा को अत्यन्त प्रिय है, इसलिये उस ज्ञानी को आत्मा कहा गया है अर्थात् वह परमात्मा के अत्मभूत अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करता है, इसलिये वह परमात्मा का आत्मा कहलाता है। यहां ज्ञानी को आत्मारूप से कथन करना जीव ब्रह्म की एकता के अभिप्राय से नहीं, किन्तु तद्धर्मतापत्ति और अत्यन्तप्रेम के अभिप्राय से है, जैसाकि आत्माधिकरण में "त्वं वाऽहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि" इत्यादि वाक्यों में परमात्मा को आत्मत्वेन कथन किया गया है यथाः—"यस्यात्माशरीरं" वृ० ३ । ७ । ३ इत्यादिकों में जैसे जीवात्मा को ब्रह्म का शरीर कथन कियागया है वह जीव ब्रह्म की एकता के अभिप्राय से नहीं किन्तु सर्वाधिष्ठान के अभिप्राय से है । एवं आत्माशब्द यहां प्रेम के अभिप्राय से है । अद्वैतवादियों ने यहां आत्मा शब्द पर अपने अद्वैतवाद का रंग चढ़ाया है पर वह रंग निम्न लिखित श्लोक की वाणीरूपी वारिधि में प्रक्षालन करने से सर्वथा उतर जाता है ॥ देखोः—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९

पद०—बहूनां । जन्मनां । अन्ते । ज्ञानवान् । मां । प्रपद्यते । वासुदेवः । सर्वं । इति । सः । महात्मा । सुदुर्लभः ॥

पदार्थ—(बहूनां) बहुत से (जन्मनां) जन्मों के (अन्ते) अन्त में (ज्ञानवान्) ज्ञानवाला पुरुष (मां) मुझको (प्रपद्यते) प्राप्त होता है (वासुदेवः सर्वं) वह यह सब वासुदेव है (इति) ये समझकर जो मुझे प्राप्त होता है (सः) वह महात्मा है और वह (सुदुर्लभः) दुर्लभ है ॥

भाष्य—वह ज्ञानवान् जिसने सर्व में अनुगत परमात्मा को सर्वाधिष्ठान होने से सर्वरूप समझा है, और वसतीतिवसु, वसुश्चासौ देवश्चेति "**वासुदेवः**"=जो व्यापकरूप से सब स्थानों में निवास करे उसको वासु कहते हैं, और प्रकाशरूप जो वासु हो उसको वासुदेव कहते हैं अर्थात् शशिसूर्य्यादि सब पदार्थों के अधिष्ठाता का नाम वासुदेव है । एवं आदित्यादिकों के नियन्ता परमात्मा का नाम यहां "**वासुदेव**" है । जैसाकि बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण में यह लिखा है कि:—"**य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरोयमादित्यो न वेद यस्याऽदित्यः शरीरंय आदित्यमन्तरोयमयत्येष तआत्माऽन्तर्याम्यमृतः**" बृ० ३ । ७ । ९ अर्थ—जो सूर्य्य में रहता है और सूर्य्य के भीतर है और सूर्य्य जिसको नहीं जानता और जो सूर्य्यका नियन्ता है वह तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत परमात्मा है । इस अभिप्राय से "**वासुदेवःसर्वमिति**" यह कहा है ।

स्वामी रामानुज इसके यह अर्थ करते हैं कि :—"प्रकृतिद्वयस्य कार्य्यकारणोभयावस्थस्य परमपुरुषायत्तस्वरूप स्थिति प्रवृत्तित्वं परमपुरुषस्य च सर्वैःप्रकारैः सर्व स्मात्परतरत्वमुक्तम्" गी० ७। १९ रा० नु० भा०

अर्थ—जड़ चेतनरूप जो यह दोनों प्रकार की प्रकृति, इस प्रकृति के कार्य्य कारणरूपी भावों में स्थिर जो परम पुरुष पर-मात्मा है उसीके आधीन इस चराचर प्रकृति के स्वरूप की स्थिति है। इसभाव से अबकुछ वासुदेव है यह कहा है।

वसुदेवकापुत्रहोने से वासुदेव है, यह अर्थ यहां स्वामी शं०चा०, मधुसूदनस्वामी, स्वामीरामानुज, किसी टीकाकार ने नहीं किये, करही कैसे सकते थे, जब गीता का जन्म उपनिषद् वाक्यों को आश्रय करके हुआ है तो इसका मूलभूत वाक्य ही क्या रखते? इस श्लोक में भाष्य करने योग्य "ज्ञानवान्" शब्द है, इस शब्द के अर्थ यहां यदि शङ्करमतके होते तो यह न कहा जाता कि बहुत जन्मोंके पश्चात् ज्ञानी पुरुष मुझे मिलता है। क्योंकि शङ्कर फ़िलासफ़ी में ज्ञानके अनन्तर उसी समय ब्रह्म बन जाता है बीच में क्षण भरका भी विलम्ब नहीं होता, जैसा कि वेदान्त सूत्र आरम्भणाधि करण में यह लिखा है :—"ब्रह्मदर्शनस-र्वात्मभावयोर्मध्ये कर्त्तव्यान्तरवारणायोदाहार्य्य-म्। तथातिष्ठन्गायतीति तिष्ठति गायत्योर्मध्ये त-त्कर्तृकं कार्य्यान्तरं नास्तीतिगम्यते॥ ब्र०सू० १। १। ४ शं०भा० अर्थ—ब्रह्मज्ञान और उसका फल जो सर्वात्म भाव है इसके बीचमें और कोई काम नहीं करना पड़ता, जैसा

कि बैठकर गाता है, बैठने और गाने के बीच में और कोई काम नहींपाया जाता, इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानके अनन्तर मुक्ति होने के बीच में कोई और काम नहीं होता। इतना ही नहीं प्रत्युत शङ्कर फ़िलासफ़ी में बड़े बल पूर्वक इस बात को कथन किया गया है कि ज्ञान होने पश्चात् पुनर्जन्मकी तो कथाही क्या, कोई कर्तव्य ही नहीं रहता। देखो :—"यदप्यकर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानंहानायोपादानाय वा न भवतीति तथैवेत्यभ्युपगम्यतेअलङ्कारोह्ययमस्माकं यद्ब्रह्मात्मावगतौ सत्यांसर्वकर्तव्यता हानिः कृत्यतकृत्यताचेति" ब्र॰सू॰ ।१।१।४ शं॰भा॰ अर्थ—जो यह कहा है कि आत्मज्ञानके पश्चात् कोई कर्तव्य नहीं रहता, न कोई पदार्थ ग्रहण करने योग्य रहता है और न कोई त्यागने योग्य रहता है, यहबात ठीक है, क्योंकि यह हमारा भूषण है जो ब्रह्म ज्ञान के होने पर सब कर्तव्यों का नाश होजाता है और कृतकृत्यता हो जाती है। इत्यादि शंकर मतकेप्रमाणोंसे यहस्पष्ट है किइनके यहां ज्ञानके पश्चात्कोईकर्तव्य नहींरहता, और इस श्लोक में उस ज्ञानी के फिर कई जन्म माने गए हैं इससे स्पष्ट होजाता है कि मायावादियों का ज्ञान कृष्णजी ने इस श्लोक में कथन नहीं किया किन्तु भक्तिरूपज्ञान कथन किया है जैसा कि :—"छित्वैनंसंशयंयोगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत" गी॰ ४। ४२ में यह कथनकिया है कि ज्ञानसे संशय को दूरकरके और योगसे अनुष्ठान प्रधान होकर उठ खड़ा हो। एवं जो ज्ञान और कर्म का समुच्चय है उसको भक्ति योग कहते हैं, उस भक्ति योग के अभिप्राय से यहां ज्ञान शब्द आया है अर्थात् सत्यासत्य विवेक करके जो ईश्वर की भक्ति करता है उस

को ज्ञानी कहते हैं, उस ज्ञानी को यहां अन्यभक्तोंसेश्रेष्ठमानाहै ॥

सं०—ननु, दूसरे तीन प्रकार के भक्त ईश्वर को प्यारे क्यों नहीं क्योंकि वह यद्यपि सप्रयोजन भक्ति करते हैं पर भक्ति तो ईश्वर ही की करते हैं ? उत्तर

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः ।
तंतंनियममास्थायप्रकृत्यानियताःस्वया२०

पद०—कामैः । तैः । तैः । हृतज्ञानाः । प्रपद्यन्ते । अन्यदेवताः। तं । तं । नियमं । आस्थाय । प्रकृत्या । नियताः । स्वया ॥

पदार्थ—(तैः तैः) उन २ (कामैः) कामनाओं से (हृतज्ञानाः) नाश होगया है ज्ञान जिनका, वह लोग (अन्यदेवताः) और देवताओंको (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (तं तं) उन २ (नियमं) नियमों को (आस्थाय) आश्रय करके (स्वयाप्रकृत्या) अपनी जो प्रकृति अर्थात् वासनारूपी पूर्व स्वभाव उससे (नियताः) वशमें हुए २ हैं॥

भाष्य—हे अर्जुन आर्त्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु,यहतीनोंप्रकार के भक्त मुझे इसलिये प्यारे नहीं कि यह अपनी २ कामनाओंके वशीभूत होकर परमात्मा से भिन्न वस्तुओं की उपासनाओंमें लग जाते हैं और उन कामनाओं से इनका ज्ञान नाशको प्राप्त हो जाता है, इसलिये इनको सत्यासत्य का विवेक नहीं रहता । इस प्रकार परमेश्वर से विमुख होने से ये परमेश्वर को प्रिय नहीं, जैसा कि :—“अथयोअन्यांदेवतांउपास्ते” बृ० १।४। १० इत्यादि वाक्यों में परमात्मा से भिन्न की उपासनाकरनेवालों को पशु कहा है, और “अन्धंतमः प्रविशन्ति ये ऽसंभूतिमुपासते” यजु० ४० । ९ इत्यादि मंत्रों में प्रकृति के उपासकों को अज्ञान की प्राप्ति कथन की है । एवं कृष्ण जी ने भी

यहां अन्य देवताओं के उपासकों को हृतज्ञान शब्द से अज्ञानी कथन किया है ॥

सं०—ननु, जब ईश्वर से भिन्न ईश्वरत्वेनअन्यदेवकीउपासना करना पाप है तो सर्वशक्तिमान् ईश्वर उनको हटाता क्यों नहीं?

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् २१

पद०—यः। यः। यां। यां। तनुं। भक्तः। श्रद्धया। अर्चितुं। इच्छति। तस्य। तस्य। अचलां। श्रद्धां। तां। एव। विदधामि। अहं॥

पदार्थ—(यः यः) जो २ (भक्तः) भक्त (यां यां) जिस २ (तनु) प्रकृति के रूप को (श्रद्धया) श्रद्धा करके (अर्चितुं) पूजा करने की (इच्छति) इच्छा करता है (तस्य तस्य) उस २ पुरुष की (अचलांश्रद्धां) अचलश्रद्धा को (तां एव) उस प्रकृतिके रूप के प्रति ही (विदधामि) धारण करा देता हूं॥

भाष्य—यद्यपि परमात्मा सर्व शक्तिमान् है और यह बातउस की शक्ति में है कि तत्काल अज्ञान की निवृत्ति करके सबको वैदिक पथ पर चलाए, पर वह जीवों के पूर्वकृतकर्मों के अनुकूल मंदकर्मों से एकधा ही वर्जित नहीं करता, किन्तु जैसे२ शुभकर्मों से अपनी प्रकृति को वे जीव अच्छा बनाते जाते हैं वैसे २ ही वह वैदिक पथपर चलने के लिये उद्यत होते जाते हैं। और जो श्लोक में यह कहा है कि मूर्त्ति पूजकों की श्रद्धा उस मूर्त्ति में मैं दृढ़ कर देता हूं, इसका तात्पर्य्य यह नहीं कि मैं अपनी ओर से दृढ़ कर देता हूं किन्तु कर्म फल दाता होने से पूर्वकृत कर्मों के अनुकूल उनको उनके अज्ञान का फल देता हूं। जैसा कि:—

सतयाश्रद्धयायुक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभतेचततःकामान्मयैवविहितान्हितान्२२

पद०—सः । तया । श्रद्धया । युक्तः । तस्य । आराधनं । ईहते । लभते । च । ततः । कामान् । मया । एव । विहितान् । हि । तान् ॥

पदार्थ—(सः) वह पूर्वोक्त भक्त (तयाश्रद्धया) उस श्रद्धा से (युक्तः) जुड़ा हुआ (तस्य) उस प्रकृतिकीमूर्त्तिका (आराधनं) पूजन (ईहते) करता है (च) और (ततः) उससे (तान्) उन कामनाओं को (लभते) पालेता है जो (मया एव विहितान्) मैंने अपने नियम में नियत कर छोड़ी हैं ॥

भाष्य—पूर्वोक्त प्रकृति की मूर्त्तियों की उपासना करनें वाला परमेश्वर से वैसा ही फल पालेता है जैसा वह करता है, इस आशय से "**मयाएवविहितान्**" यह कथन किया है अर्थात् प्रकृति निर्मित इस जड़ जगत् के भिन्न२ देवों की उपासना करने वालों ने वह फल पाया जो परमात्मा ने वेद में नियत करदिया है, जैसाकि:— "**अन्धंतमःप्रविशन्तियेऽसंभूतिमुपास्ते**" यजु० ४० । ९ अर्थ—वह अंधतम को प्राप्त होते हैं जो प्रकृति की उपासना करते हैं । प्रकृति के उपासकों को अन्धतम की प्राप्ति की सूचना सहस्रों प्रतिमाएं सूचित कर रही हैं जो जीर्ण मन्दिरों में नाना प्रकार से खण्डित हैं, और जो इस श्लोक का यह अर्थ करते हैं कि भिन्न २ देवों के उपासकों को भी उन की श्रद्धा के अनुकूल परमात्मा ही उनको शुभ फल देता है, इस आशय से कृष्ण जी ने कहा है कि "**मयाएवविहितान्**"

उनके मतमें "सर्वधर्मान् परित्यज्यमामेकंशरणंव्रज" गी० १८।६६ इसके क्या अर्थ होंगे ? जब कृष्ण स्वयं यह कहते हैं कि सब धर्मों को छोड़कर जब तुम एक धर्म परायण होकर मेरी ओर आओगे तभी मैं तुम्हारा रक्षक बनुंगा, अन्यथा नहीं, तो फिर यहां भिन्न देवताओं की पूजा करने वालों के लिये कृष्ण जी फल देने को कैसे उद्यत होगए ? और जो उद्यत भी हुए तो कैसे शुभ फल के लिये मारण, मोहन, उच्चाटन, आदि के लिये, जिनका मधुसूदन स्वामी ने यह समाधान किया है कि (मारण) किसी को मार देना (मोहन) मोह लेना (उच्चाटन) किसी का दिल उदास कर देना, जो ये तुच्छ फल हैं इनकी इच्छा करके वे लोग क्षुद्र देवताओं की भक्ति करते हैं और इन अशुभ फलों की कामना के कारण परमात्मा उन क्षुद्र देवताओं में उनकी श्रद्धा को दृढ़ कर देता है ताकि ऐसे क्षुद्रफल परमात्मा को न देने पड़ें, और यहां आकर यह कह दिया कि "मयाएव विहितान्" वह फल मैने ही विधान किये हैं यह क्या ? यह तो वही घट्टकुटीप्रभातन्याय आगया कि घाट के कर के डरसे सारी रात घूमकर प्रातः फिर उसी घाट की शरणली और कर-देना पड़ा। जब परमेश्वर उनको मारण, मोहन, उच्चाटनादिकों का फल देने के लिये तैयार है तो उन विचारे उपासकों को क्षुद्र देवताओं के गले क्यों मढ़ता है, आपही साक्षात् फल क्यों नहीं देदेता। यदि यह कहा जाय कि ऐसी बुरी कामनाओं का आप साक्षात् फल देने से परमेश्वर बाल लालन के सामान हो जायगा अर्थात् जैसे एक बालक को खिलाने के लिये जैसा चाहें वैसा इष्टानिष्टवस्तु से उसको प्रसन्न कर सकते हैं, इस प्रकार परमेश्वर भी एक खिलौना हुआ जो मारण, मोहन, उच्चाटन

वालों को भी उनकी कामना के अनुकूलफल देने के लिये तैयार, और सदसद् विवेकी तत्त्व ज्ञानियों को भी यथार्थ फल देने के लिये उद्यत है यह अनिष्ट अर्थ "मया एव विहितान्" का कदापि नहीं हो सक्ता। अतएव इसके अर्थ यह हैं कि जैसा वह करेंगे वैसा भरेंगे, मैंने यह नियम विधान कर दिया है। और देखो उन क्षुद्र देवताओं के भक्तों की क्षुद्रता प्रतिपादन के लिये कृष्ण जी कैसी दृढ़ता से कहते हैं:—

अंतवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यांति मद्भक्तायांतिमामपि।२३

पद०—अंतवत्। तु। फलं। तेषां। तत्। भवति। अल्पमेधसां। देवान्। देवयजः। यांति। मद्भक्ताः। यांति। मां। अपि॥

पदार्थ—(तेषां अल्पमेधसां) उन थोड़ी बुद्धि वाले भक्तों का अर्थात् अज्ञानी भक्तों का (तु) निश्चय करके (तत्फलं) वह फल (अंतवत्) अंत वाला होता है (देवान्) देवों को (देवयजः) देवों की पूजा करने वाले (यांति) प्राप्त होते हैं (मद्भक्ताः) मेरे भक्त (मां) मुझको (अपि) निश्चय करके (यांति) प्राप्त होते हैं।

भाष्य—इस श्लोक में आकर कृष्णजी ने प्रकृति के भक्तों का निवेड़ा कर दिया अर्थात् उनके फलको दर्शा दिया कि उनका फल अंतवाला अर्थात् छोटा होता है और "अल्पमेधसां" थोड़ी बुद्धि वाले, यह विशेषण देकर ज्ञानी से उनका अत्यन्त भेद सिद्ध कर दिया॥

सं०—ननु, प्राकृत देवों को ईश्वर मानकर उनकी पूजा करना पाप है तो फिर आप इससे विरुद्ध प्राकृतशरीरधारी होकर अपनी पूजा क्यों बतलाते हो? उत्तर

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः।
परंभावमजानंतो ममाव्ययमनुत्तमम् २४॥

पद०—अव्यक्तं। व्यक्ति। आपन्नं। मन्यन्ते। मां। अबुद्धयः। परं। भावं। अजानन्तः। मम। अव्ययं। अनुत्तमं॥

पदार्थ—(व्यक्ति) व्यक्ति को (आपन्नं) प्राप्त हुए (मां) मुझ को (अबुद्धयः) बुद्धिहीन अज्ञानी लोग (अव्यक्तं) अक्षर परमात्मारूपसे मानते हैं, और (मम) मेरे सम्बन्धि (अव्ययं) विकार रहित (अनुत्तमं) जिससे कोई उत्तम नहीं ऐसे (परंभावं) परमात्मारूपी भावको (अजानन्तः) न जानते हुए मानते हैं॥

भाष्य—वह परमभाव यह है जिसको लोग न जानकर कृष्ण को परमात्मा मानते हैं "आत्मेतितूपगच्छन्तिग्राहयन्ति च" ब्र० सू० ४।१।३ अर्थ—उस परमात्माके परमभाव को प्राप्त होकर पुरुषोत्तम लोग उस को आत्मारूप से कथन करते हैं जैसा कि :— "त्वंवाऽहमस्मिभगवोदेवतेऽहंवैत्वमसि" हे परमात्मन् देवते तू मैं और मैं तू है अर्थात् तद्धर्मतापत्ति के कारण मेरे और तेरे में एकात्मभाव होगया है, जैसेकि लोक में अत्यन्त मैत्री से एकात्मभाव हो जाता है, ऐसा एकात्मभाव इस आत्माधिकरण में कथन किया गया है। इस परमभाव का व्याख्यान गी० ९।११ में इस प्रकार वर्णनकिया है कि परंभाव जो सर्वोत्कृष्टभाव है अर्थात् परमतत्त्व है उसको न जानते हुए लोग मुझको मनुष्यमात्र समझकर अवज्ञा करते हैं, मैं कैसा हूं "महांश्चासौ ईश्वरश्चेति महेश्वरः" बड़े ईश्वर का नाम यहां महेश्वर है। यहांतद्धर्मतापत्तिके कारणकृष्ण

ने अपने आपको महेश्वर कहा है, यदि " अवजानन्ति मां मूढाः गीः ९।११ इसश्लोककेवहअर्थकिये जायं जिनकोस्वामी शं० चा०और मधुसूदन स्वामी आदि मानतेहैं, तबभी कृष्णजी ईश्वर सिद्ध नहीं होते, क्योंकि उन अर्थों में यह लिखा है कि लोग मनुष्य समझकर मेरा अपमान करते हैं। अब विचार योग्य बात यह है कि जब कृष्णजी के सखा मित्र उस समयके लोग कृष्ण जी को ईश्वर नहीं समझते थे तो यह बात स्पष्ट हो गई कि उन में मनुष्य के भाव थे। इस प्रकार व्याख्या किया हुआ यह श्लोक उलटा कृष्ण के ईश्वरीय भाव को मिटा देता है, इसलिये इसके वही अर्थ हैं जो हम पीछे तद्धर्मतापत्ति के कर आए हैं॥

सं०—ननु, यदि तद्धर्मतापत्तिरूपयोग के कारण कृष्णजी अपने आपको ईश्वर शब्द से कथन करते थे तो उनके इसभाव को लोग क्यों नहीं जानते थे ?

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। मूढोऽयंनाभिजानातिलोकोमामजमव्ययम् २५

पद०—न। अहं। प्रकाशः। सर्वस्य। योगमायासमावृतः। मूढः। अयं। न। अभिजानाति। लोकः। मां। अजं। अव्ययं।

पदार्थ—(योगमायासमावृतः) ऐश्वररूपयोग की जो माया नाम महती घटना है, उससे समावृत नाम ढका हुआ (अहं) मैं (सर्वस्य) सब लोगों के सम्बन्ध में (न प्रकाशः) प्रकाशित नहीं (अजं) अजन्मा (अव्ययं) ईश्वरीय निष्पापादि धर्मों के धारण करने से जो मैं अव्यय हूं, ऐसा अव्यय (मूढः) प्रकृति में मोह को प्राप्त (अयंलोकः) यह जन समुदाय मुझको नहीं जानता।

भाष्य—प्रकृति के तीनों गुणों का जो पुरुष के साथ योग

है उन तीनों गुणों की माया नाम प्रकृति में फसे हुए पुरुष मेरे परमभाव को नहीं जानते "योगमाया" शब्द के अर्थ अद्वैतवादियों ने अनिर्वचनीय माया के किये हैं कि उस माया से ढ़का हुआ मैं लोगों की बुद्धि में नहीं आता अर्थात् उस अन्धकाररूप माया ने स्वप्रकाश ब्रह्म को ढक लिया है यह अर्थ निकालते हैं। पर इसके यह अर्थ नहीं, इसके अर्थ प्रकृति के ही हैं, जैसाकिः—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहितंमुखं" यजु० ४०। १७ में यह कथन किया है कि प्रकृतिरूपी लोभादि पात्रों से सत्य का मुख ढ़का हुआ है, एवं प्रकृतिरूपी व्यवधान से योगेश्वर कृष्ण का तर्द्धमतापत्तिरूपी भाव ढका हुआ है॥

सं०—ननु, जब प्रकृतिरूपी पात्र से तुम्हारा तद्धर्मतापत्तिरूपी भाव ढका हुआ है तो फिर उसको कोई भी नहीं जान सकता, इस अभिप्राय से कथन करते हैं कि मेरे विज्ञानी भक्त से बिना उसको कोई नहीं जानताः—

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मांतुवेद न कश्चन२६

पद०—वेद। अहं। समतीतानि। वर्त्तमानानि। च। अर्जुन। भविष्याणि। च। भूतानि। मां। तु। वेद। न। कश्चन॥

पदार्थ—(अहं) मैं (समतीतानि भूतानि) व्यतीत हुए २ भूतों को (वेद) जानता हूं (च) और (वर्त्तमानानि) वर्त्तमानों को भी (च) और (भविष्याणि) भविष्य कालके भूतों को भी, और (मां तु) मुझको तो (न कश्चन वेद) कोई नहीं जानता॥

सं०—अब उस प्रतिबन्ध को वर्णन करते हैं जिससे विज्ञानी भक्त से भिन्न उसको कोई नहीं जानताः—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेनभारत । सर्व भूतानि संमोहं सर्गेयांति परंतप ॥ २७ ॥

पद०—इच्छाद्वेषसमुत्थेन । द्वन्द्वमोहेन । भारत । सर्वभूतानि । संमोहं । सर्गे । यांति । परंतप ॥

पदार्थ—हे भारत (सर्गे) शरीर की उत्पत्ति होने पर (इच्छा-द्वेषसमुत्थेन) इच्छा, द्वेष अर्थात् रागद्वेष से जो उत्पन्न हुए काम क्रोधादि (द्वन्द्वमोहेन) इस जोड़ के मोह से अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, शीतोष्णादिकों के मोह से (परंतप) हे शत्रुको तपाने वाले अर्जुन (सर्वभूतानि) सब प्राणी (संमोहं) मोह को (यांति) प्राप्त होते हैं ॥

सं०—ननु, तुमने चार प्रकार के भक्तों में से ज्ञानी को अपने आपका ज्ञाता माना था, फिर कैसे कहा कि उक्त रागद्वेषादि प्रतिबन्धों के कारण मुझको कोई नहीं जानता ?

येषांत्वंतगतंपापं जनानां पुण्यकर्मणाम् । ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजंते मां दृढव्रताः२८॥

पद०—येषां । तु । अंतगतं । पापं । जनानां । पुण्यकर्मणां । ते । द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः । भजन्ते । मां । दृढ़व्रताः ॥

पदार्थ—(येषांजनानां पुण्यकर्मणां) जिन पुण्यात्मा कर्मीजनों का (तु) निश्चय करके (पापंअंतगतं) पाप नाश को प्राप्त हो गया है (ते) वे (द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः) काम क्रोधादि जो मोह हैं उनसे छुटे हुए (मांभजन्ते) मेरी सेवा करते हैं अर्थात् मुझे जानते हैं, फिर वह कैसे हैं (दृढ़व्रताः) जिनके दृढ़व्रत हैं अर्थात् निश्चय आत्मा हैं ॥

भाष्य—पाप नाश वाले यहां वह लोग लिये जाते हैं जिनके

पाप उस ब्रह्मज्ञान से नाश हो गए हैं अर्थात् जिनके वासनारूपी कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हो गए हैं, जैसा कि "क्षीयन्तेचास्य-कर्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे" इत्यादि वाक्यों में कथन किया है और "दृढव्रताः" इसलिये कहा है कि वह आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी, भक्तों के समान निर्बल आत्मा नहो, किन्तु दृढ़व्रतधारी हो अर्थात् नित्य शुद्धबुद्ध मुक्त स्वभाव परमात्मा को समझकर फिर डोलने वाला न हो ॥

सं०—ननु, तुमजो बारंबार अपनी ही भक्ति और अपना ही भजन बताते हो, इससे तुम्हारे भक्तों को क्या मिलेगा ? उत्तर

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये । ते ब्रह्मतद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्मचाखिलम् ।२९

पद०—जरामरणमोक्षाय । मां । आश्रित्य । यतन्ति । ये । ते । ब्रह्म । तत् । विदुः । कृत्स्नं । अध्यात्मं । कर्म । च । अखिलं ॥

पदार्थ—(जरामरणमोक्षाय) जरा=वृद्धावस्था, मरण=देह त्याग, इनके मोक्षाय नाम दुःखों से छूटने के लिये (मां) मुझको (आश्रित्य) आश्रय करके (ये) जो लोग (यतन्ति) यत्न करते हैं (ते) वे (तत् ब्रह्मविदुः) उस ब्रह्मको जानते हैं और (कृत्स्नं-अध्यात्मं) सम्पूर्ण अध्यात्म को जानते हैं (च) और (अखिलं कर्म) सम्पूर्ण कर्मों को जानते हैं ॥

भाष्य—वे विज्ञानी लोग जो जन्म मरणादि दुखों से छूटने के लिये "मां आश्रित्य" मुझ को आश्रय करके ज्ञानयोग और कर्मयोग इस उभयप्रकार के योग से यत्न करते हैं वे अक्षर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और (अध्यात्मं) अपने स्वरूप निष्पत्ति

को प्राप्त होते हैं जैसाकिः—"**परंज्योतिरुपसम्पद्यस्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते**" इस वाक्य में कथन किया है अर्थात् उस परंज्योति परमात्मा को प्राप्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप से स्थिर होते हैं और शुभाशुभ कर्मोंका उनको पूर्णज्ञान होजाता है, इस श्लोक में अपने से भिन्न अक्षर ब्रह्मका कथन करने से कृष्ण जी ने अपने ईश्वर होनेका सन्देह सर्वथा मिटा दिया, केवल अपने आपको इतने अंशमें कारण रखा है कि जो मेरे दृढ़ उपदेश के द्वारा आते हैं उन लोगों को अक्षर ब्रह्म, स्वरूपनिष्पत्ति, शुभा शुभ कर्मों का ज्ञान, यह फल मिलते हैं। अवतार वादियों के मतानुकूल तद्धर्मतापत्तिरूप ईश्वरीयभावों को उल्लङ्घन करके यदि कृष्णजी ईश्वर होनेका कोई दावा रखते तो यहां अपने से भिन्न ब्रह्म को कदापि कथन न करते। मायावादियों ने ब्रह्मके अर्थ यहां तत् पदके लक्ष्यके किये हैं और अध्यात्म के अर्थ त्वं पदके लक्ष्यके किये हैं और कर्मों के अर्थ श्रवण, मनन, निदि-ध्यासन आदिकों के किये हैं। यदि यही आशय व्यासजी का होता तो इतनी कठिन कल्पना और पुनरुक्ति की क्या आवश्य-कता थी अर्थात् तत् पदका लक्ष्यभी वही निर्गुण ब्रह्म और त्वं पदका लक्ष्य भी वही निर्गुण तो फिर निर्गुण ब्रह्म ही कथनकर देना पर्याप्त था फिर इतनी कठिनाई क्यों? और उस ब्रह्म की प्राप्ति के अनन्तर तो श्रवण, मनन, आदि साधन इनके यहां रहते ही नहीं, फिर उनका कथन क्यों? सच तो यह है कि यह विज्ञानयोग नामा अध्याय है, "**ज्ञानयज्ञेनतेनाऽहंइष्टस्यामितिमेमति**" गी० इत्यादि श्लोकों के अनुकूल विज्ञा-नियों को विज्ञानयोग से इस श्लोक में अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति कथन की है॥

सं०—ननु, यदि कृष्णजी ने अपने से इतर ब्रह्म की प्राप्ति इस श्लोक में कथन की है तो देहत्याग काल में अपना ध्यान क्यों बतलाया है ?

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०

पद०—साधिभूताधिदैवं । मां । साधियज्ञं । च । ये । विदुः । प्रयाणकाले । अपि । च । मां । ते । विदुः । युक्तचेतसः ॥

पदार्थ—(साधिभूताधिदैवं) अधिभूत और अधिदैव के साथ (च) और (साधियज्ञं) अधियज्ञ के साथ (ये) जो लोग (प्रयाणकाले) प्रयाणकाल में (अपि) भी, अर्थात् मरणकाल में भी (मां विदुः) मुझको जानते हैं (ते युक्तचेतसः) ऐसे युक्त चित्तवाले (मां विदुः) मुझे जानते हैं अर्थात् मुझे ठीक २ जानते हैं ॥

भाष्य—"अधिभूत" शब्द के अर्थ यहां प्रकृति के हैं और "अधिदैव" के अर्थ यहां परमात्मा के हैं और "अधियज्ञ" के अर्थ यहां वेद के हैं, इसलिये कृष्णजी यह कहते हैं कि प्रकृति, पुरुष और उसकी वेदरूपी आज्ञा के साथ जो मरणकाल समीप होने पर भी मुझे आ प्राप्त होता है वह यथार्थपनसे मुझको जानता है अर्थात् प्रकृति, ईश्वर और उसकी वेदरूपी आज्ञा को मानकर जो मुझे जानता है वही विज्ञानी है । इस कथन से व्यास जी ने यह स्पष्ट कर दिया कि कृष्ण जी केवल वैदिक मार्ग की ओर लाने के लिये एक प्रवर्त्तक थे, और जिन वैदिक वस्तुओं के सहारे कृष्णजी अभ्युदय और निश्रेयस की सिद्धि बतलाते हैं उन वस्तुओं के बोधन द्वारा ही अपने आपको कल्याणकारी

मानते हैं । इस विज्ञान योगाध्याय में इस प्रकार "यज्ञेअधीति अधियज्ञं" यज्ञ में जो मुख्य हो उसका नाम अधियज्ञ है, जैसा कि :—"तस्मात्सर्वगतंब्रह्मनित्यंयज्ञेप्रतिष्ठितं" गी० ३ । १५ इस श्लोक में वेद को कर्मयज्ञ और ज्ञानयज्ञ का मुख्य साधन वर्णन किया है । इस प्रकार इस विज्ञान योगाध्याय की विज्ञानवाची अधियज्ञ शब्द से समाप्ति करते हैं ॥

इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिवद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये, विज्ञानयोगोनाम सप्तमोऽध्यायः॥

अथ

॥ अष्टमोऽध्यायः ॥

सङ्गति—उक्त सप्तमाऽध्याय में चार प्रकार के भक्तों को वर्णन करके उनमें से विज्ञानीभक्त को परमात्मा का परमप्रिय होने के कारण अक्षर ब्रह्मका ज्ञाता कथन किया गया । अब उस अक्षर ब्रह्म के स्वरूप निर्देश के लिये यह ब्रह्माक्षरनिर्देशाध्याय प्रारम्भ किया जाता है ॥

अर्जुनउवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १

पद०—किं । तत् । ब्रह्म । किं । अध्यात्मं । किं । कर्म । पुरुषोत्तम । अधिभूतं । च । किं । प्रोक्तं । अधिदैवं । किं । उच्यते ॥

पदार्थ—हे पुरुषोत्तम (तत्ब्रह्म) वह ब्रह्म (किं) क्या है अर्थात् किस लक्षणवाला है (किं अध्यात्मं) और वह अध्यात्म क्या है (किंकर्म) कर्म क्या है (च) और (अधिभूतं किंप्रोक्तं) अधिभूत किसको कहागया है (अधिदैवं किं उच्यते) और अधिदैव किसको कहा है ॥

भाष्य—"ते ब्रह्मतद्विदुःकृतस्नं" गी० ७।२९ इस वाक्य में जो ब्रह्म कथन किया गया है वह क्या है ? और अध्यात्म तथा कर्म क्या है ? इत्यादि पदार्थों की स्वरूप निरुक्ति के लिये अर्जुन ने यहां पांच प्रश्न किये हैं। और पूर्वाध्याय के अन्तिम श्लोक में जो अधियज्ञ कथन किया गया था और जो यह कहा था कि देहत्याग समय में इन पदार्थों के ज्ञाता ही मुझे जानते हैं इस विषय में दो प्रश्न अग्रिम श्लोक में अर्जुन और करते हैं:—

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकालेचकथंज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।२

पद०—अधियज्ञः । कथं । कः । अत्र । देहे । अस्मिन् । मधुसूदन । प्रयाणकाले । च । कथं । ज्ञेयः । असि । नियतात्मभिः ॥

पदार्थ—(मधुसूदन) हे कृष्ण (अधियज्ञः) अधियज्ञ का (कथं) किस प्रकार से चिन्तन करना चाहिये और (अत्र) यहां

वह अधियज्ञ (कः) क्या है (प्रयाणकाले) देहत्यागकाल में (अस्मिन् देहे) इस देह में (नियतात्मभिः) समाहित चित्तवालों से (कथंज्ञेयः असि) तुम किस प्रकार जाने जाते हो ॥

भाष्य—यज्ञ में जो मुख्य हो उसका नाम अधियज्ञ है, और वह अधियज्ञ यहां वेदका वाचक है । जैसाकिः—"**तस्मात्सर्वगतंब्रह्मनित्यं यज्ञेप्रतिष्ठितं**" गी० ३।१५ में कथन कर आए हैं । देहत्याग समय में समाहित चित्तवाले जो जिज्ञासु हैं, उनसे तुम किस प्रकार चिन्तन करनेयोग्य हो ? इसका तात्पर्य यह है कि गी० ७ । ३० में कृष्णजी ने यह कहा था कि मुझे अधिभूत के साथ, अधिदैव के साथ और अधियज्ञ के साथ जो जानता है वही देहत्याग समय में मुझे जानता है । इस अभिप्राय से यह प्रश्न कियागया कि तुम उक्त तीनों पदार्थों के साथ देहत्याग समय में कैसे जाने जाते हो ॥

सं०—अब कृष्णजी उक्त प्रश्नों का उत्तर देते हैंः—

श्री भगवानुवाच

अक्षरंब्रह्मपरमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

पद०—अक्षरं । ब्रह्म । परमं । स्वभावः । अध्यात्मं । उच्यते । भूतभावोद्भवकरः । विसर्गः । कर्मसंज्ञितः ॥

पदार्थ—(अक्षरं परमं ब्रह्म) यहां अक्षर नाम सर्वोपरि ब्रह्मका है (अध्यात्मस्वभावः उच्यते) अध्यात्म को स्वभाव कहा जाता है (भूतभावोद्भवकरः) प्राणियों की जो उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला (विसर्गः) दान है (कर्मसंज्ञितः) उसका नाम यहां कर्म है।

भाष्य—अब उक्त सात प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं :— अक्षर का नाम यहां ब्रह्म है परमं विशेषण इसलिये दियागया है कि प्रकृतिकोभी अक्षरकहते हैं क्योंकि "नक्षरतीत्यक्षरं"= यह निरुक्ति प्रकृति में भी घट जाती है क्योंकि वहभी परिणामी नित्य है वास्तव में उसका नाश नहीं होता, इसलिये परमं यह विशेषण दिया कि परम जो सर्वोपरि अक्षर है वह यहां ब्रह्मशब्द से ग्रहण किया जाता है, सर्वोपरि अक्षर परमात्मा ही है क्योंकि वह कूटस्थ नित्य है अर्थात् उसके स्वरूपमें कोई विकारनहीं होता अथवा "अश्नुतेसर्वमित्यक्षरं" जो सर्वव्यापक हो उसका नाम अक्षर है जैसा कि :—"एतद्वैतदक्षरंगार्गिब्राह्मणा भिवदन्ति। एतस्य वाक्षरस्यप्रशासनेगार्गिसूर्य्या-चन्द्रमसौविधृतौतिष्ठतः" बृ० ३।८।९ हे गार्गि इस अक्षर को ब्राह्मणलोग कथन करते हैं, इसी अक्षर की शासना में सूर्य्य चन्द्रमादिक स्थिर हैं। उस अक्षर को वर्णन करने के अभि प्राय से यहां ब्रह्म शब्द आया है जिसका वर्णन "अक्षरम-म्बरान्तधृते" ब्र० सू० १।३।९ में है कि अक्षर यहां ब्रह्म का ही नाम है, क्योंकि अम्बर नाम आकाशादिकोंका धारणकरना ब्रह्म में ही बन सकता है। इस अक्षराधिकारण के विषय वाक्यों को लेकर कृष्ण जी ने कहा है कि :—"अक्षरंब्रह्मपरमं" और अध्यात्म, स्वभावकानाम है जैसाकि पीछे वर्णन किया गया है, स्वस्यभावः=स्वभावः, यथाः—"परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" अर्थ—उसपरमज्योतिको प्राप्त

होकर स्वस्वरूपसे स्थिर होता है, और अध्यात्म के अर्थ यहां जीवात्मा के स्वभावके हैं जैसा कि :—आत्मनिअधीत्य-ध्यात्मं" अर्थात् आत्मा में जो हो उसको अध्यात्म कहते हैं, आत्मा शब्द के अर्थ यहां शरीर के हैं, भाव नाम उत्पत्ति का है, और उद्भव नाम वृद्धि का है, इसलिये भूतों की उत्पत्ति तथा वृद्धि करनेवाले यज्ञादि कर्मों को यहां कर्म कथन किया गयाहै, और गी० ७।२९ में जो यह कहागयाथा कि जो कृष्णजीकेसदुपदेश के द्वारा यत्न करते हैं वे ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, को जानते हैं सो इन तीनों के निर्वचन का प्रश्न प्रथम श्लोक में किया। एवं उक्त तीन वस्तुओं विषयक तीनों प्रश्नों का उत्तर होगया। अब अधिभूतादि जो प्रथम श्लोक में पूछे गए हैं उनका उत्तर देते हैं :—

अधिभूतंक्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर॥ ४॥

पद०—अधिभूतं। क्षरः। भावः। पुरुषः। च। अधिदैवतं। अधियज्ञः। अहं। एव। अत्र। देहे। देहभृतां। वर॥

पदार्थ—(देहभृतां) देहधारियों में से श्रेष्ठ अर्जुन (क्षरःभावः) परिणामी नित्य जो पदार्थ है वह (अधिभूतं) अधिभूत है (च) और (अधिदैवतं) पुरुष परमात्मा है (अधियज्ञं अहं) और अधियज्ञ मैं हूं (एव) निश्चय करके (अत्रदेहे) इस देह में (अधियज्ञः) अधियज्ञ मैं हूं॥

भाष्य—गी० ७। ३० में जो यह कथन किया गया था कि अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के साथ जो मुझे जानते हैं वही मुझे ठीक २ जानते हैं, इस लिये इस चतुर्थ श्लोक में अधिभूता-

दिकों की व्याख्या की है, अधिभूत नाम यहां प्रकृति का है क्योंकि वह प्रत्येक भूत में कार्य्यरूप हो रही है इसलिये "भूते अधीत्यधिभूतं" इस समास से प्रकृति के अर्थ लाभ होते हैं। अधिदैवत नाम यहां परमात्मा का है वह इस प्रकार किः—"य आदित्येतिष्ठन्नादित्यादन्तरोयमादित्यो न वेद" बृ० ३।७।९ इत्यादि वाक्यों से अधिदैवत नाम परमात्मा का है, अधियज्ञ नाम वेद का है जैसाकि पीछे निरूपण कर आए हैं, और गी० ७। ३० में जो यह कथन कर आए हैं कि प्रकृति, परमात्मा, और उसकी आज्ञावेद, इन तीनों पदार्थों के ज्ञान का उपदेष्टा जो कृष्णजी को जानते हैं वह युक्त चित्त वाले योगी और तो क्या मरणकाल में भी उसकी आज्ञा को नहीं भूलते, इसी आशय का इस चतुर्थ श्लोक में विवर्ण करते हुए कृष्ण जी अपने आपको अधियज्ञ कहते हैं॥

"अधियज्ञोविद्यतेयस्य स अधियज्ञः" वह वेद जिसके ज्ञान में विद्यमान हो उसको अधियज्ञ कहते हैं। स्वामी शं० चा० और मधुसूदन स्वामी ने अधिभूतं के अर्थ तो प्रकृति केही किये हैं पर अधिदैव और अधियज्ञ के अर्थों में बड़ा भेद है, वह यह कि अधिदैव के अर्थ इनके मतमें हिरण्यगर्भ के हैं, और हिरण्यगर्भ इनके मतमें छोटे ईश्वर का नाम है, जो प्रथम जीव भी कहलाता है और जिसको यह लोग ब्रह्मा भी कहते हैं औरः—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्। सदाधार पृथिवींद्यामुतेमां कस्मैदेवाय हविषाविधेम॥ यजु० १३।४ इस मंत्र को यह अपने

ब्रह्मारूपी हिरण्यगर्भ का प्रतिपादक बतलाते हैं, जिसके सत्यार्थ यह हैं, "हिरण्यंगर्भेयस्य स हिरण्यगर्भः" हिरण्यनाम सूर्य्यादि ज्योति जिसके गर्भ में हों अर्थात जो सम्पूर्ण विश्व में व्यापक हो रहा हो वह हिरण्यगर्भ है, और (पतिरेक आसीत) वह एक ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का पति था, इत्यादि मन्त्रों से स्पष्ट है कि हिरण्यगर्भ यहां परब्रह्म का नाम है, पर इन्होंने अपर ब्रह्म अर्थात् छोटे ब्रह्म का नाम हिरण्यगर्भ इस लिये रखा है कि उक्त श्लोक में अधियज्ञ विष्णु को माना है, और हिरण्यगर्भ से विष्णु को बड़ा बनाकर कृष्ण को सबसे बड़ा बनाना है, वह इस प्रकार कि कृष्ण जी जो यह कहते हैं कि "अधियज्ञोऽहं" मैं अधियज्ञ हूं अर्थात् मैं विष्णु हूं, इस प्रकार कृष्ण जी हिरण्य-गर्भ से बड़े हुए, क्योंकि हिरण्यगर्भ इनके मतमें इसी ब्रह्माण्ड का स्वामी है और विष्णु व्यापक होने से सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का स्वामी है। इस पर मधुसूदन स्वामी यह लिखते हैं:—"यज्ञोवै विष्णुरितिश्रुतेः स च विष्णुरधियज्ञोऽहं वासुदेव एव न मद्भिन्नः कश्चित्" अर्थ—यज्ञ नाम विष्णु का है और वह विष्णु वसुदेव का पुत्र कृष्ण ही है और वह अपने आपको अधियज्ञ कहके अर्थात् विष्णुरूप बोधन करके यह सिद्ध करता है कि मेरे से भिन्न और कुछ नहीं। यदि कृष्णका अपने आपको अधियज्ञ कहने का यही अभिप्राय है कि मेरे से भिन्न कुछ नहीं तो फिर विनाशी भावों वाला जो अधिभूत कहा गया है उसको कृष्ण ने अहं शब्द से क्यों न कहा और हिरण्यगर्भ को अहं शब्द से क्यों न कहा? हमारे मतमें तो इसकी यह व्यवस्था है कि गी० ७। ३० में जो कृष्ण जीने यह कहा था कि प्रकृति,

परमात्मा, और उसकी आज्ञा वेद के साथ २ जो मुझे जानता है वह युक्त चित्तवाला है। उसी भावको यहां आकर इस प्रकार बोधन किया है कि प्रकृति, पुरुष, और उसकी आज्ञावेद जो अधियज्ञ शब्द से कथन की गई है, उसका उपदेष्टा होने से मैं साक्षात् वेदरूप हूं, इसलिये अपने आपको अधियज्ञ कहा, और यहां अपने आपपर इतना बल इस अभिप्राय से दिया है कि इसी अध्याय के ७ वें श्लोक में जाकर यह कहना है कि सब कालों में मेरा स्मरण करके युद्ध करते हुए मुझको प्राप्त होगे, अर्थात् मेरे भाव को तभी प्राप्त होगे जब आततायियों का बध करना जो वेदकी आज्ञा है उसको मानोगे। इस अभिप्राय से कृष्णजी ने अपने आपको अधियज्ञ कहा है और इसी अभिप्राय से प्रायः बहुत स्थलों में अपना महत्व कथन करके अर्जुन को अपनी ओर खेंचा है। सब कुछ मैं हीं हूं, यदि इस भाव से कृष्ण अपने आपको अधियज्ञ कहते अथवा अवतार के भाव से कहते तो अक्षर परमात्मा को " कविंपुराणमनुशासितारं गी० ८। ९ इत्यादिकों में अपने आपसे भिन्न न बतलाते॥

सं०—अब कृष्ण अपना महत्व कहकर अर्जुन की वृत्ति को दृढ़ करते हुए अक्षर परमात्मा को अपने आपसे भिन्न इस प्रकार बतलाते हैं:—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावंयातिनास्त्यत्रसंशयः।५

पद०—अन्तकाले। च। मां। एव। स्मरन्। मुक्त्वा। कलेवरं। यः। प्रयाति। सः। मद्भावं। याति। न। अस्ति।

अत्र । संशयः ॥

पदार्थ—(अन्तकाले) अन्तकाल में (मां एव) मुझको ही (स्मरन्) स्मरण करता हुआ (कलेवरंमुक्त्वा) शरीर को छोड़ कर (यः) जो (प्रयाति) प्रयाण करता है अर्थात् देह त्याग करता है (सः) वह (मद्भावं) मेरे आश्रय को (याति) प्राप्त होता है (अत्र संशयः न अस्ति) इसमें संशय नहीं ॥

भाष्य—यह श्लोक स्पष्ट है, इस लिये इसकी विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं, इसमें कृष्णजी ने केवल "**मद्भाव**" कथन किया है कि मेरे भाव को वह प्राप्त होता है । इसपर अद्वैतवादी टीकाकारों ने मद्भाव के यह अर्थ किये हैं कि वह ब्रह्म हो जाता है । यदि यह प्रकरण जीवको ब्रह्म बनादेनेका होता तो फिर युद्ध करने के लिये अर्जुन को क्यों उद्यत करते । यहां मद्भाव कथन करने से तात्पर्य्य यह है कि जो पुरुष जैसे २ भावों वाले की संगति करता है वहभाव संस्काररूप से उसमें दृढ़ बैठ जाते हैं, इसलिये उन संस्कारों से लिपटा हुआ ही वह इस कलेवर को छोड़ता है । इस भावसे मद्भाव शब्द कथन किया है। और आगे भी यही कथन करते हैं कि उन्हीं भावोंको प्राप्त होता है। देखो :-

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैतिकौन्तेय सदातद्भावभावितः । ६

पद०—यं । यं । वा । अपि । स्मरन् । भावं । त्यजति । अन्ते । कलेवरं । तं । तं । एव । एति । कौन्तेय । सदा । मद्भावभावितः ।

पदार्थ—(यं यं भावं) जिस २ भावको (स्मरन्) स्मरण करता हुआ (अन्ते कलेवरं त्यजति) अन्तकाल में शरीर को छोड़ता है, हे कौन्तेय (सदामद्भावभावितः) सदा उन भावरूपी

संस्कारों से संस्कारी हुआ २ (तं तं एव एति) उसी २ भावको प्राप्त होता है ॥

स०—इन संस्कारों का प्रयोजन कृष्ण जी आगे श्लोक में कथन करते हैं:—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७

पद०—तस्मात् । सर्वेषु । कालेषु । मां । अनुस्मर । युद्धय । च । मयि । अर्पितमनोबुद्धिः । मां । एव । एष्यसि । असंशयं ॥

पदार्थ—(तस्मात्) इसलिये (सर्वेषुकालेषु) सब कालों में (मांअनुस्मर) मेरा स्मरण कर (च) और (युद्धय) युद्धकर (मयिअर्पितमनोबुद्धि) मेरे में अर्पण करदी है मन और बुद्धि जिसने, ऐसा तु (मांएवएष्यसि) मुझको ही प्राप्तहोगा (असंशयं) इसमें कोई संशय नहीं ॥

भाष्य—यहां इस श्लोक में आकर यह बात स्पष्ट होगई कि कृष्णजी का अपने आपका महत्व बोधन करना और अपना ही स्मरण बतलाना युद्धके अभिप्राय से है, हां अर्थवाद से कृष्णजी कहीं २ अपने आपको इतना बड़ा कह जाते हैं कि जिस बड़ाई के तत्त्व को न समझकर श्रद्धालुलोग उनको ईश्वर बना देते हैं, जैसा कि इस श्लोक के अर्थ में मधुसूदन स्वामी यह लिखतेहैं:— "मां सगुणमीश्वरमनुस्मर" मुझ सगुण ईश्वरका स्मरण कर । भला यहां ईश्वर का क्या प्रकरण था, प्रकरण तो यहां संस्कारों का था, कि पुरुष के जैसे संस्कार होते हैं वैसे ही भावों को प्राप्त होता है । और जिन संस्कारों से ईश्वर की प्राप्ति होती है उनको आगे के श्लोक में वर्णन करते हैं :—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ८

पद०—अभ्यासयोगयुक्तेन। चेतसा। नान्यगामिना। परमं। पुरुषं। दिव्यं। याति। पार्थ। अनुचिन्तयन् ॥

पदार्थ—हे पार्थ (अभ्यासयोगयुक्तेन) अभ्यासरूपी जो योग है उससे युक्त होकर अर्थात् चित्त वृत्ति निरोध करके (नान्यगामिना चेतसा) इधर उधर न जाने वाले चित्तसे (अनुचिन्तयन्) चिन्तन करता हुआ (दिव्यं परमं पुरुषं) दिव्य परमपुरुष जो परमात्मा है उसको (याति) प्राप्त होता है ॥

सं०—वह परमपुरुष कैसा है इसको आगे कथन करते हैं:—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिंत्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

पद०—कविं। पुराणं। अनुशासितारं। अणोः। अणीयांसं। अनुस्मरेत्। यः। सर्वस्य। धातारं। अचिन्त्यरूपं। आदित्यवर्णं। तमसः। परस्तात् ॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (सर्वस्यधातारं) सर्वका धारण करने वाला (अचिन्त्यरूपं) जिसका स्वरूप अचिन्त्य है (आदित्यवर्णं) जो सूर्य्य के समान स्वतः प्रकाश है (तमसः परस्तात्) जो अज्ञान रूपी तम से परे है, फिर कैसा है (कविं) सर्वज्ञ है (पुराणं) सनातन है (अनुशासितारं) सबका अनुशासन करने वाला है और (अणोः) परमाणु आदिकों से भी सूक्ष्म है, उस (अणीयांसं)

अति सूक्ष्म को (यः अनुस्मरेत्) जो स्मरण करता है वह पुरुष उस परमस्वरूप को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—यह श्लोक "सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरंशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषीपरिभूःस्वयंभूः" यजु० ४०। ८ इत्यादि मंत्रों के आशय को लेकर बनाया गया है, इसलिये इसमें कविआदि वही वैदिकशब्द रक्खेगए हैं। "आदित्यवर्णंतमसःपरस्तात्" यह प्रतीक "वेदाहमेतंपुरुषंमहान्तं" यजु० ३१। १८ मंत्रकी है उक्त मंत्रों में वर्णित परमात्मा इस श्लोक में वर्णन किया गयाहै॥

सं०—अब आगे उस परमात्मा के स्मरण का उपायइस प्रकार वर्णन करते हैं :—

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

पद०—प्रयाणकाले। मनसा। अचलेन। भक्त्या। युक्तः। योगबलेन। च। एव। भ्रुवोः। मध्ये। प्राणं। आवेश्य। सम्यक्। सः। तं। परं। पुरुषं। उपैति। दिव्यं॥

पदार्थ—(प्रयाणकाले) देहत्याग समय में (अचलेन मनसा) अचल मनसे जो उस परमात्मा का चिन्तन करता है, वह उस दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है (च) और (भक्त्यायुक्तः) भक्ति से युक्त होकर (योगबलेन) चित्तवृत्ति निरोध से (भ्रुवोः मध्ये)

दोनों भ्रुवों के मध्य में अर्थात् आज्ञाचक्र में (सम्यक् प्राणं आवेश्य) भले प्रकार प्राणों को स्थिर करके जो उस परमात्मा का स्मरण करता है (सः तं परं पुरुषं दिव्यं) वह उस दिव्य परमपुरुषको (उपैति) प्राप्त होता है ॥

सं०—ननु, जिस अक्षर परमात्मा के स्मरणका आपने विधान किया है वह अक्षर परमात्मा किस नामसे स्मरण करने योग्य है ? उत्तर

यदक्षरं वेदविदो वदंति
विशंति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

पद०—यत् । अक्षरं । वेदविदः । वदंति । विशंति । यत् । यतयः । वीतरागाः । यत् । इच्छंतः । ब्रह्मचर्यं । चरंति । तत् । ते । पदं । संग्रहेण । प्रवक्ष्ये ॥

पदार्थ—(यत् अक्षरं) जिस अक्षर को (वेदविदः) वेदके जानने वाले (वदंति) कथन करते हैं (वीतरागाः) विरक्तपुरुष (यतयः) यत्नशील (यत् विशन्ति) जिसको प्राप्त होते हैं और (यत् इच्छन्तः) जिसकी इच्छा करते हुए (ब्रह्मचर्यं) ब्रह्मचर्य्य को (चरन्ति) करते हैं (तत् पदं) वह पद (ते) तुम्हारे लिये (संग्रहेण) संक्षेपसे (प्रवक्ष्ये) वर्णन करता हूं ॥

सं०—अब उसकी धारणा का उपाय वर्णन करके उस अक्षर का नाम वर्णन करते हैं :—

सर्वद्वाराणि संयम्यमनो हृदिनिरुध्यच । मू-

र्न्याधायात्मनःप्राणमास्थितोयोगधारणां ।

पद०—सर्वद्वाराणि । संयम्य । मनः । हृदि । निरुध्य । च । मूर्ध्नि । आधाय । आत्मनः । प्राणं । आस्थितः । योगधारणां ॥

पदार्थ—(सर्वद्वाराणि संयम्य) सब इन्द्रियों का संयम करके (च) और (मनः हृदिनिरुध्य) मनको हृदयदेश में लगाकर (आत्मनः प्राणं) अपने प्राणको (मूर्ध्निआधाय) मूर्द्धादेश में चढ़ाकर (योगधारणां आस्थितः) योगकी धारणा को आश्रय करके, परमगति को प्राप्त होता है यह अग्रिम श्लोक में कहते हैं:—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यःप्रयातित्यजन्देहं स यातिपरमांगतिम् ।१३

पद०—ओं । इति । एकाक्षरं । ब्रह्म । व्याहरन् । मां । अनु-स्मरन् । यः । प्रयाति । त्यजन् । देहं । सः । याति । परमां । गतिं ।

पदार्थ—(ओं एकाक्षरं ब्रह्म) ओ३म् यह जो एक अक्षर ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्म का बोधक जो यह अक्षर है, इसको (व्याहरन्) कथन करता हुआ और (मां अनुस्मरन्) मुझको इसके अनन्तर स्मरण करता हुआ अर्थात् इस पदका उपदेष्टा जानता हुआ(यः) जो पुरुष (देहंत्यजन्) देह को त्यागता हुआ (प्रयाति) प्रयाण करता है अर्थात् देहत्याग करता है (सः) वह (परमांगतिंयाति) परमगति को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—यहां इस बातको कथन किया है कि ओंकार का जप समाधिलाभ में उपयोगी है जैसाकि:—"ईश्वरप्रणिधा-नाद्वा" यो० १ । १ । २३ में यह कथन किया है कि ईश्वरकी

(प्रणिधान) भक्ति से समाधिलाभ होता है। इस श्लोक की व्याख्या में अवतारवादी टीकाकारों ने इस अक्षर के साथ कृष्ण को मिलादिया है अर्थात् कृष्ण को परमेश्वर बनादिया है, यदि महर्षि व्यास का यह तात्पर्य होता तो इस अक्षर के अनन्तर कृष्णजी "मां अनुस्मर" यह कथन न करते। हमारे विचार में कृष्णजी अपने आपको उस अक्षर का उपदेष्टा होनेसे अपना महत्त्व कथन करते हैं अपने आप अक्षर ब्रह्म बनने का अभिमान नहीं करते। यदि स्वयं (अक्षर) ब्रह्म बनने का अभिमान करते तो "तमाहुःपरमांगतिं" गी०८।२१, इस वाक्य द्वारा उस अक्षर को परमगति निरूपण करके अपना धाम कथन न करते, धाम शब्द के अर्थ स्थितिस्थान के हैं अर्थात् मेरी स्थिति का स्थान भी वही अक्षर है। यह कथन करके फिर आगे उस अक्षर की प्राप्ति अनन्यभक्ति द्वारा कथन की है॥

सं०—ननु, यदि कृष्ण जी अपने आपको अक्षर कथन नहीं करते तो योगियों के लिये अपना स्मरण क्यों बतलाते हैं? उत्तर

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरतिनित्यशः।
तस्याहं सुलभःपार्थनित्ययुक्तस्ययोगिनः १४

पद०—अनन्यचेताः। सततं। यः। मां। स्मरति। नित्यशः। तस्य। अहं। सुलभः। पार्थ। नित्ययुक्तस्य। योगिनः॥

पदार्थ—(अनन्यचेताः) किसी अन्य वस्तु में चित्त न लगाकर (सततं) निरन्तर (यः) जो (मां) मुझको (नित्यशः) निरन्तर (स्मरति) स्मरण करता है, हे पार्थ (तस्य नित्ययुक्तस्य योगिनः) उस निरन्तर समाहित चित्त वाले योगी को (अहं) मैं (सुलभः) सुलभ हूं॥

भाष्य—इस श्लोक में कृष्ण जी ने अपने महत्व का कथन उसी अभिप्राय से किया है जैसाकि गी० ८ । ७ में अपने में अर्जुन की मन, बुद्धि, अर्पण कराके उसको युद्ध का उपदेश किया था, इसी प्रकार यहां अपना महत्व वर्णन करके अपने आपको सुख का परमधाम वर्णन करते हैं :—

मामुपेत्यपुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवंतिमहात्मानः संसिद्धिं परमांगताः १५॥

पद०—मां । उपेत्य । पुनः । जन्म । दुःखालयं । अशाश्वतं । न । आप्नुवंति । महात्मानः । संसिद्धिं । परमां । गताः ॥

पदार्थ—(मां उपेत्य) मुझको प्राप्त होकर (दुःखालयं) दुःख का स्थान (अशाश्वतं) विनाशी (पुनः जन्म) जो पुनर्जन्म है, उसको (महात्मानः) महात्मा लोग (न आप्नुवंति) नहीं प्राप्त होते, वह कैसे महात्मा हैं जो (परमां) बड़ी (संसिद्धिं) सिद्धि को (गताः) प्राप्त हुए २ हैं ॥

भाष्य—कृष्णजी ने यहां अपना महत्व इसअभिप्राय से वर्णन किया है कि अब इस निम्नलिखित श्लोक में ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, रुद्रलोक, इस प्रकार के लोक विशेष जो अज्ञानी लोग मानते हैं उनका खण्डन करते हैं :—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाःपुनरावर्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।१६

पद०—आब्रह्मभुवनात् । लोकाः । पुनरावर्त्तिनः । अर्जुन । मां । उपेत्य । तु । कौन्तेय । पुनः । जन्म । न । विद्यते ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (आब्रह्मभुवनात) ब्रह्मलोकसेलेकर (लोकाः) सबलोक (पुनरावर्त्तिनः) पुनर्जन्मवाले हैं पर (मां उपेत्य तु) मुझको

प्राप्त होकर हे कौन्तेय (पुनःजन्म न विद्यते) फिर जन्म नहीं होता ॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, रुद्रलोक, इन लोक विशेषों के मानने वाले जो अवैदिक लोग हैं वह पुनः २ जन्मते और मरते हैं और तत्त्वज्ञानी मुझको प्राप्त होकर पुनः२ जन्ममरण में नहीं आते अर्थात् वह मेरे वैदिक मतकी शरण आते हैं इसलिये ऐसी मिथ्या बातों पर विश्वास नहीं करते, इसलिये पुनः २ जन्ममरण को प्राप्त नहीं होते। यदि इस श्लोक का वही आशय लिया जाय जो अद्वैतवादी टीकाकार लेते हैं तबभी लोक विशेषों का खण्डन होजाता है, वह इस प्रकार कि अद्वैतवादियों के मतमें ब्रह्मलोक से भिन्न अन्य कोई लोक नहीं और उसका भी ब्रह्मणोलोकः=ब्रह्मलोकः, यह अर्थ नहीं किन्तु ब्रह्मैवलोकः=ब्रह्मलोकः, यह अर्थ है अर्थात् ब्रह्मकालोक यह नहीं, किन्तु ब्रह्महीलोक है यह अर्थ हैं। यदि यह अर्थ लिये जायं तो अद्वैतवादियों की ब्रह्मप्राप्तिरूपी नित्य मुक्ति का खण्डन होगया और यदि उक्तलोक विशेष मानेजायं तो इनके अवतार त्रयीकेलोक त्रयसे पुनरावृत्ति कहकर कृष्णजी उक्त अवतारत्रयी में न्यूनता कथन करते हैं। हमारे विचार में तो कृष्णजीने इतना ऊंचा अभिमान किसी परमतत्त्वको आश्रयणकरकेकियाहै अन्यथा अद्वैतवादियों की ब्रह्मलोक की प्राप्ति को पुनर्जन्मवाली कहकर अपने पदकी प्राप्तिको सर्वोपरि न बतलाते और वह परमपद आगे २०वें श्लोक में जाकर कथन करेंगे। अब ब्रह्मरात्रि और ब्रह्मदिन जिस हिसाब से कालवेत्ता लोग मानते हैं उसको वर्णन करतेहैं:—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणोविदुः ।
रात्रिंयुगसहस्रांतांतेऽहोरात्रविदोजनाः॥ १७

पद०—सहस्रयुगपर्यन्तं । अहः । यत् । ब्रह्मणः । विदुः । रात्रिं । युगसहस्रांतां । ते । अहोरात्रविदः । जनाः ॥

पदार्थ—(सहस्रयुगपर्यन्तं) सहस्रयुगतक (यत्) जो (ब्रह्मणः) ब्रह्मका (अहः) दिन है (यत्) जो योगी (विदुः) उसको जानते हैं और (युगसहस्रांतां) हज़ारयुग की ब्रह्माकी रात्रि को जानते हैं (ते) वे (अहोरात्रविदःजनाः) दिन और रात्रि के जाननेवाले पुरुष हैं ॥

भाष्य—१७२८००० सतयुग की आयु है और १२९६००० त्रेतायुगकी आयु है तथा ८६४००० द्वापरकी आयु है और ४३२०००' वर्षकी कलियुग की आयु है । यह चारोयुग जब एक सहस्रवार व्यतीत होते हैं उसका नाम ब्रह्मदिन है, और इसी प्रकार इतने ही युगों की ब्रह्मरात्रि होती है, इस रात्रि दिन के हिसाब से मास पक्ष गिनकर ब्रह्माका सौवर्ष का आयु होता है, उसमें से ५० वर्ष को प्रथम परार्द्ध कहते हैं और दूसरे ५० वर्षों को द्वितीय परार्द्ध कहते हैं, इस रात्रिदिन के गिनने का यहां यह उपयोग था कि एक ब्रह्मदिन भर इस सम्पूर्ण सृष्टि की स्थिति होती है और ब्रह्मरात्रि भर प्रलय रहती है । इस आशय को निम्नलिखित श्लोक में वर्णन किया है :—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवंत्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयंते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८

पद०—अव्यक्तात् । व्यक्तयः । सर्वाः । प्रभवंति । अहरागमे । राव्यागमे । प्रलीयंते । तत्र । एव । अव्यक्तसंज्ञिके ॥

पदार्थ—(अव्यक्तात्) अव्याकृत प्रकृति से (सर्वाः व्यक्तयः) सब कार्य्य (अहरागमे प्रभवन्ति) ब्रह्मदिन में होते हैं, और

(राज्यागमे) ब्रह्मरात्रि में (तत्र अव्यक्तसंज्ञिके) उसी अव्याकृत प्रकृति में (प्रलीयन्ते) लयको प्राप्त होजाते हैं ॥

भाष्य—यहां यह श्लोक इस सम्पूर्ण कार्य्य की उत्पत्ति और प्रलय के वर्णन के अभिप्राय से आया है जिसका आशय यह है कि ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, रुद्रलोक, इनको जो ब्रह्मादि देवोंके देश विशेष मानते हैं वह परमात्मा की विभूति में ऐसेतुच्छ हैं कि एक दिनरात में उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होते हैं। अन्य टीका कारों के मत में उक्त दो श्लोक इस अभिप्राय से आए हैं कि वास्तव में ब्रह्मलोक ऐसा स्थान है कि यह चारोयुग जब एक सहस्रवार व्यतीत होजाते हैं तब उस ब्रह्मका एकदिन होता है, और इसदिनरात के हिसाब से उसकी १००वर्ष की आयु होती है। उस ब्रह्मा के लोक को जो मुक्तपुरुष प्राप्त होते हैं उनकी पुनरावृत्ति "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः" गी० ८। १६ इस श्लोक में प्रतिपादन की है, और जब कृष्णजी ने ब्रह्मलोक की प्राप्तिरूपमुक्ति से लौट आना कथन किया तो इसका उत्तर यह यों देते हैं कि उस बड़ी उमर वाले ब्रह्माके साथ जो मुक्तपुरुष रहते हैं वहां उनको तत्त्वज्ञान उत्पन्न होजाता है फिर वह बड़ीमुक्ति को पा लेते हैं उससे फिर लौटकर नहीं आते, इसको यह लोग क्रममुक्ति कहते हैं, और जो लोग पितृयाण मार्ग के द्वारा चन्द्र-लोक को प्राप्त होते हैं वह फिर लौटकर आजाते हैं। इसलिये इन्होंने सारांश यह निकाला है कि जो पंचाग्निविद्याद्वारा ब्रह्म लोक को प्राप्त होते हैं वह लौटकर आजाते हैं, उनके लिये कृष्ण जी ने यह कहा कि ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए तो लौटकर आजाते हैं पर मुझे प्राप्त हुए लौटकर नहीं आते। इतनी खेंचतान से जो यह उत्तर निकाला है, गीता के अक्षरों में इसका अंशमात्र भी

नहीं पाया जाता। वास्तव में इन श्लोकों का तत्त्व यह है कि मिथ्या विश्वास से मानेहुए ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, और रुद्र लोक, यह सब आगमापायी हैं अर्थात् बनने और मिटने वाले हैं, इसलिये एकसहस्र चारयुगों का एकदिन वर्णन करके और इसी दिनके हिसाब से पक्ष मास और दिन वर्णन करके परमात्मा की अगाध रचना में इसको अनित्य बोधन किया, इसी अभिप्राय से कहते हैं कि:—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

पद०—भूतग्रामः। सः। एव। अयं। भूत्वा। भूत्वा। प्रलीयते। रात्र्यागमे। अवशः। पार्थ। प्रभवति। अहरागमे॥

पदार्थ—हे पार्थ (सःअयं भूतग्रामः) वह ये भूतों का समुदाय (भूत्वा भूत्वा) हो २ कर (रात्र्यागमे) ब्रह्मरात्रि के आने पर (अवशः प्रलीयते) अवश्यनाश होजाता है और (प्रभवति-अहरागमे) ब्रह्मदिन के आनेपर फिर उत्पन्न होजाता है॥

सं०—इस उत्पत्ति नाशवाले ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, और उनके लोकों की अनित्यता प्रतिपादन करके अब उस पदको प्रतिपादन करते हैं जिसको ध्यान में रखकर कृष्ण जी ने यह कहा था कि "मामुपेत्यतु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" हे अर्जुन मुझको प्राप्त होकर फिर जन्म नहीं होता:—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः। यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥

पद०—परः। तस्मात्। तु। भावः। अन्यः। अव्यक्तः। अ-

व्यक्तात् । सनातनः । यः । सः । सर्वेषु । भूतेषु । नश्यत्सु । न । विनश्यति ॥

पदार्थ—(तस्मात् अव्यक्तात्) उस अव्यक्तरूप प्रकृति से (अन्यः अव्यक्तः भावः) और अव्यक्तभाव अर्थात् सूक्ष्म परमात्मा (तु) निश्चय करके (परः) परे है, फिर वह कैसा है (सनातनः) सनातन है (सः यः) वह यह (सर्वेषु भूतेषु) सब भूतों के (नश्यत्सु) नाश होने पर भी (न विनश्यति) नाश को प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य—यह वह पद है जिसको "**तद्विष्णोःपरमंपदं सदापश्यन्तिसूरयः**" अथर्व० ७ । ३ । ७ इत्यादि वैदिक मंत्र वर्णन करते हैं कि इस व्यापक (विष्णुः) परमात्मा के (पदं) स्वरूप को ज्ञानी लोग प्राप्त होते हैं, यह वह पद है जिस पदकी साकारता को "**नतस्यप्रतिमास्ति**" यजु० ३१ । ३ इत्यादि मंत्र निषेध करते हैं । इस अव्यक्त परमात्मा की इन्द्रियगोचरता को "**न चक्षुषापश्यति कश्चिदेनं**" इत्यादि उपनिषद् वाक्य वर्णन करते हैं । इस अव्यक्त को कृष्ण जी इस बलपूर्वक वर्णन करते हैं:—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१

पद०—अव्यक्तः । अक्षरः । इति । उक्तः । तं । आहुः । परमां । गतिं । यं । प्राप्य । न । निवर्त्तते । तत् । धाम । परमं । मम ॥

पदार्थ—(अव्यक्तः, अक्षरः, इति, उक्तः) यह जो अव्यक्त अक्षर कथन किया गया है (तं) उसको, वेद (परमांगतिंआहुः)

परमगति कहते हैं (यं प्राप्य) जिसको प्राप्त होकर (न निवर्तन्ते) फिर निवृत्त नहीं होते अर्थात् फिर उसमें कोई संशय विपर्यय नहीं होता (तत्) वह (परमं) सबसे बड़ा (ममधाम) मेरा स्थान है ॥

भाष्य—इस श्लोक में आकर कृष्णजी ने उस अक्षररूपी परम पद को अपना धाम अर्थात् अपना आश्रयभूत कथन किया है। जैसे अनेक क्लेशों से खिन्न पुरुष अपने धाम को प्राप्त होकर शान्ति को पाता है, इस प्रकार संसारानल से संतप्त पुरुष इस शान्ति वारिधि में स्थिति पाकर शान्त होता है। इस अभिप्राय से उस सूक्ष्म से सूक्ष्म अव्यक्त पुरुष को जो गी० ८–९। १०। ११ में अक्षर नाम से कथन किया गया है इस भाव से कृष्णजी ने उसको अपना धाम कहा है। इस श्लोक के "तद्धामपरमंमम" इस वाक्य का मायावादी यहां तक अर्थाभास करते हैं कि "अहंब्रह्मास्मि," "तत्त्वमसि" का साराबल इसी पर लगा देते हैं, और कहते हैं कि कृष्णजी ने इस श्लोक में अपने आपको परमेश्वर कहा है, हमारे विचार में यह भाव इस श्लोक का कदापि नहीं। यदि उस अक्षर होने का अभिमान कृष्णजी अपने आप करते तो इस निम्नलिखित श्लोक में उस अक्षर ब्रह्म को अपने से भिन्न क्यों बोधन करते :—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यांतःस्थानिभूतानियेनसर्वमिदंततम्२२

पद०—पुरुषः। सः। परः। पार्थ। भक्त्या। लभ्यः। तु। अनन्यया। यस्य। अंतः स्थानी। भूतानि। येन। सर्वं। इदं। ततं ॥

पदार्थ—हे पार्थ (सः) वह (परः पुरुषः) परंपुरुष (तु)

निश्चय करके (अनन्यया भक्त्यालभ्यः) अनन्य भक्ति से मिलता है (यस्य) जिसके (भूतानि) सब भूत (अन्तः स्थानी) भीतर हैं और (येन) जिसने (इदंसर्वं) इस सब ब्रह्माण्ड को (ततं) विस्तृत किया है ॥

सं०—अब इस ब्रह्माक्षराध्याय की समाप्ति करते हुए ज्ञानी और कर्मी लोगों के मार्ग को वर्णन करते हैं :—

यत्रकाले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैवयोगिनः ।
प्रयातायांतितंकालं वक्ष्यामि भरतर्षभ । २३

पद०—यत्र । काले । तु । अनावृत्तिं । आवृत्तिं । च । एव । योगिनः । प्रयाताः । यांति । तं । कालं । वक्ष्यामि । भरतर्षभ ॥

पदार्थ—हेभरतर्षभ (यत्रकाले) जिसकाल में (तु) निश्चय करके (अनावृत्तिं) मुक्तिको (च) और (आवृत्तिं) परमात्मा की अभ्यासरूप भक्ति को (प्रयाताः) प्राण त्यागके अनन्तर (योगिनः) योगी लोग (यांति) प्राप्त होते हैं (तं कालं) उस कालको (वक्ष्यामि) कथन करता हूं ॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि परमात्मा के योग से युक्त पुरुष किस दशा में जाकर असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त होता है और किस दशा में "तज्जपस्तदर्थभावनं" इत्यादि जप यज्ञों से संप्रज्ञात योग को प्राप्त रहता है ॥

अग्निर्ज्योतिरहःशुक्लःषण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः २४

पद०—अग्निः । ज्योतिः । अहः । शुक्लः । षण्मासाः । उत्त-

रायणं । तत्र । प्रयाताः । गच्छंति । ब्रह्म । ब्रह्मविदः । जनाः ॥

पदार्थ—(अग्निः,ज्योतिः) जिस अवस्था में अग्निके समान ज्योति है और (अहः शुक्लः) दिन शुभ्र है और (षण्मासाः उत्तरायणं) छ मास उत्तरायण है (तत्र) उस दशा में (प्रयाताः) शरीर त्यागकर (ब्रह्मविदः जनाः) ब्रह्मवेत्ता पुरुष (ब्रह्म गच्छन्ति) ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य—यह रूपक है अर्थात् जैसे उत्तरायण कालमें दिनशुक्ल होता है और अग्नि ज्योति के समान होती है इस प्रकारके प्रदीप्त ज्ञानके समय में जो लोग प्राण त्याग करते हैं वह ब्रह्मको प्राप्त होते हैं अर्थात् " परंज्योतिरुपसम्पद्यस्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते " इत्यादि वाक्यों में जो तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति कथन कीगई है उसको प्राप्त होते हैं, इसी लिये इसका बोधक पूर्वश्लोक में अनावृत्ति शब्द कथन किया गया है अर्थात् जिसमें वार २ आवृत्ति न करनी पड़े । जब पुरुष परमात्मा के योगसे निष्पाप होजाता है फिर उसे " आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि जपयज्ञ की आवृत्ति नहीं करनी पड़ती अर्थात् ऐसे दिव्यज्ञान की अवस्था में उसका प्रयाण हुआ है कि वह मुक्त होगया है, इसलिये उसे आवृत्ति की आवश्यकता नहीं ॥

सं०—अब आवृत्ति वाले केवल कर्मी की दशाको प्रतिपादन करते हैं:—

धूमोरात्रिस्तथाकृष्णःषण्मासादक्षिणायनम् ।
तत्रचांद्रमसंज्योतिर्योगी प्राप्यनिवर्त्तते ।२५

पद०—धूमः । रात्रिः । तथा । कृष्णः । षण्मासाः । दक्षिणा-

यनं । तत्र । चान्द्रमसं । ज्योतिः । योगी । प्राप्य । निवर्त्तते ॥

पदार्थ— (धूमःरात्रि) जिस दशा में धूम रात्रि के समान अंधकार है (तथाकृष्णः) औरकृष्णपक्ष है (षण्मासाः दक्षिणायनं) छ मास का दक्षिणायन होने पर जहां दिव्य ज्योति की मन्दता रहती है (तत्र) उस दशामें प्रयाण किया हुआ (योगी) कर्मी (चान्द्रमसं ज्योतिः प्राप्य) चन्द्रमाके समान जो आह्लाद करनेवाली ज्योति है उसको प्राप्त होकर (निवर्त्तते) पुनरावर्त्तते अर्थात् पुनः २ आवृत्ति करता है ॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि केवल कर्म काल में जो योगी प्रयाण करता है अर्थात् प्राण त्यागता है वह धूम, रात्रि तथा कृष्णपक्ष के समान अज्ञानरूपी अन्धकारकी दशामें जैसाकि दक्षिणायन समय में उत्तर ध्रुव के पास घोर अंधकार का समय होता है ऐसे समय में केवल कर्मानुष्ठानीयोगीभोगरूपी आनन्दों को प्राप्त होता है। चान्द्रमसंज्योति के यहां चादि=आह्लादने से आह्लाद के अर्थ लिये जाते हैं, ऐसा योगी वार २ कर्मों की आवृत्ति करता है ॥

सं०—अब कर्म मार्ग और ज्ञानमार्ग इन दोनों का उपसंहार करते हैं :—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः ।२६

पद०—शुक्लकृष्णे । गती । हि । एते । जगतः । शाश्वते । मते । एकया । याति । अनावृत्तिं । अन्यया । आवर्त्तते । पुनः ॥

पदार्थ—(हि) निश्चय करके (एते) ये (शुक्लकृष्णेगती) शुक्लकृष्णगति (जगतः) जगत् की (शाश्वते मते) निरंतर मानी

गई हैं (एकया) एक से अर्थात् ज्ञानगति से (अनावृत्तिं) मुक्ति को (याति) प्राप्त होता है (अन्यया) दूसरी केवल कर्मगति से (पुनः) फिर ('आवर्त्तते) कर्मों का आवर्त्तन करता है अर्थात् वार २ उपासनारूपी कर्मों का अभ्यास करता है ॥

सं०—ननु, योगी के अर्थ तो पीछे यह कर आए हैं कि वह कभी नाश नहीं होता और यहां आकर यह कथन करदिया कि "योगी प्राप्यनिवर्त्तते" योगी प्राप्त होकर फिर निवृत्त होजाता है ? उत्तर—"शुचीनांश्रीमतां गेहेयोगभ्रष्टोऽभिजायते" गी० ६ । ४१ इस श्लोक में यह कथन कर आए हैं कि योगसे गिरा हुआ पुरुष भी असद्गति को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् श्रीमानों के घरमें जन्म लेताहै इसीआशय से आगे दो श्लोकों में योगियों का महत्व वर्णन करते हैं:—

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।२७

पद०— न । एते । सृती । पार्थ । जानन् । योगी । मुह्यति । कश्चन । तस्मात् । सर्वेषु । कालेषु । योगयुक्तः । भव । अर्जुन ॥

पदार्थ—हे पार्थ (एते) इनदोनों (सृती) मार्गों को (जानन्) जानता हुआ (कश्चन योगी) कोई योगी भी (न मुह्यति) मोह को प्राप्त नहीं होता (तस्मात्) इसलिये (सर्वेषु कालेषु) सब दशाओं में, हे अर्जुन तू (योगयुक्तः भव) योगयुक्त हो अर्थात् योग का अनुष्ठानकर ॥

भाष्य—उक्त देवयान और पितृयाण अर्थात् ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार के मार्गों में से किसी एकमार्ग को भी जानता

हुआ योगी मोहको प्राप्त नहीं होता, यह वही आशय है जिसको "नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते" गी० २।४० इत्यादि श्लोकों में वर्णनकर आए हैं कि योग के अंशमात्र का भी नाश नहीं होता ॥

सं०—अब योग के महत्व को वर्णन करते हुए योगी का ब्रह्माक्षर परम स्थान निरूपण करके इस ब्रह्माक्षराध्याय का यों उपसंहार करते हैं:—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ॥
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

पद०—वेदेषु । । यज्ञेषु । तपःसु । च । एव । दानेषु । यत् । पुण्यफलं । प्रदिष्टं । अत्येति । तत् । सर्वं । इदं । विदित्वा । योगी । परं । स्थानं । उपैति । च । आद्यं ॥

पदार्थ—(वेदेषु) वेदों में (यज्ञेषु) यज्ञों में (च) और (तपःसु) तपों में तथा (दानेषु) दानों में (एव) निश्चय करके (यत्) जो (पुण्यफलं) पुण्यका फल (प्रदिष्टं) कथन किया है (इदं विदित्वायोगी) इस अक्षर ब्रह्मको जानकर योगी (तत्सर्वं) उस सारे फलको (अत्येति) उल्लङ्घन कर जाता है अर्थात् वह सब फल इसके लिये तुच्छ हैं (च) और वह योगी (आद्यं) सब का आदिरूप (परं स्थानं) परमस्थान जो ब्रह्माक्षर है उसको (उपैति) प्राप्त होता है ॥

भाष्य—उपैति=के अर्थ यहां ब्रह्मके साथ तद्धर्मताप्राप्तिरूप

योग के हैं जैसाकि "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" मु० २।३ इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है। यदि यहां कृष्णजी का अपने आपको ब्रह्मबोधन करने का तात्पर्य्य होता तो इस ब्रह्माक्षराध्याय के अन्त में अपने आपको (अक्षर) ब्रह्मरूप से अवश्य वर्णन करते, और जो योगी के लिये एकमात्र "आद्य स्थान" उपदेश किया है उसको भी अपने आपसे वर्णन करते, यहां कृष्णजी का आद्यस्थान को अपने आपसे भिन्न निर्देश करना "मामुपेत्यतुकौन्तेयपुनर्जन्मनविद्यते"

इत्यादि सब संदिग्ध वाक्यों को स्पष्ट कर देता है अर्थात् वहां भी अस्मच्छब्द का तात्पर्य्य अपने मन्तव्य के अभिप्राय से है जैसाकि "तद्धाम परमं मम" इस श्लोक में कृष्णजीने परमात्मा को अपना निजधाम कहकर बोधन किया है॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे,श्रीमद्भ-
गवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये
अक्षरब्रह्मयोगो नाम
अष्टमोऽध्यायः॥

अथ

॥ नवमोऽध्यायः ॥

सङ्गति—ब्रह्माक्षराध्याय में उस अक्षर ब्रह्मकी *अनन्यभक्ति वर्णन कीगई, जैसाकि "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्यालभ्य स्त्वनन्यया" गी० ८। २२ इत्यादिकों में एकमात्र उसी पुरुष को उपास्य माना है, इस प्रकार का उपास्य उपासकभाव कहकर अब अहंग्रह उपासना कथन करते हैं अर्थात् आत्मत्वेन उपासना इस नवमाध्याय में कथन की जाती है ॥

श्री भगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे । ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।१

पद०—इदं । तु । ते । गुह्यतमं । प्रवक्ष्यामि । अनसूयवे । ज्ञानं । विज्ञानसहितं । यत् । ज्ञात्वा । मोक्ष्यसे । अशुभात् ॥

पदार्थ—(ते अनसूयवे) तुम जो निन्दा से रहित हो तुम्हारे लिये (इदं) ये (गुह्यतमं) गोपनीय (ज्ञानं) ज्ञान (प्रवक्ष्यामि) कथन करता हूं, वह ज्ञान कैसा है (विज्ञान सहितं) जो अनुष्ठान के सहित है (यत् ज्ञात्वा) जिसको जानकर तुम (अशुभात्) बुरे कर्मों से (मोक्ष्यसे) छूटजाओगे ॥

भाष्य—इस श्लोक में विज्ञान सहित ज्ञान कथन करके इस बातको बोधन किया है कि यह ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही नहीं

---

* जिस भक्तिका परमात्मा से भिन्न कोई अन्यविषय नहो, उसको अनन्यभक्ति कहते हैं ॥

किन्तु अनुष्ठानरूपभी है और वह अनुष्ठान भी ऐसा कि जिसको सिद्धि शब्द से कथन कियाजाता है जैसाकिः—"**जन्मौषधि मन्त्र तपः समाधिजाः सिद्धयः**" यो० १। ४।१, अर्थ— जन्मसे, औषधिसे, मन्त्रसे, तपसे, समाधिसे, सिद्धियें प्राप्त होती हैं। यह वह सिद्धि है जिसको समाधि की सिद्धि कहा जाता है, इसलिये ज्ञानको विज्ञान का विशेषण दिया। यह वह ज्ञान हैकि जिसका अनुष्ठान करके आवृत्तिरूपी भक्ति से विनाही पुरुष अशुभ कर्मों से छूटजाता है और परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है॥

सं०—ननु, सप्तमाध्याय में भी इस विज्ञानयोग का वर्णन किया गया है, फिर यहां क्या विशेषता है? उत्तरः—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्॥२॥

पद०—राजविद्या। राजगुह्यं। पवित्रं। इदं। उत्तमं। प्रत्यक्षावगमं। धर्म्यं। सुसुखं। कर्त्तुं। अव्ययं॥

पदार्थ—(इदं) यह ज्ञान (राजविद्या) सब विद्याओंका राजा है (राजगुह्यं) सब रहस्यों का राजा है (पवित्रं) पवित्र है (उत्तमं) उत्तम है, और यह (प्रत्यक्षावगमं) प्रत्यक्ष से जानाजाता है (धर्म्यं) धर्म पूर्वक है (सुसुखंकर्त्तुं) सुख पूर्वक किया जाता है (अव्ययं) विकार से रहित है॥

भाष्य—यह वह विज्ञान है जो सब विद्याओं का राजा है, विद्या उसको कहते हैं जो तत्त्व की प्राप्ति करावे क्योंकि यह विज्ञान परमात्मा रूपी परमतत्त्वकीप्राप्ति कराता है इसलिये सब

विद्याओं का राजा है। संसारमें जितने रहस्य हैं उन सबका जान लेना सुकर है और इसका जानना अति दुष्कर है, इसलिये इस को सब गुह्यों का राजा कहा है, और प्रत्यक्षकाविषय इसको इस लिये कहा है कि इस ईश्वरीय योगरूपी विज्ञानमें ईश्वर का साक्षात्कार होजाता है अर्थात् ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान होजाता है बहुत क्या इस अभेदोपासनारूपी योगका करना धर्म है। सातवें अध्याय में विज्ञानयोग का कथन है और यहांअभेदोपासनाद्वारा उसके साक्षात्कार करनेका वर्णन है इस अंश में भेद है॥

सं०—जब यह योग ऐसा श्रेष्ठ है तो फिर सब लोग इसका धारण क्यों नहीं करते ? उत्तर

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥३

पद०—अश्रद्दधानाः। पुरुषाः। धर्मस्य। अस्य। परंतप। अप्राप्य। मां। निवर्त्तन्ते। मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

पदार्थ—(परंतप) हे अर्जुन (अस्यधर्मस्य अश्रद्दधानाः) इस धर्म की श्रद्धा से रहित पुरुष (मां अप्राप्य) मुझकोप्राप्त न होकर (मृत्युसंसारवर्त्मनि) मृत्युरूप संसार का जो मार्ग है, उसमें (निवर्त्तन्ते) पड़ जाते हैं॥

भाष्य—अश्रद्धालुपुरुष कृष्णजीके ईश्वर सम्बन्धि योगके तत्त्व को न समझकर सब विधाओं का राजा जो यह योग है इसमें श्रद्धा नहीं करते, इसलिये वह इस मार्ग में चलने के अधिकारी नहीं होते॥

सं०—ननु, वह कृष्ण जी का ईश्वर सम्बन्धि योग क्या है जिसके तत्त्वको साधारण लोग नहीं समझते ?

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानिसर्वभूतानि न चाहंतेष्ववस्थितः।४

पद०—मया । ततं । इदं । सर्वं । जगत् । अव्यक्तमूर्त्तिना । मत्स्थानि । सर्वभूतानि । न । च । अहं । तेषु । अवस्थितः ॥

पदार्थ—(इदं) यह (सर्वं) सारा (जगत्) संसार (अव्यक्त-मूर्त्तिना) निराकाररूपसे (मया) मैंने (ततं) विस्तृत किया है (सर्वभूतानि) संसारके सब पृथिवी आदि भूत (मत्स्थानि) मेरे में स्थिर हैं (च) और (अहं) मैं (तेषु) उनमें (न अवस्थितः) स्थिर नहीं अर्थात् मैं उनके आश्रित नहीं ॥

भाष्य—कृष्णजी का ईश्वर सम्बन्धि वह योगयह है कि:—
"य आत्मनितिष्ठन् आत्मनोऽन्तरोयमात्मानवेद-यस्यात्माशरीरम्" वृ० ३।७।२२ का०शा०इत्यादि अन्तर्यामी ब्राह्मण में उस अन्तर्यामी पुरुष का जीवात्मा के साथ शरीर शरीरी-भाव सम्बन्ध वर्णन कियागया है इस भावसे कृष्णजी अपने आपको परमात्मा की विभूति समझकर उस अन्तर्यामी में तद्धर्मतापत्ति से आत्मभाव धारण करके यह कथन करते हैं कि मैंने ही इस सब संसार को बनाया है । इस ईश्वरीय योगको साधारण पुरुष नहीं समझते, इस ईश्वरीय योगकी शक्ति से केवल कृष्ण ने ही यह अपूर्व अर्थ प्रतिपादन नहीं किया किन्तु ईश्वर के साथ अभेदो-पासना से इस प्रकार का योग रखते हुए कई एक ऋषियों ने यह प्रतिज्ञा की है, जैसा कि हम इन्द्रप्रतर्दनाधिकरण में "प्राणा-स्तथानुगमात्" ब्र० सू० १।१।२८ यह सूत्र लिखकर चतु-र्थाध्याय में यह दिखला आए हैं कि इन्द्रने जो अपने आपको

प्राणरूपसे कथन करके यह कहा कि तुम मेरी उपासना करो वह यही ऐश्वर योग था, फिर बामदेव ने, बृ० १।४।१० में जो यह कहा कि जो २ देवों में से जागा वह परमात्मा की अभेदोपासना करके अपने आपको परमात्मत्वेननिर्देश करने लगा और इसी अर्थ को "सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च" यो० १।३।४८

अर्थ—जब प्रकृति और परमात्मा का तत्त्वज्ञान होजाता है तो सब भावों का अधिष्ठातापन और ज्ञातापन उस पुरुष में होजाता है, इसको सिद्धि कहते हैं। कृष्णजी इस प्रकार की योगसिद्धि को पाए हुए थे इसलिये उन्होंने अपने आपका ईश्वर भावसे कथन किया है॥

सं०—ननु, यह सब तुम अपनी कल्पना से लगाते हो, ऐसा ईश्वरीय योग गीता में कहीं वर्णन नहीं किया गया? उत्तर

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥५

पद०—न। च। मत्स्थानि। भूतानि। पश्य। मे। योगं। ऐश्वरं। भूतभृत्। न। च। भूतस्थः। मम। आत्मा। भूतभावनः॥

पदार्थ—(मत्स्थानि भूतानि न च) मेरे में भूत स्थिर नहीं हैं (न च भूतभृत्) और न मैं सब प्राणियों का भरण पोषण करनेवाला हूं (मे) मेरा (योगं) योग (ऐश्वरं) ईश्वरेभवः=ऐश्वरः, तं ऐश्वरं योगं=ईश्वर में जो हो उसको ऐश्वर कहते हैं, उस ऐश्वरयोग को तु (पश्य) देख (मम आत्मा) मेरा आत्मा (भूतभावनः) भूतोंका संकल्प करने वाला है॥

भाष्य—इस श्लोक में जो कृष्णजीका ईश्वरके साथ योग था

उसको "पश्यमेयोगमैश्वरं" यह कथन करके स्पष्ट कर दिया कि मेरा ईश्वर के साथ ऐसा योग है जिससे मैं सब भूतों का कर्त्ता न होकर भी उनके करने का अभिमान कर सकता हूं, यह कृष्ण जी का ईश्वर के साथ अद्भुतयोगथा जिसको साधारण पुरुष नहीं समझते। उक्त दोनों श्लोकों के अर्थ मायावादी टीकाकारोंने रज्जु सर्पादिकों के समान कल्पित ब्रह्माण्डके कर्त्ता होने के किये हैं और स्वयं यह आशंका करके कि परिच्छिन्न एक देशी कृष्णने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों को कैसे रचा? उत्तर यह दिया है कि "अव्यक्तमूर्त्तिना" अर्थात् निराकार रूपसेब्रह्माण्डों को रचा। जब यह जगत् उनके मतमें कल्पित है तो फिर निराकार कर्त्ता की निराली कल्पना क्योंकी जाती है? अनित्य, शरीर धारी कृष्ण का निखिल ब्रह्माण्डों का कर्त्ता होना प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। इसबातके मार्ज्जन करनेकी आवश्यकता तो उनको पड़ती है जो इस ब्रह्माण्डको प्रलय कालतक स्थितिवाला मानते हैं, जिनके मतमें रज्जु सर्पादिकोंके समान यह सब संसार अज्ञान मात्र है उनके मतमें कल्पित कृष्णको निराकार ईश्वर बनाकर संसार का यथा योग्य कर्त्ता कथन करनेसे क्या लाभ?

ननु, तुम्हारे मत में जो ईश्वर के साथ योग होने से कृष्ण अपने आपको सर्व जगत् का कर्त्ता कथन करते हैं यह भी तो एक आरोपमात्र है अर्थात् ठीक नहीं? उत्तर—कृष्ण जी में इस ईश्वरीय योग की योग्यता होने से हमारा अर्थ तो ठीक है, पर ईश्वर का जन्म मानने वाले लोगों के मत में कृष्णजी किसी रूपसे भी जगत का कर्त्ता नहीं होसक्ते। चतुर्भुजरूपसे तो इसलिये जगत् का कर्त्ता नहीं होसक्ते कि वह रूप परिच्छिन्न है, यदि यह

कहा जाय कि अव्यक्तमूर्त्ति से कर्त्ता है तो तुमको कृष्णके कर्त्ता पन को प्रतिपादन करने वाले सब श्लोकों के अर्थ छोड़ने पड़ेंगे और गौणीवृत्ति से "सिंहोमाणवक" यह पुरुष सिंह है, इस अर्थ के समान उपचार मानना पड़ेगा, तुम्हारे उपचाररूपी अर्थ की अपेक्षा से जो हम आत्मत्वोपासना के भावसे उन श्लोकों को लापन करते हैं तो क्या दोष ?

सं०—और प्रमाण यह है कि हमारा यह भाव गीता से स्पष्ट है । जैसाकिः—

यथाऽऽकाशस्थितोनित्यंवायुःसर्वत्रगोमहान्
तथासर्वाणिभूतानिमत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६

पद०—यथा । आकाशस्थितः । नित्यं । वायुः । सर्वत्रगः । महान् । तथा । सर्वाणि । भूतानि । मत्स्थानि । इति । उपधारय ॥

पदार्थ—(यथा) जिसप्रकार (आकाशस्थितः वायुः) आकाश में स्थिर वायु (नित्यंसर्वत्रगः) सदा सब स्थानों में फैलजाता है (तथा) इसीप्रकार (सर्वाणिभूतानि) सबभूत (मत्स्थानि) मेरे में स्थित होकर महान् हो जाते हैं (इतिउपधारय) तू ऐसा निश्चय कर ॥

भाष्य—वायुस्थानीय यहां कृष्णजी अपने आपको बनाते हैं कि जिसप्रकार आकाश के अवकाश को पाकर वायु फैलजाता है और अल्प से महान् होजाता है, एवं मैं परमात्मा के महान् स्वरूप को पाकर महान् होगया हूं यह सब प्राणीजात मेरे में हैं, यहभाव उपनिषदों के इन वाक्यों से लिया गया है जैसाकि :—

"शारीर आत्माप्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढः" बृ० ४। ३।१५

"निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" मुं० ३।२।३, अर्थ—
(१) यह जीवात्मा उस माज्ञात्मा परमात्मा को आश्रय करके सब भुवनों को देखता है (२) यह जीव अविद्या रहित होकर परम समता को प्राप्त होता है। इत्यादि वाक्यों से पाया जाता है कि परमात्मा से मिलकर ही यह जीवात्मा महान् भावों को प्राप्त होता है। इसी प्रकार परमात्मा के भावों को धारण करके कृष्ण जी अपने को जगत् का कर्त्ता कथन करते हैं:—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।

पद०—सर्वभूतानि। कौन्तेय। प्रकृतिं। यान्ति। मामिकां। कल्पक्षये। पुनः। तानि। कल्पादौ। विसृजामि। अहं॥

पदार्थ—हे कौन्तेय (कल्पक्षये) प्रलयकाल में (सर्वभूतानि) यह सबभूत (मामिकां) मेरी (प्रकृतिं) प्रकृति को (यान्ति) प्राप्त होते हैं और (कल्पादौ) उत्पत्तिरूपी कल्पके आदि में (तानि) उन सबभूतों को (अहं) मैं (पुनः) फिर (विसृजामि) रचता हूं॥

भाष्य—यहां प्रकृति के वही अर्थ हैं जो "भिन्नाप्रकृतिरष्टधा" गी० ७।४ में वर्णन कर आए हैं।
अद्वैतवादी लोग यहां फिर अपनी अनिर्वचनीय माया के अर्थ करते हैं जो सर्वथा विरुद्ध हैं। देखो:—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥८

प्रकृतिं। स्वां। अवष्टभ्य। विसृजामि। पुनः। पुनः। भूत-

ग्रामं । इमं । कृत्स्नं । अवशं । प्रकृतेः । वशात् ॥

पदार्थ—(प्रकृतिं स्वां अवष्टभ्य) अपनी आठप्रकार की प्रकृति को आश्रय करके (इमं कृत्स्नं भूतग्रामं) इस सारे भूतों के समुदाय को अर्थात् इस प्राणीवर्ग को और (अवशं) पराधीनभूतसमुदाय को (पुनः पुनः) बार बार (प्रकृतेः वशात्) प्रकृतिरूप उपादान कारण से (विसृजामि) मैं बनाता हूं ॥

भाष्य—यहां भी प्रकृति के वही अर्थ हैं जो पूर्व कर आए हैं। "प्रकृतेः वशात्" इस कथन से इसबात को स्पष्ट करदिया कि इस कार्य्यमात्र का प्रकृति उपादान कारण है, इस अभिप्राय से उक्त शब्द कहा गयाहै । मायावादीलोग यहां प्रकृति के अर्थ अपनी अनिर्वचनीयमाया के करते हैं पर वास्तव में यहां (उपादान कारण) प्रकृति के हैं । यदि माया के अर्थ होते तो यह न कहाजाता कि अपनी प्रकृति को आश्रय करके संसार को रचता हूं, क्योंकि मायावादियों की माया अपने आवरण और विक्षेपशक्ति से उलटा ब्रह्मको वश करलेती है फिर ब्रह्मके आधीन होने की तो कथा ही क्या ? और गीता में ईश्वर की सर्वथा स्वतन्त्रता वर्णन की गई है । देखोः—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

पद०—न । च । मां । तानि । कर्माणि । निबध्नन्ति । धनंजय । उदासीनवत् । आसीनं । असक्तं । तेषु । कर्मसु ॥

पदार्थ—हे धनंजय (तानिकर्माणि) सृष्टिकी रचना रूपी कर्म (मां) मुझको (न निबध्नन्ति) नहीं बांधते, मैं कैसा हूं (उदासीनवत्) उदासीन पुरुष के समान (तेषुकर्मसु) उनकर्मों में

(असक्तं) संग से रहित (आसीनं) स्थिर हूं ॥

भाष्य—इस श्लोक के " उदासीन " और " असक्त " शब्दों से स्पष्ट पायाजाता है कि ईश्वर इन मायावादियों की माया के बन्धन में कदापि नहीं आता । यदि मायावादियों की मोहिनीमाया परमात्मा के मोहका कारण होती तो इस श्लोक में उसको तटस्थ कदापि वर्णन न किया जाता । तटस्थ वर्णन करने से यह भी स्पष्ट है कि परमेश्वर को केवल निमित्तकारण कथन किया गया है । मायावादी उक्त "उदासीन" शब्द के यह अर्थ करते हैं कि यह सृष्टि स्वप्नसृष्टि के समान मिथ्याभूत है, इस लिये इस सृष्टिके कर्म उसके बन्धन का हेतु नहीं होते और "भूतग्रामंसृजामि" तथा "उदासीनवदासीनं" इन दोनों वाक्यों का विरोध इस प्रकार मिटाया है कि मिथ्यामाया को आश्रय करकेही कर्तृत्व है, वास्तव में परमात्मा उदासीन है । इसी अभिप्राय से माया के वशीभूत होनेसे संसार को रचता है यह व्यवस्था की है । यह इस लिये ठीक नहीं कि आगे के श्लोक में फिर अपने आपको प्रकृति का अध्यक्ष कथन किया है, जिससे परमात्मा की निमित्त कारणता पाई जाती है, इनकी मायाकी प्रबलता उसमें अंशमात्र भी नहीं पाई जाती। देखोः—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥१०॥

पद०—मया । अध्यक्षेण । प्रकृतिः । सूयते । सचराचरं । हेतुना । अनेन । कौन्तेय । जगत् । विपरिवर्त्तते ॥

पदार्थ—हे कौन्तेय (मया अध्यक्षेण) मेरे अध्यक्ष होनेके कारण

(प्रकृतिः) जगत् का उपादान कारणरूप जो प्रकृति है वह (सचराचरं जगत्) चराचरजगत्को (सूयते) उत्पन्नकरती है, (अनेन हेतुना) इसकारण यहजगत् (विपरिवर्त्तते) नानाप्रकारसे उत्पन्न होता है ॥

भाष्य—यदि इस श्लोक का यह आशय होता कि माया के वशीभूत होकर ईश्वर संसार का कर्त्ता है तो मायावादियों का यह अभीष्ट सिद्ध होजाता कि वास्तव में परमात्मा उदासीन है केवल मायाके वशीभूत होकरसंसार में फसता है परन्तु इस श्लोक में तो यह बात स्पष्ट पाई जाती है कि परमात्मा सृष्टिका निमित्त कारण है और प्रकृति उपादानकारण है इसलिये "उदासीन शब्द निमित्तकारणताकेअभिप्रायसेआयाहै, और "विसृजामि" प्रकृति की विविध प्रकारकी रचना करने के अभिप्राय से आया है, इसलिये कोई विरोध नहीं ॥

सं०—यहां तक अभेदोपासना से कृष्णजी ने अपने आपको परमात्मा स्थानीय कथन किया, अब अपने उस अभेदोपासना रूपी परमभावकी अगाधता वर्णन करतेहुए अपनेविषयक अज्ञानी जनों की दृष्टि कथन करते हैं :—

अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११॥

पद०—अवजानन्ति । मां । मूढाः । मानुषीं । तनुं । आश्रितं । परं । भावं । अजानन्तः । मम । भूतमहेश्वरं ॥

पदार्थ—(मूढाः) मूर्खलोग (मां) मुझको (मानुषीं तनुं आश्रितं) मनुष्यका शरीर धारणकियाहुआसमझकर (ममपरंभावंअजानन्तः) मेरे परमभावको न जानते हुए (अवजानन्ति) अवज्ञा करते हैं, वह मेरा परमभाव कैसाहै (भूतमहेश्वरं) जो सब प्राणियों से बड़ा है॥

भाष्य—इस श्लोक में कृष्णजीने अपने तद्धर्मतापत्तिरूपीपरम भावको कथन किया है। ईश्वर का जन्म माननेवाले लोग इसके यह अर्थ करते हैं कि कृष्ण को परमेश्वर न जानते हुए उससमय के लोग जो उनकी अवज्ञा करते थे उनको कृष्णजी ने यहां मूढ़ कहा है। इन टीकाकारोंके यह अर्थ यदि सत्य भी माने जायं तब भी कृष्ण का ईश्वरावतार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उस समय के लोग कृष्ण को तभी मनुष्य शरीर धारी जानते होंगे जब उनमें भौतिक शरीर के भाव होंगे। हमारे मतमें तो इसके यह अर्थ हैं कि प्रकृति के तामस भावों वाले लोग उसके परमभाव के ज्ञाता नहीं हैं इसलिये यह श्लोक है॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरींचैव प्रकृतिं मोहिनींश्रिताः १२

पद०—मोघाशाः। मोघकर्माणः। मोघज्ञानाः। विचेतसः। राक्षसीं। आसुरीं। च। एव। प्रकृतिं। मोहिनीं। श्रिताः॥

पदार्थ—हे अर्जुन (मोघाशाः) वह निष्फल आशावाले हैं (मोघकर्माणः) निष्फल कर्मों वाले हैं (मोघज्ञानाः) निष्फलज्ञान वाले हैं (विचेतसः) विचारहीन हैं (राक्षसींआसुरीं) राक्षसी आसुरी (च) और (मोहिनीं प्रकृतिं) मोहिनीप्रकृतिको (श्रिताः) आश्रय किये हुए हैं॥

भाष्य—मेरे परमभावको न जाननेवाले लोग आसुरी प्रकृति के वशीभूत हैं अर्थात् उनमें वह ज्ञान चक्षु नहीं हैं जिनसे आत्म-स्वोपासना के भावों को जानसकें। दैवीप्रकृति के भावों से बिना परमात्मा के निष्पापादि धर्मों को धारण करने वाले उत्तम पुरुषों का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजंत्यनन्यमनसोज्ञात्वाभूतादिमव्ययम्॥१३

पद०—महात्मानः। तु। मां। पार्थ। दैवीं। प्रकृतिं। आश्रिताः। भजन्ति। अनन्यमनसः। ज्ञात्वा। भूतादिं। अव्ययं॥

पदार्थ—हे पार्थ (दैवीं प्रकृतिआश्रिताः) दैवीप्रकृति को आश्रयण करने वाले (महात्मानः) महात्मालोग (अनन्यमनसः) एकाग्र चित्तवाले होकर (मां) मुझको (भजन्ति) सेवन करते हैं (भूतादिं) भूतजो जीवहैं उनका आदिभूत जानकर अर्थात् मुख्य जानकर। फिर मैं कैसा हूं (अव्ययं) विकार रहित हूं॥

भाष्य—इससे भी परमभाव जानने का तात्पर्य्य पाया जाता है। भूतों का आदि होना उस परमात्मा की अभेदोपासना के अभिप्राय से कथन किया है॥

सततं कीर्त्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः।
नमस्यंतश्चमांभक्त्या नित्ययुक्ताउपासते॥१४

पद०—सततं। कीर्त्तयन्तः। मां। यतन्तः। च। दृढ़व्रताः। नमस्यन्तः। च। मां। भक्त्या। नित्ययुक्ताः। उपासते॥

पदार्थ—(सततं) सदा (कीर्त्तयन्तः) गायन करते हुए (च) और (मां) मुझको (यतन्तः) यत्न करते हुए (दृढ़व्रताः) दृढ़व्रत धारी (नमस्यन्तः) नमस्कार करते हुए (मां भक्त्या नित्ययुक्ताः उपासते) मेरी भक्ति से योगके नियमों में लगे हुए उपासना करतेहैं॥

भाष्य—इस श्लोक में "नित्ययुक्ता" शब्द के अर्थ योग युक्तके हैं और वह योग श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप है। श्रुति वाक्यों से सुनने का नाम श्रवण है, युक्तिपूर्वक सत्यासत्य

के विवेक करने का नाम मनन है, उक्तरीति से श्रवण,मनन किये हुए पदार्थका वारंवार चिन्तन करने का नाम निदिध्यासन है। यह तीनों साधन निराकारके ध्यान के लिये ही बन सकते हैं साकारके लिये नहीं, इससे पायाजाता है कि कृष्ण जी उक्त श्लोकों में अपना ध्यान नहीं बतलाते किन्तु परमात्मा का बतलाते हैं। देखो :—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।१५

पद०—ज्ञानयज्ञेन। च। अपि। अन्ये। यजन्तः। मां। उपासते। एकत्वेन। पृथक्त्वेन। बहुधा। विश्वतोमुखं॥

पदार्थ—(मां) मुझको (ज्ञानयज्ञेन यजन्तः) ज्ञानयज्ञसे पूजन करते हुए (अन्ये) कई एक लोग (एकत्वेन) एकत्वरूप से (उपासते) उपासना करते हैं (अपिच) और (पृथक्त्वेन) पृथक्रूप से (बहुधाविश्वतोमुखं) बहुत प्रकार से जो मैं सर्वत्र सर्वसामर्थ्य वाला हूं मेरी उपासना करते हैं और कोई एक सर्वात्मरूप से॥

भाष्य—ज्ञान यज्ञ के यहां वही अर्थ हैं जो चतुर्थाध्याय में निरूपण कर आए हैं, एकत्व से तात्पर्य्य यह है कि "अहंवैत्वमासिभगवोदेवतेत्त्वंवा अहमस्मि" इस प्रकार अभेदोपासना का नाम एकत्वोपासना है और पृथक्त्वरूप से यह तात्पर्य्य है कि जो मुझे भिन्न समझकर उपासना करते हैं जैसाकि:— "यदापश्यपश्यतेरुक्मवर्णं" मुं० ३।१।३ इत्यादिकों में भिन्न समझकर उपासना की गई है और सर्वात्मवाद की उपासना यह है जैसाकि:—"विश्वतोचक्षुरुतविश्वतोमुखः"

यजु० १७ । १९ इत्यादि मन्त्रों में सर्वत्र मुखादि अवयवों का सामर्थ्य मानकर परमात्मा उपास्य समझा गया है । इस श्लोक के ज्ञान यज्ञादि शब्दों से पायागया कि कृष्णजी यहां अपनी उपासना नहीं बतलाते किन्तु उस परम देवको उपास्य बतलाते हैं जो सर्वशक्तिमान् है । और प्रमाण इसमें यह है कि यहां अद्वैतवादीटीकाकारों ने अहंग्रह उपासना अर्थात् आत्मत्त्वेन उपासना मानी है जैसाकि आगे के श्लोक में स्पष्ट है:—

अहं क्रतुरहंयज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६

पद०—अहं । क्रतुः । अहं । यज्ञः । स्वधा । अहं । अहं । औषधं । मन्त्रः । अहं । अहं । एव । आज्यं । अहं । अग्निः । अहं । हुतं ॥

पदार्थ—(अहं क्रतुः) मैं संकल्प हूं (अहं यज्ञः) मैं यज्ञ हूं (अहं स्वधा) मैं स्वधा हूं, मैं औषध हूं, मैं मन्त्र हूं, मैं आज्य अर्थात् घृत हूं, मैं अग्नि हूं, मैं हवन हूं ॥

भाष्य—क्रतु नाम संकल्प का है । यज्ञ शब्द के अर्थ चतुर्थाध्याय में वर्णन कियेगए हैं, स्वधा, अन्न, औषध और मन्त्रादि शब्दोंके अर्थ प्रसिद्ध हैं । यहां इन सब वस्तुओंका कथन आत्मत्वेन उपासना के अभिप्राय से आया है अर्थात् यज्ञादि जितने पदार्थ इस श्लोक में वर्णन कियेगए हैं वह सब परमात्मा के सामर्थ्य में हैं, उस परमात्मा को अपना आप कथन करते हुए कृष्णजी यहां अहं शब्दका प्रयोग करते हैं इसका नाम शास्त्र में अहंग्रह उपासना है, यह उपासना इन श्लोकों में वर्णन कीगई है ॥

पिताहमस्यजगतो माताधातापितामहः ।

वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च॥१७

पद०—पिता । अहं । अस्य । जगतः । माता । धाता । पितामहः । वेद्यं । पवित्रं । ओंकारः । ऋग् । साम । यजुः । एव । च ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (अस्यजगतः) इस जगत् का (अहं) मैं पिता हूं, तथा माता, धाता और पितामह हूं, (वेद्यंपवित्रंओंकारः) जाननेयोग्य जो पवित्र ओंकार है वह मैं हूं, ऋग्, साम, यजुः, (एव) निश्चय करके मैं हूं ॥

भाष्य—इस जगत् के पितादि सबभाव अपने आपको कथन करके यह बोधन किया कि परमात्मा से भिन्न इस जगत् का अधिकरण कोई नहीं, और पवित्र ओंकार तथा ऋगादि वेद सब परमात्मा के आश्रित हैं फिर वह परमात्मा कैसा है:—

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवःप्रलयःस्थानंनिधानंबीजमव्ययम्॥१८

पद०—गतिः । भर्त्ता । प्रभुः । साक्षी । निवासः । शरणं । सुहृत् । प्रभवः । प्रलयः । स्थानं । निधानं । बीजं । अव्ययं ॥

पदार्थ—हे अर्जुन मैं इस जगत् की गति हूं, भर्त्ता हूं, प्रभु हूं, साक्षी हूं, (निवासः) निवास स्थान हूं, शरण हूं, सुहृत् हूं, (प्रभवः) उत्पत्ति और (प्रलयः) विनाश का स्थान हूं (निधानं) निधि=कोष हूं (बीजं) उत्पत्ति का कारण हूं (अव्ययं) विनाश रहित हूं ॥

भाष्य—यहां गति आदि सब कुछ अपने आपको वर्णन करके यह सिद्ध किया कि परमात्मा की सत्ता स्फुरति से विना इस संसार में गतिगमनादि भाव उत्पन्न नहीं होसक्ते ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

पद०—तपामि । अहं । अहं । वर्षं । निगृह्णामि । उत्सृजामि । च । अमृतं । च । एव । मृत्युः । च । सत् । असत् । च । अहं । अर्जुन ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (अहंतपामि) मैं तपाता हूं और (अहं वर्षं) मैं वर्षा हूं (निगृह्णामि) मैं ग्रहण करता हूं (उत्सृजामि) छोड़ता हूं (च) और (एव) निश्चय करके (अमृतं) अमृत और मृत्यु हूं (च) और सत्, असत् (अहं) मैं हूं ॥

भाष्य—इस श्लोक में तपाना, वर्षना, ग्रहणकरना, छोड़ना, अमृत और मृत्यु, सत्य और असत्य इन धर्मों को जो परमेश्वर ने अपना आप कहा है यह कथन कई एक धर्मों के प्रेरक होनेके अभिप्राय से है और कईएक धर्मों का स्वयं धारणकर्त्ता होनेके अभिप्राय से है और यह योग्यता के वशसे प्रतीत होता है जैसाकि तप्त और वृष्टि का परमात्मा प्रेरक होने से कर्त्ता है, ग्रहण और त्यागका, सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का कर्त्ता होने से स्वयं कर्त्ता हैं, अमृत और मृत्युका दाता होने से कर्त्ता है जैसाकिः—"यस्यच्छायाऽमृतं यस्यमृत्युः" यजु० २५ । १३ अर्थ—जिसका आश्रयण करना अमृत है और न मानना मृत्यु है, इस प्रकार मृत्यु और अमृत का दाता होने के अभिप्राय से कर्त्ता है (सत्) परिणामी नित्य प्रकृति और (असत्) प्रकृति के कार्य्य । इनका धारणकर्त्ता होने से कर्त्ता है और प्रकृति के कार्य्यों का उत्पत्ति विनाश का कारण होने से कर्त्ता है । इस अभिप्राय से अमृत, मृत्यु, सत्, असत्, आदि परस्पर विरुद्ध धर्मों का परिहार कियागया । अद्वैतवादियों के मतानु-

सार उक्त सब सत्यासत्यादि परस्पर विरोधीधर्म परमात्मा में हो सक्ते हैं, जैसाकिः—"एतत्सर्वमहमेवहेअर्जुन तस्मात् सर्वात्मानं मां विदित्वा स्वस्वाधिकारानुसारेण बहुभिः प्रकारैर्मामेवोपासत इत्युपपन्नम्" म० सू०

अर्थ—हे अर्जुन (एततसर्वं) यह सब सत्यासत्यादि मैं ही हूं, इस लिये सर्वात्मारूप मुझको अपने २ अधिकारों के अनुसार जानकर बहुत प्रकारों से लोग मेरी ही उपासना करते हैं, क्योंकि इन के मतमें सत्यादि धर्म जैसे ब्रह्म में कल्पित हैं इसी प्रकार असत्यादिधर्म भी ब्रह्ममें कल्पित हैं, इसलिये परस्पर विरोधी कल्पित धर्मोंका आश्रय होने में कोई दोष नहीं, इस प्रकार ब्रह्म में अनित्य धर्म मानने के लिये उद्यत हैं पर मुक्तिकी अनित्यता मानने के लिये तैयार नहीं। इसलिये इनके कईएक अद्वैतवादीटीकाकारों ने यह लिखा है कि सदसदादि सब कुछ ब्रह्म है, इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि सर्वका आत्मारूप परमेश्वर को जान कर अपने २ अधिकार के अनुसार उक्त बहुत प्रकारों से जो चिन्तन करते हैं वह मुझ परमेश्वर का ही चिन्तन करते हैं। इस प्रकार सर्वको ब्रह्म समझकर उपासना करना इनके मत में अहंग्रह उपासना है और एक २ को ब्रह्म समझकर उपासना करना प्रतीकोपासना है, उक्त उपासनाएं इनके मत में अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा मुक्ति के साधन हैं, पर जो यज्ञों द्वारा दिव्य गतिको प्राप्त होना चाहते हैं वह यज्ञ इनके मत में मुक्ति के साधक नहीं। देखोः—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयंते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेंद्रलोक-
मश्नंति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२० ॥

पद०—त्रैविद्याः । मां । सोमपाः । पूतपापाः । यज्ञैः । इष्ट्वा । स्वर्गतिं । प्रार्थयन्ते । ते । पुण्यं । आसाद्य । सुरेन्द्रलोकं । अश्नन्ति । दिव्यान् । दिवि । देवभोगान् ॥

पदार्थ—(त्रैविद्याः) कर्म, उपासना, ज्ञान, इनतीनों विद्याओं को जानने वाले और (सोमपाः) जिन्होंने यज्ञ में सोमरस को पान किया है (पूतपापाः) जिनके पाप दूर होगए हैं वह (यज्ञैः) यज्ञों से (मां इष्ट्वा) मेरा पूजन करके (स्वर्गतिं) सुखकी गतिको (प्रार्थयन्ते) प्रार्थना करते हैं (ते) वेलोग (पुण्यं) पवित्र (सुरेन्द्र लोकं आसाद्य) सुरेन्द्रलोक का आश्रय करके (दिव्यान्) अति उज्वल (दिवि) उस प्रकाशलोक में (देवभोगान्) देवताओं के भोगों को (अश्नन्ति) भोगते हैं ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति ।
एवं हि त्रैधर्म्यमनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभंते ॥ २१ ॥

पद०—ते । तं । भुक्त्वा । स्वर्गलोकं । विशालं । क्षीणे । पुण्ये । मर्त्यलोकं । विशन्ति । एवं । हि । त्रैधर्म्यं । अनुप्रपन्नाः । गतागतं । कामकामाः । लभन्ते ॥

पदार्थ—हे अर्जुन पूर्व श्लोक में कथन किये हुए वेदानुयायी लोग (तं विशालं स्वर्गलोकं भुक्त्वा) उस विशाल स्वर्गलोक को भोग कर (पुण्येक्षीणे) पुण्यों के क्षय होने पर (मर्त्यलोकंविशन्ति)

फिर इस मनुष्य लोक में आजाते हैं (एवं) इस प्रकार (हि) निश्चय करके (त्रैधर्म्यं) कर्म, उपासना, ज्ञान, इन तीनों वैदिक धर्मों को (अनुप्रपन्नाः) प्राप्त हुए २ (कामकामाः) भोगों की कामना करते हुए (गतागतंलभन्ते) गमनागमन को प्राप्त होते हैं॥

भाष्य—उक्त दोनों श्लोकोंका यह आशय है कि वैदिककर्म, उपासना, ज्ञान, इन तीनों धर्मों को माननेवाले जो वैदिक धर्मको प्राप्त हैं वे उस सुखको भोगकर जिसका नाम दिव्यसुख है फिर संसार में आजाते हैं। यह सुख मुक्ति सुख है और यह वैदिकधर्म से ही मिलता है, वह "संकल्पादेवतुतच्छ्रुते" ब्र० सू० ४। ४। ८ में वर्णन किया है और "यं यमन्तमभिकामोभवति यं कामं कामयते सोऽस्यसङ्कल्पादेवसमुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते" छा० ८।२।१० अर्थ—वह मुक्तिको प्राप्त पुरुष जहां तक कामना करता है वह उसके सङ्कल्प से ही सिद्ध होजाती है इसलिये वह सिद्ध सङ्कल्प मुक्ति अवस्था में पवित्र होता है। "भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्" ब्र० सू० ४। ४। ११, इस सूत्रमें मुक्ति अवस्था में संकल्पो का वर्णन किया गया है, इससे पायाजाता है कि मुक्त पुरुष पाषाणकल्प निस्संकल्प नहीं होता और नाही हतैश्वर्य्य होता है अर्थात् परमात्मा के धर्मों के धारण करने से उसमें परमैश्वर्य्य पाया जाता है। इस प्रकार मुक्तके ऐश्वर्य्यकाउक्तदोनों श्लोकों में वर्णनहै। वह मुक्त पुरुष उस सुख विशेष को भोगकर फिर लौट आता है, इसलिये "क्षीणेपुण्ये मर्त्यलोकंविशन्ति" यह कथन किया गया है। मायावादीलोग इन श्लोकों

में स्वर्ग विशेष की प्राप्ति मानते हैं क्योंकि इनके मतमें वेद अप-राविद्या होने से स्वर्गका हेतु है मुक्ति का नहीं ! हम यह पूछते हैं कि यदि वेद केवल अपराविद्या ही थी तो "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" यजु० ४० । ७ इत्यादि परमात्मा के एकत्व के प्रतिपादन करनेवाले और उनके मतमें सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्यत्व को प्रतिपादन करनेवाले केवल पराविद्या बोधक वाक्य कहां से आए, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होता है कि जैसे "तमेवविदित्वातिमृत्युमेति" यह वाक्य ब्रह्मज्ञान को मुक्ति का साधन कथन करता है एवं "त्रैधर्म्यमनुप्रपन्ना" यह वाक्य भी कर्मोपासना ज्ञानद्वारा अथवा वेदत्रयी का जो धर्म है उसको प्राप्त हुए लोग उक्त मुक्ति को लाभ करते हैं इसको कहते हैं और प्रमाण यह है कि यदि यह श्लोकसाधारण कामनाओंका वर्णन करता तो आगे के श्लोक में केवल योगक्षेम वालों का वर्णन न होता किन्तु इससे किसी ऊंचे अर्थ का वर्णन होता। देखो :—

अनन्याश्चिंतयंतोमां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषांनित्याभियुक्तानांयोगक्षेमंवहाम्यहम् २२

पद०—अनन्याः । चिन्तयन्तः । मां । ये । जनाः । पर्य्युपासते । तेषां । नित्याभियुक्तानां । योगक्षेमं । वहामि । अहं ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (ये जनाः) जो पुरुष (अनन्याः चिन्तयन्तः) किसी अन्यकी भक्ति न करते हुए (मां) मेरी (पर्य्युपासते) उपासना करते हैं (तेषां) उन (नित्याभियुक्तानां) नित्य मेरे में जुड़े हुए लोगोंकी (योगक्षेमं) योगक्षेम को (अहं वहामि) मैं प्राप्त करता हूं ॥

भाष्य—अद्वैतवादी इसकी सङ्गति यों लिखते हैं कि पूर्व के दो श्लोकों से सकाम पुरुषकी गति कथनकी, अब निष्काम पुरुष की गति कथन की जाती है, और इस श्लोक में गति यह वर्णन की है कि जो परमात्मा को अपना आप समझलेता है उसको फिर संसार की प्राप्ति नहीं होती। यह इनका कथन ठीक नहीं, क्योंकि यहां संसारकी गतागति के विषयमें कुछ नहीं कहा, यहां तो केवल ईश्वर के भक्तों के योगक्षेम के विषय में कहा है और वह योगक्षेम कोई बड़ी बात नहीं, अप्राप्त की प्राप्ति का नाम योग है और प्राप्त की रक्षा का नाम क्षेम है, तो इस प्रकार का योगक्षेम पूर्वोक्त वैदिक धर्मको प्राप्त लोगों से कोई उच्चार्थ नहीं है। यदि पूर्वोक्त वैदिक धर्मको प्राप्त लोगों का दिव्यभोगरूप ऐश्वर्य्य छोटा समझा जाता तो इसके आगे के श्लोक में भी किसी बड़े अर्थका वर्णन होता पर ऐसा नहीं। देखो :—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजंत्यविधिपूर्वकम्॥२३

पद०—ये। अपि। अन्यदेवताभक्ताः। यजन्ते। श्रद्धया। अन्विताः। ते। अपि। मां। एव। कौन्तेय। यजन्ति। अविधिपूर्वकं॥

पदार्थ—हे कौन्तेय (ये) जो (अन्यदेवताभक्ताः अपि) अन्य देवताओं के भक्तभी (श्रद्धया अन्विताः यजन्ते) श्रद्धा पूर्वकपूजा करते हैं (ते अपि) वह भी (मांएव) मेरा ही (अविधिपूर्वकं) वेदविधि से अविहित (यजन्ते) पूजन करते हैं॥

भाष्य—इस श्लोक में अविधि पूर्वक पूजा करनेवालों का कथन किया गया है अन्य किसी विशेषार्थ का प्रतिपादन नहीं

कियागया और नाहीं किसीपूर्वोक्त अर्थका खण्डन किया गयाहै किन्तु यह एक नया प्रकरण है जोयह सिद्ध करता है कि अविधिपूर्वक पूजा करनेवाले भी यदि श्रद्धा का अंश रखते हैं तो वह उनकी श्रद्धा निष्फल नहीं ॥

सं०—ननु, यदि वेदविधि से हीन मिथ्या ज्ञानसे श्रद्धाकी हुई निष्फल नहीं तो तत्त्वज्ञान की क्या विशेषता ? उत्तर

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानंति तत्त्वेनातश्च्यवंति ते २४

पद०—अहं । हि । सर्वयज्ञानां । भोक्ता । च । प्रभुः । एव । च । न । तु । मां । अभिजानन्ति । तत्त्वेन । अतः । च्यवन्ति । ते ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (सर्वयज्ञानां) सब यज्ञों का (भोक्ता) भोगने वाला (च) और (प्रभुः) स्वामी (अहं) मैं हूं (तत्त्वेन) तत्त्वपूर्वक (न तु एव मां अभिजानन्ति) वह मुझको नहीं जानते (अतः च्यवन्ति ते) इस कारण से वह गिरजाते हैं ॥

भाष्य—परमात्मा ही सब पूजाओं का प्रभु है, इस प्रकार वह परमात्मा को यथार्थ नहीं जानते इसलिये वे यथार्थपन से गिर जाते हैं, यही तत्त्वज्ञान की विशेषता है । और विशेषता यह वर्णन की जाती है कि:—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति
पितृव्रताः । भूतानियान्तिभूतेज्या
यान्तिमद्याजिनोपि माम् ॥ २५ ॥

पद०—यान्ति । देवव्रताः । देवान् । पितॄन् । यान्ति । पितृ-

व्रताः। भूतानि। यान्ति। भूतेज्याः। यान्ति। मद्याजिनः। अपि। मां॥

पदार्थ—(देवव्रताः) दिव्यगुणोंवाले मनुष्यों के भक्त (देवान् यान्ति) उन देवों को प्राप्त होते हैं और (पितृव्रताः) कर्मीजनों के भक्त (पितॄन् यान्ति) पितरों को प्राप्त होते हैं (भूतेज्याः) भूतों की पूजा करनेवाले (भूतानि यान्ति) भूतों को प्राप्त होते हैं और (मद्याजिनः) मेरी पूजा करनेवाले (अपि) निश्चय करके (मां यान्ति) मुझको प्राप्त होते हैं॥

भाष्य—इस श्लोक में ज्ञान की विशेषता को स्पष्ट वर्णन कर दिया कि जो जैसी उपासना करता है वह उसको प्राप्त होता है इसलिये तत्त्वज्ञानी ही परमात्मा को प्राप्त होते हैं, यदि इसश्लोक में देवादि शब्दों के पौराणिक अर्थ भी मानलिये जायं अर्थात् देव शब्द के अर्थ जड़ सूर्य्यादि के और पितरों के अर्थ मरकर पितृलोक में गए हुओं के और भूतके अर्थ मरकर भूत बने हुओं के, तो इन अर्थों में भी हमारी कोई क्षति नहीं, क्योंकि इसश्लोक में देवादिकों की पूजा का निषेध करके परमात्म पूजन बतलाया गया है॥

सं०—यदि अन्य देवों की पूजा न करके भी केवल परमात्मा का पूजन किया जायतो वह महान् परमात्मा तुच्छ पूजा की सामग्री से तथा तुच्छ नैवेद्यों से कैसे प्रसन्न होगा? उत्तर

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः। २६

पद०—पत्रं। पुष्पं। फलं। तोयं। यः। मे। भक्त्या। प्रयच्छति। तत्। अहं। भक्त्युपहृतं। अश्नामि। प्रयतात्मनः॥

पदार्थ—(पत्रं) पत्र (पुष्पं) फूल (तोयं) जल (यः) जो पुरुष (मे) मेरे लिये (भक्त्या) भक्ति से (प्रयच्छति) देता है (प्रयतात्मनः) समाहित चित्तवालों की (भक्त्युपहृतं) भक्ति से युक्त (तत्) उस वस्तुको (अहंअश्नामि) मैं ग्रहण करता हूं ॥

भाष्य—इस श्लोक में इस बातको वर्णन किया है कि परमात्मा के पूजन में किसी बड़ी भेटकी आवश्यकता नहीं, पत्र पुष्पादि तुच्छ से तुच्छ वस्तु भी यदि भक्ति पूर्वक समाहित चित्तवाला पुरुष परमात्मा के अर्पण करता है तो वह सर्वोपरि भेट समझी जाती है ॥

ननु, तुम्हारे मत में तो परमात्मा निराकार है फिर वह पत्र पुष्पादिकों की भेट कैसे लेगा ? उत्तर—पत्र पुष्पादिक यहां सब प्रकार की भेटके उपलक्षण हैं जैसाकि लोक में भी रत्नादि वहुमूल्य पदार्थ भी देकर पीछे से यह कहदिया जाता है कि यह पत्र पुष्प हैं, इसी प्रकार पत्रपुष्पादिक यहां भेटमात्र के उपलक्षण हैं। और यदि यह कहा जाय कि इस श्लोक में "अश्नामि" लिखा है जिसके अर्थ खाने के हैं तो उत्तर यह है कि साकारवादियों का ईश्वर क्या पत्ते और फूल खाता है ? फिर उनके मत में भी "अश्नामि" खाने के अर्थ अयुक्त ही रहे। हमारे मत में तो इसका समाधान यह है कि:—"यस्यब्रह्म च क्षत्रं च उभेभवत ओदनं । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्थावेद यत्र सः" कठ० १। २। २५ अर्थ—जिस परमात्मा के ब्राह्मण क्षत्रिय (ओदनं) भात के समान हैं और मृत्यु शाकादिकों के समान है उसको यथार्थ कौन जान सक्ता है। तो क्या इस वाक्य में ब्राह्मण और क्षत्रिय और मृत्यु

परमात्मा के दाल भात हैं ? नहीं, "अत्ताचराचरग्रहणात्" ब्र० सू० १।२।९ अर्थ—चराचर का ग्रहण करनेवाला होनेसे परमात्मा को यहां भक्षणकर्त्ता कथन कियागया है वास्तव में परमात्मा का भक्ष्य कोई नहीं। एवं यहां भी उपचार से ही "अश्नामि" भक्षणवाची शब्द कथन कियागया है, वास्तव में इसके अर्थ ग्रहण करने के हैं और गीता के वड़े २ टीकाकारों ने भी यही अर्थ किये हैं भक्षण के अर्थ नहीं लिये ॥

सं०—ननु, यदि भक्षण के अर्थ न भी लियेजाएं तब भी पत्र पुष्पादिकों के द्वारा अर्चन करने से तो परमात्मा साकार ही पाया जाता है ? उत्तरः—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्वमदर्पणम् ।२७

पद०—यत् । करोषि । यत् । अश्नासि । यत् । जुहोषि । ददासि । यत् । यत् । तपस्यसि । कौन्तेय । तत् । कुरुष्व । मदर्पणं ।

पदार्थ—(कौन्तेय) हे अर्जुन (यत्करोषि) जो तुम करते हो (यत्अश्नासि) जो तुम खाते हो (यत्जुहोषि) जो तुम यज्ञ करते हो (ददासियत्) और जो तुम देते हो (यत्तपस्यसि) जो तुम तप करते हो (तत्मदर्पणं कुरुष्व) वह मेरे अर्पण करो ।

भाष्य—इस श्लोक में इस बातको वर्णन किया है कि मनुष्य जो करता है वह परमात्मा के अर्पण करे अर्थात् निष्कामता से करे, अपना अर्थ उसमें कदापि न रखे, इस कथन ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि पत्र पुष्पादिकों का कथन किसी साकार मूर्त्तिके आगे रखने के अभिप्राय से नहीं है किन्तु निष्काम कर्मता के अभिप्राय से है ॥

सं०—ननु, यहां तो निष्काम और सकाम कर्मों का कोई प्रकरण नहीं फिर यह उत्तर क्या ?

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्माविमुक्तोमामुपैष्यसि॥२८॥

पद०—शुभाशुभफलैः । एवं । मोक्ष्यसे । कर्मबन्धनैः । संन्यासयोगयुक्तात्मा । विमुक्तः । मां । उपैष्यसि ॥

पदार्थ—(शुभाशुभफलैः) शुभाशुभ फलवाले (कर्मबन्धनैः) जो बन्धनरूपकर्म हैं उनसे (एवंमोक्ष्यसे) इस प्रकार तुम छोड़े जाओगे (संन्यासयोगयुक्तात्मा) संन्यासरूपी जो योग है उससे युक्त (विमुक्तः) मुक्त होकर (मां उपैष्यसि) मुझको प्राप्त होगे ॥

भाष्य—इस श्लोकमें "**संन्यासयोगयुक्तात्मा**" इस वाक्य से यह बात स्पष्ट होगई कि निष्काम कर्मों के प्रतिपादन करने का यहां कृष्णजी का अभिप्राय है, इसलिये यह कहा है कि परमात्मा के अर्पण करके काम करो अर्थात् निष्कामकर्मकरो, क्योंकि निष्काम कर्म करने का नाम ही संन्यास है जैसाकि:—

"यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते"

गी० १८ । ११ इस श्लोक में यह कहा है कि जो कर्मों के फल को त्यागता है वही त्यागी है और देहधारी सर्वथा कर्मों को कदापि नहीं छोड़ सक्ता, इस प्रकार यहां संन्यासयोगयुक्त शब्द से निष्कामकर्म करने वाले का ग्रहण है, एवं यहां ईश्वर के अर्पण से निष्काम कर्मों का अभिप्राय है । अद्वैतवादियों ने यहां इतना भेद किया है कि "**मांउपैष्यसि**" के अर्थ यह किये हैं कि तु ब्रह्म बन जायगा, और कृष्णजी का अभिप्राय

इससेयह है कि ईश्वरार्पण कर्म करने वाला ईश्वर की शरण को प्राप्त होगा ॥

सं०—ननु, यह भी एकपक्षपात है किसीको परमात्मा अपना प्रिय समझता है और किसी को द्वेष्य समझता है ? उत्तर

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजंतितुमांभक्त्या मयितेतेषुचाप्यहम् ॥२९

पद०—समः । अहं । सर्वभूतेषु । न । मे । द्वेष्यः । अस्ति । न । प्रियः । ये । भजन्ति । तु । मां । भक्त्या । मयि । ते । तेषु । च । अपि । अहं ॥

पदार्थ—(सर्वभूतेषु) सब भूतों में (अहं) मैं (समः) समान हूं (न मे द्वेष्यः) न कोई मेरा शत्रु है (न प्रियअस्ति) न कोई प्यारा है (मां) मुझको (भक्त्या) भक्ति से (ये भजन्ति) जो भजते हैं (मयिते) वे मेरे में और (अहं) मैं (तेषु) उनमें (अपि) निश्चय करके वर्त्तता हूं ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजतेमामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मंतव्यःसम्यग्व्यवसितो हि सः ३०

पद०—अपि । चेत् । सुदुराचारः । भजते । मां । अनन्यभाक् । साधुः । एव । सः । मन्तव्यः । सम्यक् । व्यवसितः । हि । सः ॥

पदार्थ—(चेत्) यदि (सुदुराचारः) अत्यन्त दुष्टाचारी (अपि) भी (अनन्यभाक्) अन्यको भजनेवाला न होकर (मां भजते) मुझ को भजता है (सः) वह (साधुःएव मन्तव्यः) निश्चय करके साधु समझना चाहिये और (हि) निश्चय करके (सः) वह (सम्यक् व्यवसितः) ठीक २ निश्चयवाला है ॥

क्षिप्रंभवतिधर्मात्माशश्वच्छान्तिंनिगच्छति।
कौन्तेयप्रतिजानीहि न मे भक्तःप्रणश्यति३१

पद०—क्षिप्रं । भवति । धर्मात्मा । शश्वत् । शान्तिं । निगच्छति। कौन्तेय । प्रतिजानीहि । न । मे । भक्तः । प्रणश्यति ॥

पदार्थ—हे कौन्तेय वह पुरुष (क्षिप्रं) शीघ्रही (धर्मात्माभवति) धर्मात्मा होजाता है जो (शश्वत्) नित्य (शान्तिं) शान्ति को (निगच्छति) प्राप्त होता है (प्रतिजानीहि) तु निश्चय करके जान (मे भक्तः) मेरा भक्त (न प्रणश्यति) नाश नहीं होता ॥

भाष्य—उक्त तीन श्लोकों में कृष्णजी ने इस बातको स्पष्ट करादिया कि दुराचारी से दुराचारी भी जब उस दुराचार को छोड़कर परमात्मा की शरणमें आता है तोवह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है, परमात्मा का इसमें कोई रागद्वेष नहीं जो जैसा करेगा वैसा फल पावेगा । इसी अभिप्राय से आगे इस अर्थको यों वर्णन करते हैं कि :—

मांहि पार्थव्यपाश्रित्ययेऽपिस्युःपापयोनयः।
स्त्रियोवैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपियांतिपरांगतिं

पद०—मां । हि । पार्थ । व्यपाश्रित्य । ये । अपि । स्युः । पापयोनयः । स्त्रियः । वैश्याः । तथा । शूद्राः । ते । अपि । यान्ति । परां । गतिं ॥

पदार्थ—हे पार्थ (हि) निश्चय करके (मां) मुझको (व्यपाश्रित्य) आश्रय करके (ये) जो (पापयोनयः) पाप से ही जन्म है जिनका (अपि) ऐसे भी (स्युः) हों, स्त्री हों वा वैश्य हों, तथा शूद्र हों (ते अपि) वे भी (परांगतिंयान्ति) परागति को

प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य—यहां कृष्णजी ने इस बात पर बलदिया है कि जो पूर्व प्रारब्ध कर्मों से निन्दित कर्मवाले हों, चाहें स्त्रियें हों, चाहें वैश्य हों वा शूद्र हों, वह भी परमात्म परायण होने से शुद्ध हो जाते हैं। इस श्लोक में प्रायः सब टीकाकारों ने विचारी स्त्री, वैश्य तथा शूद्र को जन्म से दुष्ट माना है। यहभाव व्यास जी का नहीं, यदि व्यासजी का यहभाव होता तो अपशूद्राधि करण में सामर्थ्य से वेदाध्ययन की व्यवस्था न की जाती और नाहीं अज्ञातकुलगोत्र सत्यकामजाबाल को ब्रह्मविद्या पढ़ाई जाती, और तो क्या यदि उपनिषदों के समय में यह पौराणिक भाव होता कि स्त्री आदिकों को ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं तो गार्गी, मैत्रेयी, कात्यायनी, इत्यादि स्त्रियें कदापि ब्रह्म वादिनी न कहलातीं ॥

सं०—ननु, यदि स्त्री आदिकों को जाति से दूषित नहीं माना तो आगे जाकर क्षत्रिय और ब्राह्मण को उत्कृष्ट क्यों वर्णन किया है ? उत्तर

किंपुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखंलोकमिमंप्राप्यभजस्वमाम् ॥३३॥

पद०—किं । पुनः । ब्राह्मणाः । पुण्याः । भक्ताः । राजर्षयः । तथा । अनित्यं । असुखं । लोकं । इमं । प्राप्य । भजस्व । मां ॥

पदार्थ—(ब्राह्मणाःपुण्याः) ब्राह्मण धर्म सम्पन्न पुण्यात्मा ब्राह्मणों का (राजर्षयः भक्ताः) क्षात्रधर्मसम्पन्न भक्त क्षत्रियों का (पुनः किं) फिर क्या कहना है अर्थात् जब मन्द कर्मोंवाले वैश्यादि भक्ति से उत्तमगति को प्राप्त होते हैं तो पुण्यात्मा

ब्राह्मण क्षत्रियों की तो कथा ही क्या, इसलिये (अनित्यं) सदा न रहने वाला (असुखं) सुख से हीन (इमंलोकं) इसलोक को (प्राप्य) प्राप्त होकर (मां भजस्व) मेरा भजन कर ॥

भाष्य—यहां ब्राह्मणादिकों को जाति से उत्कृष्ट नहीं माना गया किन्तु गुण से उत्कृष्ट मानागया है, इसलिये ब्राह्मण को पुण्यात्मा और क्षत्रिय को भक्त होनेका विशेषण दिया है, इस से पाया जाता है कि वहां पापी स्त्री आदिकों का ग्रहण था और यहां पुण्यात्मा ब्राह्मणादिकों का ग्रहण है। इसलिये यहां यह *कैमुत्तिक न्याय घट सक्ता है अर्थात् तो फिर इनकी क्या कथा।

सं०— अब कृष्णजी आत्मत्वेन उपासना को समाप्त करते हुए और एक मात्र परमात्मा की भक्तिका उपदेश करते हुए इस प्रकरण को समाप्त करते हैं:—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसियुक्त्वैवमात्मानंमत्परायणः ।३४

पद०—मन्मनाः । भव । मद्भक्तः । मद्याजी । मां । नमस्कुरु । मां । एव । एष्यसि । युक्त्वा । एवं । आत्मानं । मत्परायणः ॥

पदार्थ—(मन्मनाः) मेरे में मनवाला हो और (मद्भक्तः) मेरा भक्त बन (मद्याजी) मेरायज्ञ करनेवाला बन (मां नमस्कुरु) मुझे नमस्कार कर (मां आत्मानं) मुझे आत्मा समझकर (एवं-युक्त्वा) इस प्रकार युक्त होकर (मत्परायणः) मेरे परायण हुआ २ (मां एष्यसि) मुझको प्राप्त होगा ॥

भाष्य—"आत्मेतितूपगच्छान्तिग्राहयन्तिच" ब्र०सू०

---

* कैमुत्तिक न्याय उसको कहते हैं जैसे कि कोई कहे कि ऐसो वायु चली कि पाषाण भी उड़गए, तो फिर रुई की तो कथा ही क्या ॥

४।१।२अर्थ आत्मभावसेऋषिलोग उसको प्राप्तहोते हैं और दूसरों को प्राप्तकराते हैं। इस सिद्धान्तानुकूल परमात्मा की आत्मत्वेन उपासना का उपदेश करते हुए कृष्णजी उस परमात्मा की अनन्यभक्ति यों कथन करते हैं कि तुम एकमात्र मन्मय होकर अर्थात् तद्विषयक मनवाला होकर आत्म परायण हो । इस श्लोकके आशयने गीता से मायावाद को सर्वथा दूर करादिया जो भक्ति द्वारा परमेश्वर प्राप्ति वर्णनकी और इससेपूर्व श्लोकमें इसलोकको अनित्य कथन करके मायावादियों के मिथ्यापन को सर्वथा मिटा दिया, इनके मतमें मिथ्या वह कहलाता है जो अज्ञान से कल्पित हो, जैसे रज्जु में सर्प, सीपी में चांदी, आदि । इस प्रकारके मिथ्यापदार्थ जिसके अज्ञानसे प्रतीत हुआ करते हैं उसी के ज्ञानसे नाशहोजाते हैं । अनित्य पदार्थ वह कहलाते हैं जो सदा स्थायी न रहें, अपनी आयु भोगकर नाशको प्राप्त हो जायं, जैसा कि यह समग्र प्रपञ्च प्रलय कालतक अपनी आयु भोगकर नाश को प्राप्त होजाता है, अतएव सदा न रहने वाला अनित्य कहलाता है, सो इस अनित्य को कृष्णजी ने स्पष्ट कर दियां। और यह भी हमारी दृढ़ प्रतिज्ञा है कि समग्रगीता में मायावादियों के मिथ्यार्थों में मिथ्या शब्द कहीं नहीं आया, इसलिये भी मायावादियों का मायावाद मनोरथ मात्र है ॥

—:o:—

इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये, राजविद्याराजगुह्ययोगोनाम नवमोऽध्यायः ॥

अथ

॥ दशमोऽध्यायः ॥

सङ्गति—पूर्व के ७ । ८ । ९ अध्यायों में परमात्माकी अनन्य भक्तिका वर्णन किया गया और कहीं २ "रसोऽहमप्सु-कौन्तेय" गी० ७ । ८ तथा "अहंक्रतुरहंयज्ञः" गी० ९ । १६ इत्यादि श्लोकों में सामान्य रीति से परमात्मा की विभूति भी वर्णन कीगई, अब इस अध्याय में कृष्ण जी स्वयं परमात्मा की विभूति को विशेष रीति से वोधन करनेके लिये अर्जुन को सम्बोधन करके परमात्मा के विभूतिरूपी ऐश्वर्य्य को आत्मोपासना के भावसे आत्मत्वेन कथन करते हैं ॥

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहोश्रृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणायवक्ष्यामिहितकाम्यया॥ १

पद०—भूयः । एव । महावाहो । श्रणु । मे । परमं । वचः । यत् । ते । अहं । प्रीयमाणाय । वक्ष्यामि । हितकाम्यया ॥

पदार्थ—(महावाहो) हे विशालवाहुवाले अर्जुन (भूयः एव) फिर भी (मे) मेरा (परमंवचः) श्रेष्ठ वचन (श्रणु) सुन (यत्) जोवचन (प्रीयमाणाय) प्रीति वाला जो तु है ऐसे (ते) तेरेलिये (हितकाम्यया) हितकी इच्छा करके (वक्ष्यामि) कहता हूं ॥

सं०—ननु, इससे पूर्व भी अनेकधा आप मेरे हितकी बातें कथन कर आए हैं औरअन्यजो ब्रह्मादि देव हैं उनके ग्रन्थोंद्वारा भी मैं हित की वातों को पढ़ सकता हूं फिर आपके इस हित बोधक

वचन में क्या अपूर्वता है ?

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

पद०—न । मे । विदुः । सुरगणाः । प्रभवं । न । महर्षयः । अहं । आदिः । हि । देवानां । महर्षीणां । च । सर्वशः ॥

पदार्थ—(मे प्रभवं) मेरी विभूति को (सुरगणाः) देवताओं के गण (न विदुः) नहीं जानते (न महर्षयः) और न महर्षिलोग जानते हैं (हि) निश्चय करके (देवानां) देवों का (महर्षीणां) महर्षियों का (सर्वशः) सब प्रकार से (अहं आदिः) मैं आदि हूं॥

भाष्य—इस श्लोक में परमात्मा के स्वरूपज्ञान की अगाधता वर्णन कीगई है कि उसको दिव्यबुद्धिवाले देवभी ठीक २ नहीं जानते और भारद्वाजादि ऋषिभी ठीक २ नहीं जानते, क्योंकि वह परमात्मा सब देव और ऋषि महर्षियों का आदिकारण है अर्थात् सब से पूर्व है, इसलिये उसकी विभूति को देवादि ठीक नहीं जानते, जबतक परमात्मा अपनी विभूति आप ऋषिमहर्षियों के प्रतिकथन न करे तब तक उसकी बड़ी विभूति को ब्रह्मादि देव नहीं जानसक्ते, इस प्रकार परमात्मा की विभूति की दुर्विज्ञेयता इस श्लोक में वर्णन कीगई है जैसाकिः—“ **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन** ” कठ० १ २३ इत्यादि वाक्यों में परमात्मा की कृपा ही उसके यथार्थज्ञान का हेतु वर्णन कीगई है, इसलिये परमात्मा ही अपनी विभूति को आप वर्णन करता है जैसाकिः—“**सहस्र शीर्षा पुरुषः**” यजु० ३१ । १ इत्यादि मन्त्रों में परमात्मा ने अपनी विभूति का वर्णन किया है, इसीप्रकार उस वैदिक विभूति की अपूर्वता

को कृष्णजी आत्मत्वेन उपासना के भाव से अहं शब्द द्वारा वर्णन करते हैं कि न मुझे देवताओं के गण ठीक जानसक्ते हैं न महर्षिलोग ठीक २ जान सक्ते हैं, क्योंकि मैं सर्वदेव और महर्षियों का आदि हूं, इसलिये अपने ज्ञानकी अपूर्वता को परमात्मा आप बोधन करता है, यही इस वचन में अपूर्वता है। अब उस परमात्म ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

पद०—यः। मां। अजं। अनादिं। च। वेत्ति। लोकमहेश्वरं। असंमूढः। सः। मर्त्येषु। सर्वपापैः। प्रमुच्यते॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (मां) मुझको (अजं) जन्म से रहित (च) और (अनादिं) कारण से रहित (वेत्ति) जानता है और (लोकमहेश्वरं) लोकों का महाईश्वर जानता है (सः) वह (मर्त्येषु) सब मनुष्यों में से (असंमूढः) अज्ञान से रहित हुआ २ (सर्वपापैः) सब पापों से (प्रमुच्यते) छूटजाता है॥

भाष्य—अनादि शब्द के अर्थ यहां यह हैं कि न (आदि) कारणं यस्य स अनादि=जिसका कोई कारण नहो उसको यहां अनादि शब्द से कहागया है। जो परमात्मा को शरीरादिकों से रहित तथा कारण रहित मानता है जैसाकिः— **"अशरीरं-शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितं। महान्तं विभुमात्मानं मत्वाधीरो न शोचति"** कठ० १।२।२२ इत्यादिकों में वर्णन कियागया है कि जो शरीरधारियों में अशरीरी है, अस्थिर पदार्थों में स्थिर है, ऐसे महान् विभु परमात्मा को जानकर धीर

पुरुष शोक नहीं करता। यही आशय इस गीता के श्लोक में वर्णन कियागया है कि परमात्मा का यथार्थज्ञाता पुरुष सब शोकादि पापों से दूर होजाता है ॥

सं०—अब उस परमात्मा की विभूतिरूपी उन भावों का वर्णन करते हैं जो भाव परमात्मारूपी निमित्तकारण से संसार में आते हैं:—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४

पद०—बुद्धिः। ज्ञानं। असंमोहः। क्षमा। सत्यं। दमः। शमः। सुखं। दुःखं। भवः। भावः। भयं। च। अभयं। एव। च ॥

पदार्थ—बुद्धि से लेकर अभय तक यह सब भाव परमात्मा की कारणता से प्राणियों में आते हैं ॥

भाष्य—इन बुद्धि आदि भावों के अर्थ यह हैं:— सूक्ष्म अर्थ के विचाररूप सामर्थ्यका नाम बुद्धिहै, सर्वपदार्थों का जो यथार्थ बोध है उसका नाम ज्ञान है, उक्त पदार्थों में कार्य्य करने के लिये विचार पूर्वक जो प्रवृत्ति है उसका नाम असंमोह है, स्व शरीरादिकों को दुःख पहुंचाने परभी जो उस दुःखदाता पर क्रोध न करके उन भावों को मन से भुला देनेका जो भाव है उसका नाम क्षमा है, जिस पदार्थ विषयक जैसा ज्ञान है उसको वैसाही प्रकट करने का नाम सत्य है, इन्द्रियों को रोकने का नाम दम है, मनको रोकने का नाम शम है, अनुकूल प्रतीत होने वाले का नाम सुख है, प्रतिकूल प्रतीत होनेवाले का नाम दुःख है, उत्पत्ति का नाम भव है, सत्ता का नाम भाव है, त्रास का नाम भय है, त्रास से रहित होनेका नाम अभय है। यह सब

कार्य्य परमात्मा से होते हैं ॥ और:—

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः। भवन्तिभावाभूतानांमत्तएवपृथग्विधाः ॥५

पद०—अहिंसा । समता । तुष्टिः । तपः । दानं । यशः । अयशः । भवन्ति । भावाः । भूतानां । मत्तः । एव । पृथग्विधाः॥

पदार्थ—(भवन्ति भावाः भूतानां) भूतोंके यह अहिंसादिभाव (मत्तः एव पृथग्विधाः) परमात्मा से ही नाना प्रकार के होते हैं ॥

भाष्य—सब कालों में सर्व प्रकार से सब प्राणियों के साथ जो द्रोह से रहित होकर वर्त्तना है उसका नाम अहिंसा है, हानि लाभ तथा ऊंचनीच में रागद्वेष से रहित रहने का नाम समता है। थोड़े लाभपर भी सन्तुष्ट रहने का नाम तुष्टि अर्थात् सन्तोष है। ब्रह्मचर्य्यादि व्रतों से शरीर को वशीभूत रखने का नाम तप है। देश, काल, पात्र, को देखकर देनेका नाम दान है । धर्मानुकूल जो देश में प्रसिद्धि हो उसका नाम यश है । और अधर्माचरण से जो लोक में प्रसिद्धि है उसका नाम अयश हैं । यह सब भाव परमात्मारूपी निमित्तकारण से होते हैं ॥

सं०—केवल यही भाव नहीं प्रत्युत मर्यादा पुरुषोत्तम पुरुषों के जो जन्म है वह भी परमात्मा की विभूति है । देखोः—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥६

पद०—महर्षयः । सप्त । पूर्वे । चत्वारः । मनवः । तथा । मद्भावाः । मानसाः । जाताः । येषां । लोके । इमाः । प्रजाः ॥

पदार्थ—(महर्षयः सप्त) भृगु आदि सप्तऋषि, और (पूर्वे चत्वारः)

अग्नि, वायु, आदित्य अङ्गिरा, ये पूर्व के चार ऋषी (मनवः तथा) और मनु (मद्भावाः) मेरे तत्त्वको जानने वाले (मानसाः जाताः) ये अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न हुए (येषां) जिनकी (लोके) लोक में (इमाः प्रजाः) ब्राह्मणादि यह सब प्रजा है ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः। सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥७

पद०—एतां। विभूतिं। योगं। च। मम। यः। वेत्ति। तत्त्वतः। सः। अविकम्पेन। योगेन। युज्यते। न। अत्र। संशयः।

पदार्थ—(मम एतां विभूतिं) मेरी इस विभूति को (च) और (योगं) योग को (यः) जो पुरुष (तत्त्वतः) यथार्थपन से (वेत्ति) जानता है (सः) वह (अविकम्पेन योगेन) अचल योग के साथ (युज्यते) जुड़ता है (न अत्र संशयः) इस में संशय नहीं ॥

सं०—अब परमात्मा के ज्ञाता जो योगी हैं उनके भावों को निम्नलिखित चार श्लोकों द्वारा वर्णन करते हैं:—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते। इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥८

पद०—अहं। सर्वस्य। प्रभवः। मत्तः। सर्वं। प्रवर्त्तते। इति। मत्वा। भजन्ते। मां। बुधाः। भावसमन्विताः॥

पदार्थ—(अहं) मैं (सर्वस्य) सबका (प्रभवः) उत्पत्ति स्थान हूं (मत्तः) मेरे से (सर्वं) सब (प्रवर्त्तते) प्रवृत्त होते हैं (इति) ऐसा (मत्वा) मानकर (भावसमन्विताः बुधाः) मेरे भावको समझनेवाले बुद्धिमान् (मां) मेरा (भजन्ते) भजन करते हैं ॥

भाष्य—परमात्मा ही सबका उत्पत्ति स्थान है और उस से

ही इस सब संसारवर्ग की रचना होती है, ऐसा समझकर जो परमात्मा का भजन करते हैं वे बुद्धिमान् उसके भावों को जानने वाले हैं "सर्वस्यप्रभवः" के वही अर्थ हैं जो वेदान्तार्य्य भाष्य के अ० सू० १।१।२ में कियेगयेहैं अथवा "सर्वंखल्विदंब्रह्मतज्जलानितिशान्तमुपासीत्" छा० ३। १४।४ में हैं, इसीभाव से यहां परमात्मा को सब वस्तुओं का उत्पत्ति स्थान मानागया है, वह भाव यह है कि "तस्माज्जायत इतितज्जं, तस्मिन्लीयत इतितल्लं,तस्मिन् अनितिप्राणितिइतितदनं" अर्थात् जो उस ब्रह्म से उत्पन्न हो, उसी में लय हों, उसी में चेष्टा करें, ऐसे पदार्थों को तज्जलान् कहते हैं, उपनिषदों में परमात्मा के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण होने का भाव नहीं किन्तु सबके अधिकरण होने का भाव है और यह आशय गीता के ७ वें अध्याय में स्पष्टकर दिया है कि जगत् का उपादान कारण जो प्रकृति है वह परमात्मा से भिन्न है, इस लिये यह सन्देह उत्पन्न नहीं हो सकता कि परमात्मा अभिन्ननिमित्तोपादानकारण होने से "अहंसर्वस्यप्रभवः" कहागया है। और युक्ति यह है कि सर्व वस्तुओं का प्रभव समझकर जो परमात्मा की भक्ति कथन की गई है इससे भी परमात्मा अभिन्ननिमित्तोपादान कारण नहीं पाया जाता, क्योंकि भक्ति भेद में ही होसकती है अभेद में नहीं। देखो:—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयंतः परस्परम्।
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमंति च॥९

पद०—मच्चिताः। मद्गतप्राणाः। बोधयन्तः। परस्परं। कथ-

यन्तः । च । मां । नित्यं । तुष्यन्ति । च । रमन्ति । च ॥

पदार्थ—(मच्चित्ताः) मेरे में है चित्त जिनका (मद्गतप्राणाः) मेरे निमित्त ही है प्राणजीवन जिन्हों का (परस्परं) आपस में श्रुतिऔर युक्तियों से (बोधयन्तः) जो मेरा बोधन करते रहते हैं (च) और (मां) मुझ को (नित्यं) प्रतिदिन (कथयन्तः) शिष्यादिकों से कथन करते हैं और (तुष्यन्ति) संतोष को प्राप्त होते हैं वह (रमन्ति) परमात्मा की भक्ति में रमण नाम क्रीड़ा करते हैं अर्थात् उनके लिये कोई अन्य क्रीड़ादि सुखके जनक नहीं ॥

भाष्य—यह पूर्वोक्त भक्त उस संतोष को लाभ करते हैं जिस को महर्षि पतंजलि ने कहा है कि "संतोषादनुत्तमः सुखलाभः" यो० १।२।४२ संतोष से सर्वोपरि सुखका लाभ होता है ॥

सं०—ऐसे भक्तों को परमात्मा क्या देता है, इस बातकोआगे कथन करते हैं :—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥ १०

पद०—तेषां । सततयुक्तानां । भजतां । प्रीतिपूर्वकं । ददामि । बुद्धियोगं । तं । येन । मां । उपयान्ति । ते ॥

पदार्थ—(तेषां) उन भक्तों को (सततयुक्तानां) जो निरंतर परमात्मा में युक्त रहते हैं और जो (प्रीतिपूर्वकं भजतां) प्रीति पूर्वक परमात्मा का भजन करते हैं उनको (तंबुद्धियोगंददामि) उसबुद्धियोग को देता हूं (येन) जिससे (मां) मुझको (ते) वे (उपयान्ति) प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य—यहां बुद्धियोग के अर्थ ज्ञान योग के हैं, जो ज्ञानयोग "नहिज्ञानेनसदृशंपवित्रमिहविद्यते" गी० ४। ३८ में वर्णनकियागया है। अद्वैतवादी टीकाकार "मामुपयान्ति" के अर्थ जीव के ब्रह्म होने के करते हैं कि जिस प्रकार घटरूप उपाधि के नाश होने से घटाकाश महाकाशबनजाता है, इसप्रकार बुद्धि योग से जीव ब्रह्म बन जाता है, यदि यह भाव बुद्धियोग का होता तो गी० ४। ४२ में यह न कहाजाता कि ज्ञानरूपी खड्ग से संशय को छेदन करके योगको ग्रहणकर उठ खड़े हो। इस प्रकार संशय छेदनका साधनतो बुद्धियोग हो सकता है, पर ब्रह्म बनने का साधन बुद्धियोग कैसे हो सकता है, हां यदि "दशमस्त्वमसि" के समान भूल होती तो अवश्य दशम पुरुषके समान जीव ब्रह्म बनजाता। दशम पुरुष की कथा इसप्रकार है कि कहीं दश जुलाहे देशान्तर को गए थे, जब रास्ते में नदी तैरकर पार हुए तो दशों को गिनने लगे, जो गिननेवालापुरुष था वह अपने आपको छोड़करके नौ को गिन जाता था, जब वह दशमे पुरुष की मृत्यु मानकर इस शोक सागर में निमग्न थे तो इस भूलको उपदेष्टा ने यों निवृत्त किया कि अपने आपको न गिननेवाले पुरुष के मुखपर एक चपत देकर कहा कि "दशम-स्त्वमसि" दशवां तू है। इस कथा से मायवादी यह तात्पर्य्य लिया करते हैं कि इसप्रकार "तत्त्वमसि" "अहंब्रह्मास्मि" इत्यादि वाक्य जन्य ज्ञान से जीव ब्रह्म बनजाताहै। ठीक है जीव ब्रह्म बनजाता यदि दशम पुरुष के समान भूलकर ही जीव बना होता, पर जीव वास्तव में ब्रह्म से भिन्न वस्तु है जैसा कि:— 'विद्ध्यनादीउभावपि' गी० १३। १९ इस प्रकरण में

जीव ईश्वर और प्रकृति को भिन्न २ माना है ॥

तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थोज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

पद०—तेषां । एव । अनुकम्पार्थं । अहं । अज्ञानजं । तमः । नाशयामि । आत्मभावस्थः । ज्ञानदीपेन । भास्वता ॥

पदार्थ—(तेषां) उन भक्तों के ऊपर (अनुकम्पार्थं) अनुग्रह के लिये (अज्ञानजं तमः) अज्ञानसे उत्पन्न तम को (आत्मभावस्थः अहं) परमात्माके भाव में स्थिर जो मैं हूं, ऐसा मैं (भास्वता) प्रकाश वाले (ज्ञानदीपेन) ज्ञानरूपी दीपक से उस तमको (नाशयामि) नाश करता हूं ॥

भाष्य—"आत्मभावस्थः" शब्दसे यह पाया गया कि परमात्मा के भावों में स्थिर होकर ही कृष्णजी अपने आपको ईश्वर शब्द से कथन करते हैं ॥

सं०—अब परमात्मा के भावों वाले कृष्णका जो उस परमात्मा के साथ योग है और उस परमात्मा की जो २ विभूतियें हैं उनको जानने के अभिप्राय से अर्जुन कृष्णकीइस प्रकार स्तुति करते हैं कि :—

अर्जुनउवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्। पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

पद०—परं । ब्रह्म । परं । धाम । पवित्रं । परमं । भवान् । पुरुषं शाश्वतं । दिव्यं । आदिदेवं । अजं । विभुं ॥

पदार्थ—(परं ब्रह्म) तुम परब्रह्म हो अर्थात् प्रकृति आदिकों

से परे जो ब्रह्म है वह हो (परंधाम) सब से बड़ा आश्रय हो, (भवान् परमं पवित्रं) आप परम पवित्र हो (पुरुषं शाश्वतंदिव्यं) तुम निरंतर दिव्य पुरुष हो, आदि देव हो, (अजं) अजन्मा हो (विभुं) सर्वव्यापक हो ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वेदेवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासःस्वयं चैव ब्रवीषि मे १३

पद०—आहुः । त्वां । ऋषयः । सर्वे । देवर्षिः । नारदः । तथा। असितः । देवलः । व्यासः । स्वयं । च । एव । ब्रवीषि । मे ॥

पदार्थ—(त्वां) तुमको (सर्वे ऋषयः) सब ऋषिलोग, पूर्व श्लोक में कथन किये हुए भावों वाला कहते हैं और नारदादि उन ऋषियों के नाम हैं (स्वयं एव ब्रवीषि मे) और तुम स्वयं भी उक्त परमात्मा के भावों वाला अपने आपको कहते हो ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ॥
नहि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।१४

पद०—सर्वं । एतत् । ऋतं । मन्ये । यत् । मां । वदसि । केशव । न । हि । ते । भगवन् । व्यक्तिं । विदुः । देवाः । न । दानवाः ॥

पदार्थ—हे केशव (यत् मां वदसि) जो तुम मुझ से कहते हो (सर्वं एतत् ऋतं मन्ये) यह सब बातें मैं सत्य मानता हूं, हे भगवन् (ते) तुम्हारे (व्यक्तिं) स्वरूप को (देवाः) देव (हि) निश्चय करके (न विदुः) नहीं जानते और (न दानवाः) न दानव ॥

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

पद०—स्वयं । एव । आत्मना । आत्मानं । वेत्थ । त्वं । पुरुषो-

त्तम । भूतभावन । भूतेश । देवदेव । जगत्पते ॥

पदार्थ—(भूतभावन) हे भूतों की उत्पत्ति करने वाले (भूतेश) प्राणियों के ईश्वर (देवदेव) हे देवों के देव (पुरुषोत्तम) हे पुरुषों में से उत्तम (जगत्पते) हे जगत् के स्वामिन् (स्वयं एव) अपने आप ही (आत्मना) आपने आप से (आत्मानं) अपने आप को (त्वं वेत्थ) तुम जानते हो ॥

भाष्य—इन चार श्लोकों से कृष्ण की स्तुति कीगई है, देहधारी कृष्ण को ईश्वर वर्णन नहीं किया गया, यदि ईश्वर वर्णन किया गया होता तो:—"सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्" गी० १३।१५ और "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरं । विनश्यत्स्व विनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति" गी० १३।२७ इत्यादि श्लोकों में परमात्मा को निराकार वर्णन न किया जाता । इस प्रकार निराकार को केवल गीताही वर्णन नहीं करती किन्तु "तदन्तरस्य सर्वस्यतदुसर्वस्यास्यवाह्यत" यजु० ४०।५ "दूरात्सु दूरेतदिहान्ति के च पश्यत सुहैव निहितं गुहायां" "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" केन० १।४ इत्यादि वेदोपनिषदों के अनेक वाक्य उसको निराकार प्रतिपादन करते हैं, फिर व्यासजी परस्पर विरुद्ध और वेदशास्त्र विरुद्ध यहां कृष्ण को ईश्वर क्यों प्रतिपादन करते? हमारे विचार में उक्त चारों श्लोकों में तद्धर्मतापत्ति के अभिप्राय से कृष्णको ईश्वरीय भावों से कथन किया गया है और जैसाकि कृष्ण स्वयं भी अपने आपको तद्धर्मतापत्ति के भावों से ईश्वरत्वेन निरूपण करते आए हैं उसी भाव

को पूछने के लिये अर्जुन ने ऐसा कथन किया है और जैसाकि आगे भी कथन करते हैं कि:—

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्याह्यात्म-
विभूतयः। याभिर्विभूतिभिर्लो-
कानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

पद०—वक्तुं। अर्हसि। अशेषेण। दिव्याः। हि। आत्मविभूतयः। याभिः। विभूतिभिः। लोकान्। इमान्। त्वं। व्याप्य। तिष्ठसि॥

पदार्थ—(याभिः विभूतिभिः) जिन विभूतियों से (इमान् लोकान्) इन लोकों को (त्वं) तुम (व्याप्य) व्याप्त करके (तिष्ठसि) स्थिर हो रहे हो (हि) इस कारण से (दिव्याः) दिव्य (आत्मविभूतयः) जो तुम्हारी विभूति हैं, उनको (अशेषेण) सम्पूर्ण रीति से (वक्तुं अर्हसि) तुम कहने योग्य हो ॥

भाष्य—विभूति शब्दके अर्थ यहां ऐश्वर्य्य के हैं जैसाकि:—
"ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च" यो० १। ३। ४४ इस सूत्र में अणिमादि योगी के ऐश्वर्य्य कथन किये गए हैं, अणिमा नाम सूक्ष्म होजाने का है। इसी प्रकार योगेश्वर कृष्ण से विभूतिरूपी परमात्मा के ऐश्वर्य्य अर्जुन ने पूछे हैं ॥

सं०—ननु, तुम बारंबार कृष्ण को योगी कहते चले आते हो, गीता कृष्ण को योगी कहां वर्णन करती है? उत्तर—

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिंतयन्।
केषु केषु च भावेषु चिंत्योऽसि भगवन्मया १७

पद०—कथं। विद्यां। अहं। योगिन्। त्वां। सदा। परिचिन्त

यम् । केषु । केषु । च । भावेषु । चिन्त्यः । असि । भगवन् । मया ॥

पदार्थ—(योगिन्) हे योगी कृष्ण (अहं) मैं (त्वां सदा) तुम को सदा (परिचिन्तयन्) चिन्तन करता हुआ (कथं विद्यां) कैसे जानूं (च) और (केषु केषु) किन २ (भावेषु) भावों में,हे भगवन् (मया चिन्त्यः असि) तुम मेरे चिन्तन करने योग्य हो ॥

भाष्य—इस श्लोक में कृष्ण जी को योगीशब्द से स्पष्ट वर्णन किया है और इस योग से तद्धर्मतापत्तिरूप से परमात्मा के साथ युक्त हुए कृष्ण से परमात्मा के ऐश्वर्य्यरूपी भाव पूछे हैं जिन भावों द्वारा परमात्मा का ऐश्वर्य्य बड़े से बड़े नास्तिक को आस्तिक बना देता है, जिन भावों द्वारा परमात्मा का ऐश्वर्य्य बड़े से बड़े बली को क्षणभर में निर्बल करके परमात्मा का अनुयायी बना देता है, वह ऐश्वर्य्य इस विभूतियोग में वर्णन किये गए हैं ॥

अद्वैतवादी इन विभूतियों को परमात्मा का रूप मानते हैं क्योंकि उनके मत में परमात्मा इस संसार का उपादान कारण है। विशिष्टाद्वैतवादी जड़ चेतन सब वस्तुजात ब्रह्म का शरीर होने के अभिप्राय से शरीरगत विभूतियों को भी ब्रह्म की विभूतियां वर्णन करते हैं और मूर्त्तिपूजक इन विभूतियों को प्रतिमा स्थानी मानकर प्रतिमापूजन का एक दृढ़ प्रमाण देते हैं, एवं अपने २ मत में इस विभूति अध्याय की विभूतियों को सब लोग खेंचते हैं। वैदिकमत में यह विभूतियें परमात्मा का ऐश्वर्य्य बोधन करने के लिये हैं और परमात्मरूप उपचार से कथन कीगई हैं, जैसाकि:-"चन्द्रमामनसोजातःचक्षोसूर्य्योऽजायत" यजु० ३१।१२ "नाभ्यासीदंतरिक्षं" यजु० ३१।१३ इत्यादि मन्त्रों में परमात्मा के मन चक्षु आदिकों के द्वारा सूर्य्यादिकों की उत्पत्ति कथन की गई है, वास्तव में परमात्मा के न

मन है न चक्षु है, किन्तु एकरस चिद्घन परमात्मा है। इसी प्रकार परमात्मा अक्षराधिकरण में वर्णन किये गए वाक्यों से स्थूलतादि धर्मों से सर्वथा रहित है अर्थात् कूटस्थ नित्य है और "विकारांश्च गुणांश्चैवाविद्धि प्रकृति संभवान्" गी० १३।१९ में विकार और रूपादि सब गुण प्रकृति के कथन किये गए हैं, ब्रह्म के नहीं। इसी प्रकार इस विभूति अध्याय में भी जो रूप कथन किये गए हैं वह सब प्राकृत अर्थात् प्रकृति के रूप हैं। "रूप्यते अनेनेति रूपं" इस व्युत्पत्ति द्वारा परमात्मा के निरूपण के साधन होने के कारण इन को परमात्मा का रूप कथन किया गया है॥

सं०—इन रूपों को और कृष्ण का परमात्मा के साथ आत्मोपासनारूपी योग को अर्जुन विस्तार पूर्वक पूछते हैं:—

विस्तरेणात्मनोयोगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथयतृप्तिर्हि शृण्वतोनास्तिमेऽमृतम्॥

पद०—विस्तरेण। आत्मनः। योगं। विभूतिं। च। जनार्दन। भूयः। कथय। तृप्तिः। हि। शृण्वतः। न। अस्ति। मे। अमृतं॥

पदार्थ—हे जनार्दन (आत्मनः योगं) अपने योग को (च) और (विभूतिं) विभूति को (विस्तरेण) विस्तार पूर्वक (भूयः कथय) फिर कथन करो (हि) जिस कारण (अमृतं शृण्वतः) अमृतरूपी वचनों को सुनते हुए (मे) मेरा (तृप्तिः) संतोष (न अस्ति) नहीं हुआ॥

सं०—अब कृष्ण जी अपने योग का महत्व और परमात्मा के गुणरूप विभूति को कथन करते हैं:—

श्रीभगवानुवाच

हंत ते कथयिष्यामि दिव्याह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठनास्त्यंतो विस्तरस्य मे॥

पद०—हन्त। ते। कथयिष्यामि। दिव्याः। हि। आत्मविभूतयः॥ प्राधान्यतः। कुरुश्रेष्ठ। न। अस्ति। अन्तः। विस्तरस्य। मे॥

पदार्थ—हे कुरुश्रेष्ठ (प्राधान्यतः) प्रधानता करके (हन्त) अब (ते) तुम्हारे लिये (दिव्याः हि आत्मविभूतयः) दिव्य जो मेरी विभूतियें हैं उनको (कथयिष्यामि) कथन करता हूं (मे) विस्तरस्य) मेरी विभूतियों के विस्तार का (नअन्तः अस्ति) अंत नहीं है॥

सं०—अब कृष्णजी अपने आत्मत्वेन उपासनारूपी योग अर्थात् परमात्मा के साथ अभेद बुद्धि करके अपने आत्मभाव से परमात्मा की विभूतियों को कथन करते हैं:—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च॥२०

पद०—अहं। आत्मा। गुडाकेश। सर्वभूताशयस्थितः। अहं। आदिः। च। मध्यं। च। भूतानां। अन्तः। एव। च॥

पदार्थ—(गुडाकेश) हे अर्जुन (अहं) मैं (सर्वभूताशयस्थितः) सब प्राणियों के हृदय में स्थित हूं (अहं आदिः च मध्यं च) और मैं ही आदि और मध्य हूं और मैं ही (भूतानां अन्तः एव) प्राणियों का अंत हूं॥

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन किया है कि इस सम्पूर्ण संसार की सत्ता परमात्मा ही है, परमात्मा से ही इस संसार का

जन्म स्थिति और प्रलय होता है जैसाकिः—"**यतोवाइमानिभूतानि जायन्ते येनजातानिजीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभि सं विशन्तितद्विजिज्ञासस्वतद्ब्रह्म**" तै० ३। १

अर्थ—जिससे यह सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुए २ जिसकी सत्ता से अपने प्राणधारण करते हैं और जिसमें अंतकाल में लय होजाते हैं, उसके जानने की इच्छा कर वह ब्रह्म है। इस विषय वाक्य के आशय से यह श्लोक कथन किया गया है कि परमात्मा ही सब प्राणियों का आदि, मध्य और अंत है॥

सं०—अब सूर्य्य चन्द्रमादिकों को परमात्मा की विभूतिरूप से कथन करते हैं:—

आदित्यानामहंविष्णुर्ज्योतिषांरविरंशुमान्। मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहंशशी २१॥

पद०—आदित्यानां। अहं। विष्णुः। ज्योतिषां। रविः। अंशुमान्। मरीचिः। मरुतां। अस्मि। नक्षत्राणां। अहं। शशी॥

पदार्थ—(आदित्यानां) अखण्डनीय वस्तुओं में से (अहंविष्णुः) मैं विष्णु हूं (ज्योतिषां) ज्योति वाली वस्तुओं में से (रविः) सूर्य्य हूं (मरुतां) वायुओं में से मैं मरीचि नामा वायु हूं (नक्षत्राणां) नक्षत्रों में से (अहंशशी) मैं चन्द्रमा हूं॥

भाष्य—यद्यपि इस संसाररूपी विभूति का स्वामी होने से यह सब विभूति परमात्मा की हैं तथापि मुख्य २ विभूतियें परमात्मा की इसलिये वर्णन की गई हैं ताकि परमात्मा का ऐश्वर्य्य मुख्य २ रूपों में जिज्ञासुओं को अनुभव करने के लिये सहायक हो, इस अभिप्राय से अखण्डनीय वस्तुओं में से व्यापकरूप विष्णु,ज्योति वाली वस्तुओं में से सूर्य्यरूप, वायुओं में से मरीचि नामा प्रकाश

रूप वायु, नक्षत्रों में से चन्द्रमा परमात्मा का रूप वर्णन किया गया है। इस विभूति अध्याय में इन रूपों का वर्णन किये जाना निर्विशेषवादी वैदिक लोगों के लिये अनिष्टकारक नहीं क्योंकि वैदिकों के मत में तादात्म्यरूप से परमात्मा के यह रूप नहीं, परन्तु उसके निरूपक होनेसे परमात्मा के अनन्तरूप हैं जैसाकिः— "सहस्रशीर्षाः पुरुषः" यजु० ३१। १ इत्यादि मंत्रों में परमात्मा के निरूपक होने से सब प्राणियों के शिरादि अवयव उसी परमात्मा के कथन किये गए हैं और जैसाकि सायणभाष्य में भी लिखा है कि:—"अत्रसर्वप्राणिनां शिरांसितद्देहान्तःपातित्वात्तदीयान्येवेतिसहस्रशीर्षत्वं" अर्थ— सब प्राणियों के शिरादि अवयव उसकी विभूति में होने से उसके कथन किये गए हैं वास्तव में वह निराकार है। अनिष्टापत्ति तो यहां अवतारवादियों को है कि जिनके मतमें परमात्मा के २४ अवतारों को छोड़कर सूर्य्य चन्द्रमादि अनन्त अवतार वर्णन कर दिये। हमारे वैदिक मतमें तो इन रूपों के वर्णन किये जाने से इसलिये भी अनिष्टापत्ति नहीं कि:—"अग्निर्मूर्द्धाचक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौदिशः श्रोत्रेवाग्विवृताश्चवेदाः। वायुः प्राणोहृदयं विश्वमस्य पद्भ्यांपृथिवीह्येषसर्वभूतान्तरात्मा" मुं० २। ४ "द्यांमूर्द्धानंयस्यविप्रा वदन्तिखंवैनाभिं चन्द्रसूर्य्यौ च नेत्रे दिशःश्रोत्रेविद्धि पादौक्षितिश्चसोऽचिन्त्यात्मासर्वभूतप्रणेता" अर्थ— अग्नि जिसका मुख स्थानी है चन्द्रमा और सूर्य्य नेत्र स्थानी हैं पूर्वोत्तरादि दिशाएं श्रोत्रस्थानी हैं, वेदमुख स्थानी है, वायुप्राण

स्थानी है, यह सब विश्व उसका हृदय स्थानी है, पृथिवी पाद स्थानी है, और वह सब भूतों का अंतरात्मा परमात्मा है। और इसी बातको उक्त स्मृति में भी कथन किया है कि द्यौलोकको जिसका मूर्द्धास्थानीय विमलोग वर्णनकरते हैं, आकाशको नाभि स्थानीय वर्णन करते हैं इत्यादि, वह परमात्मा सर्व भूतोंकाप्रेरक है,इसकोरूपकालंकारकहतेहैं। इसी लिये "रूपोपन्यासाच्च" ब्र० सू० १।२।२३ में इसको रूपक कथन कियागया है कि रूपकके अभिप्राय से सूर्य्य चन्द्रमादिकोंको नेत्र स्थानीयकहागया है वास्तव में नहीं। इसीप्रकारयहां भी सूर्य्य चन्द्रमादि विभूतियें परमात्मा के निरूपक होने से उसकारूप कथन की गई हैं वास्तव में नहीं॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणांमनश्चास्मिभूतानामस्मिचेतना।

पद०—वेदानां।सामवेदः।अस्मि। देवानां।अस्मि।वासवः। इन्द्रियाणां। मनः। च। अस्मि। भूतानां। अस्मि। चेतना॥

पदार्थ—(वेदानां सामवेदः अस्मि) वेदों में मैं सामवेद हूं (देवानां अस्मि) देवों में से (वासवः) परमैश्वर्य्य वाला देव मैं हूं और (भूतानां) सब प्राणियों में से सत्यासत्य को विवेचन करने वाली चेतनाशक्तिरूप बुद्धि मैं हूं (इन्द्रियाणां मनः च अस्मि) इन्द्रियों में मन मैं हूं॥

भाष्य—सामवेद इसलिये विभूति कथन किया गया है कि गायन की मधुरता के कारण वह सब वेदों में मुख्य है। अन्यसब विभूतियों की प्रधानता स्पष्ट है॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।

वसूनांपावकश्चास्मिमेरुःशिखरिणामहम्२३

पद०—रुद्राणां। शंकरः। च। अस्मि। वित्तेशः। यक्षरक्षसां। वसूनां। पावकः। च। अस्मि। मेरुः। शिखरिणां। अहं॥

पदार्थ—(रुद्राणां शंकरः च अस्मि) रुद्ररूपधारियोंमें से शान्ति करनेवाला शंकररूप मैं हूं (वित्तेशः यक्षरक्षसां) यक्ष और राक्षसों में से धनका स्वामीमैं हूं (वसूनांपावकः) आठवस्तुओंमें से अग्नि मैं हूं (मेरुः शिखरिणां अहं) रत्नोंवाले पर्वतों में से मेरु मैं हूं॥

भाष्य—यक्ष और राक्षस से तात्पर्य्य मनुष्यों की दोनों श्रेणियों का है (यक्ष) जो पूज्य मनुष्य हैं अर्थात् देव, और (राक्षस) जिनसे रक्षाकी जाती है अर्थात् असुर, ऐसेदोनों प्रकार के मनुष्यों में से जो धन का स्वामी है वह परमेश्वर की विभूतियों में से एक प्रधान विभूति है, इस अभिप्राय से "**यक्षरक्षसांवित्तेशः**" कहा है, और सब विभूतियें स्पष्ट हैं॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः२४

पद०—पुरोधसां। च। मुख्यं। मां। विद्धि। पार्थ। बृहस्पतिं। सेनानीनां। अहं। स्कन्दः। सरसां। अस्मि। सागरः॥

पदार्थ—हे पार्थ (पुरोधसां च मुख्यं मां बृहस्पतिं विद्धि) पुरोहितों में से मुख्य मुझे बृहस्पति जान (सेनानीनां) सेनापतियों में से (अहं) मैं स्कन्द हूं (सरसां) जलाशयों में से (सागरः अस्मि) समुद्र मैं हूं॥

भाष्य—पुरोहितों में से बृहस्पति इसलिये श्रेष्ठ कहागया है कि वाणी के पति का नाम बृहस्पति है अर्थात् वेदवित् पुरुष

पुरोहितों में से श्रेष्ठ होता है। "स्कन्दतेइति, स्कन्दः = जो अत्यन्त गति वाला हो उसको स्कन्द कहते हैं, जिसकी शारीरिक मानसिक, तथा आत्मिक गति सबसे मुख्य हो, वह सेनापति परमात्मा की विभूतियों में से है। और सब स्पष्ट हैं॥

महर्षीणां भृगुरहंगिरामस्म्येकमक्षरम्। यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।२५।

पद०—महर्षीणां। भृगुः। अहं। गिरां। अस्मि। एकं। अक्षरं। यज्ञानां। जपयज्ञः। अस्मि। स्थावराणां। हिमालयः॥

पदार्थ—हे अर्जुन (महर्षिणां,भृगुः अहं) महर्षियों में से भृगु मैं हूं (गिरां) वाणियों में से (एकं अक्षरं अस्मि) एक अक्षर ओंकार मैं हूं (यज्ञानां) यज्ञों में से (जपयज्ञः अस्मि) जपयज्ञ मैं हूं (स्थावराणां हिमालयः) स्थितिवालों में से हिमालय मैं हूं॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः। गन्धर्वाणांचित्ररथःसिद्धानांकपिलोमुनिः २६

पद०—अश्वत्थः। सर्ववृक्षाणां। देवर्षीणां। च। नारदः। गन्धर्वाणां। चित्ररथः। सिद्धानां। कपिलः। मुनिः॥

पदार्थ—(सर्ववृक्षाणां) सब वृक्षों में से (अश्वत्थः) पीपल मैं हूं और (देवर्षिणां) देवों में से जो ऋषि हैं उनमें नारद मैं हूं (गंधर्वाणां) गायन करनेवालों में से (चित्ररथः) चित्ररथवाला गन्धर्व मैं हूं (सिद्धानां) सिद्धों में से जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्यतादि गुणों को प्राप्त हुए हैं उन में से कपिलमुनि मैं हूं॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धिमाममृतोद्भवम्। ऐरावतंगजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।२७

पद०—उच्चैःश्रवसं । अश्वानां । विद्धि । मां । अमृतोद्भवं । ऐरावतं । गजेन्द्राणां । नराणां । च । नराधिपं ॥

पदार्थ—(अश्वानां) घोड़ों में से (उच्चैःश्रवसं) उच्चैश्रवस नामवाला घोड़ा (मां विद्धि) मुझे जान, वह कैसा है (अमृतोद्भवं) अमृत से है उत्पत्ति जिसकी (गजेन्द्राणां) हाथियों में से (ऐरावतं विद्धि) ऐरावत हाथी मुझेजान (च) और (नराणां) नरों में से (नराधिपं) मुझको राजा जान ॥

भाष्य—"उच्चैःश्रवस्" उस घोड़े का नाम है जिसके कान ऊंचे हों, सम्भव है कि उस समय के घोड़ों में से सबसे ऊंचे कानोंवाले घोड़े का नाम उच्चैश्रवस् रखा गया हो "अमृतोद्भव" यह विशेषण उसका इसलिये रखा गया है कि अमृत नाम घृत का है अर्थात् अतिबलिष्ठ होने के कारण उपचार से उसे घृत से उत्पन्न हुआ कहा गया । पौराणिक टीकाकार इसके यह अर्थ करते हैं कि समुद्र मथन करके जो चौदह रत्नलाभ कियेगए थे उनमें से एक यह घोड़ा भी था । यह अर्थ "अमृतोद्भव" शब्द से लाभ नहीं होते, क्योंकि इसके अर्थ तो यही होते हैं कि अमृत से जिसकी उत्पत्ति हो । सो अमृत से उत्पत्ति इनके मत में घोड़े की नहीं है, और यदि समुद्र से उत्पन्न हुए घोड़े का तात्पर्य्य व्यासजीका होता तो अमृतोद्भव यह अप्रयुक्त शब्द क्यों देते, प्रत्युत सागरोद्भव ही देते, इसमें क्या हानि थी ? वस्तुतः बात यह है कि जहां कहीं पौराणिक अर्थका अवकाश मिलता है वहां गीता को असंभव अर्थोंका भण्डार बना देने में यह पौराणिक टीकाकार न्यूनता नहीं करते । आगे हाथियों में से "ऐरावत" है, इसके भी यही अर्थ किये हैं कि ऐरावत उस

हाथी का नाम है जो समुद्र मथन से उत्पन्न हुआ। यह अर्थ इस प्रकार लाभ किया जाता है कि इरा नाम जल का है, वह जल जिसके हों उसका नाम इरावान् है, इरावान् में होनेवाले का नाम ऐरावत है। क्या यह अर्थ समुद्र मथन की असम्भव कहानी से ही निकलता है अन्यथा नहीं निकल सक्ता? जैसे कदली बन वा दण्डिकारण्य यह नाम थोड़े से कदलीस्तम्भ वा सीधे दण्डाकार वृक्षों के होने से उस बन का नाम ऐसा पड़गया, इसी प्रकार (इरावान्) जल के स्थान वाले बन में उत्पन्न होने से उस हाथी का नाम ऐरावत हो। पर हम कहांतक इनके पौराणिक भावों को मिटाएं इनके मत में तो "दण्डिकारण्य" भी दण्डक नाम वाले राजा का देश ही शुक्र के शाप देने से बन बनगया। इसी प्रकार ऐसी असम्भव कथाओं से यह गीता की विभूति की व्याख्या करते हैं॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मिकामधुक्।
प्रजनश्चास्मिकंदर्पःसर्पाणामस्मिवासुकिः॥२८॥

पद०—आयुधानां। अहं। वज्रं। धेनूनां। अस्मि। कामधुक्। प्रजनः। च। अस्मि। कन्दर्पः। सर्पाणां। अस्मि। वासुकिः॥

पदार्थ—हे अर्जुन (आयुधानां अहं वज्रं) शस्त्रों में से मैं वज्र हूं, (धेनूनां अस्मि कामधुक्) धेनुओं में से कामधुक् नामवाली धेनू हूं (च) और (प्रजनः) सन्तति उत्पन्न करनेवाला (कन्दर्पः अस्मि) काम मैं हूं (सर्पाणां) जो निर्विष सांपों की श्रेणी हैं उनमें वासुकि नामवाला सर्प मैं हूं॥

भाष्य—वज्र शब्द के अर्थ यहां लोहसारके हैं और धेनु शब्द के अर्थ नवीन प्रसूता गौ के हैं। वासुकि=उस सांपका नाम है जो

वसु नाम रत्नों के देश में रहता हो अर्थात् निधिपर रहनेवाला ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९

पद०—अनन्तः । च । अस्मि । नागानां । वरुणः । यादसां । अहं । पितॄणां । अर्यमा । च । अस्मि । यमः । संयमतां । अहं ।

पदार्थ—(अनन्तः च अस्मि नागानां) हिमालय के वृक्षों में से अनन्तनामा वृक्ष मैं हूं (वरुणः यादसां अहं) जलचरों में से वरुण नाम जलचर मैं हूं (पितॄणां) रक्षा करनेवालों में से (अर्यमा) न्यायकारी मैं हूं (च) और (संयमतां) संयम करने वालों में से (अहं यमः) मैं पांच प्रकार का यम हूं अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०

प्रह्लादः । च । अस्मि । दैत्यानां । कालः । कलयतां । अहं । मृगाणां । च । मृगेन्द्रः । अहं । वैनतेयः । च । पक्षिणां ।

पदार्थ—(दैत्यानां प्रह्लादः च अस्मि) दैत्यों में से प्रह्लाद मैं हूं (कलयतां) गणना करने वालों में से (कालः) **कालो विद्यते यस्य स कालः** = काल का जानने वाला ज्योतिर्वित् मैं हूं (च) और (मृगाणां) मृगादि पशुओं में से (मृगेन्द्रः) सिंह मैं हूं (च) और (पक्षिणां) पक्षियों में से (वैनतेयः) गरुड़ मैं हूं ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।

झषाणांमकरश्चास्मिस्त्रोतसामस्मिजाह्नवी ३१

पद०—पवनः । पवतां । अस्मि । रामः । शस्त्रभृतां । अहं । झषाणां । मकरः । च । अस्मि । श्रोतसां । अस्मि । जान्हवी ।

पदार्थ—(पवतां) वेगसे चलने वालों में से (पवनः अस्मि) वायु मैं हूं (शस्त्रभृतां) शस्त्रधारियों में से (रामः अस्मि) राम मैं हूं (झषाणां) मत्स्यजाति में से मगरमच्छ मैं हूं (श्रोतसां) श्रोतसे वहनेवाली नदियों में से (जान्हवी) गंगा मैं हूं ।

सर्गाणामादिरंतश्चमध्यंचैवाहमर्जुन । अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

पद०—सर्गाणां । आदिः । अंतः । च । मध्यं । च । एव । अहं । अर्जुन । अध्यात्मविद्या । विद्यानां । वादः । प्रवदतां । अहं ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (सर्गाणां) सब रचनाओं का (आदिः अंतः च मध्यं) आदि अंत और मध्य मैं हूं (विद्यानां) सब विद्याओं में से (अध्यात्मविद्या) ब्रह्मविद्या मैं हूं (प्रवदतां अहं वादः) शास्त्रार्थ करने वालों की तीन कथाओं में से वाद मैं हूं ॥

भाष्य—"**अहमादिश्चमध्यञ्चभूतानामन्तएवच**" इस २०वें श्लोक में जो आदि, मध्य, और अंत कथन कियागया है वहां भूतों का कियागया है और यहां रचनाओंका कियागया है, इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं । वाद=उसको कहते हैं जिसको रागसे रहित पुरुष तत्त्व निर्णय के लिये करते हैं । जलप=उस कथा का नाम है जिसमें दोनों अपने २ पक्षका स्थापन करते हैं और दूसरे के पक्षको उचितानुचित तर्कों से येनकेन प्रकारसे दूषित करने का यत्न करते हैं । वितण्डा=में उक्त दोनों से यह भेद है कि एक अपने पक्षका स्थापन करता है और दूसरा उसका खण्डन

ही करता है, स्वपक्ष मण्डन नहीं करता । इन तीन कथाओं में से वाद कथारूपी विभूति ईश्वर की है ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वःसामासिकस्यच । अहमेवाक्षयः कालोधाताऽहंविश्वतोमुखः ३३

पद०—अक्षराणां । अकारः । अस्मि । द्वन्द्वः । सामासिकस्य । च । अहं । एव । अक्षयः । कालः । धाता । अहं । विश्वतोमुखः ॥

पदार्थ—(अक्षराणां) अक्षरों में से अकार मैं हूं (सामासिकस्य च द्वन्द्वः) सामासिक में द्वन्द्व समास मैं हूं (अक्षयः कालः) क्षय से रहित काल मैं हूं (धाता) सबका धारण कर्त्ता मैं हूं ॥

भाष्य—सब समासों में से द्वन्द्वसमास को विभूति इसलिये कहा है कि उसमें दोनों पदों का अर्थ प्रधान रहता है अर्थात् दोनों की समता रहती है, अन्य समासों में यह समता का भाव नहीं ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्य-ताम् । कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां-स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

पदार्थ—मृत्युः । सर्वहरः । च । अहं । उद्भवः । च । भाविष्यतां । कीर्त्तिः । श्रीः । वाक् । च । नारीणां । स्मृतिः । मेधा । धृतिः । क्षमा ॥

पदार्थ—(मृत्युः सर्वहरः च अहं) सबके हरनेवाली मृत्यु मैं हूं (च) और (भविष्यतां) होनेवालों में से (उद्भवः) उत्कर्ष मैं हूं (नारीणां) स्त्रियों में (कीर्त्तिः) यश (श्रीः) शोभा (वाक्) वाणी (स्मृतिः) स्मरणशक्ति (मेधा) सत्यासत्य को विचार

करने की शक्ति (धृतिः) धारण करने की शक्ति (क्षमा) शान्ति की शक्ति, यह सब मैं हूं ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।३५

पद०—बृहत्साम । तथा । साम्नां । गायत्री । छन्दसां । अहं । मासानां । मार्गशीर्षः । अहं । ऋतूनां । कुसुमाकरः ॥

पदार्थ—(साम्नां) सामवेदके गायनों में से बृहत्साम मैं हूं (छन्दसां) वेदों में गायत्री मैं हूं (मासानां) महीनों में से माघ का महीना मैं हूं (ऋतुनां) ऋतुओं में से (कुसुमाकरः अहं) फूलों की कान वसंत मैं हूं ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।ज-
योऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्

पद०—द्यूतं । छलयतां । अस्मि । तेजः । तेजस्विनां । अहं । जयः । अस्मि । व्यवसायः । अस्मि । सत्त्वं । सत्त्ववतां । अहं ॥

पदार्थ—(छलयतां) छल करने वालों में से (द्यूतं) देवनंद्यूतः= दिव्यनीति मैं हूं अर्थात् राजधर्म में पौलिसी मैं हूं (तेजास्विनां) तेजास्वियों में (तेजः) तेज मैं हूं, विजयी लोगों में (जयः) जीत मैं हूं, परिश्रमी लोगों में (व्यवसायः) उद्यम मैं हूं (सत्त्ववतां) सत्त्वगुण की अधिकता वाले पुरुषों में धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य तारूप सत्त्व मैं हूं ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहंव्यासःकवीनामुशनाकविः ३७

पद०—वृष्णीनां । वासुदेवः । अस्मि । पाण्डवानां । धनंजयः ।

मुनीनां । अपि । अहं । व्यासः । कवीनां । उशनाकविः ॥

पदार्थ—(वृष्णीनां) यादवों में से (वासुदेवः अस्मि) वसुदेव का पुत्र वासुदेव मैं हूं (पाण्डवानां) पाण्डवों में (धनंजयः) अर्जुन मैं हूं (मुनीनां अपि अहं व्यासः) मननशीलों में से व्यास मैं हूं (कवीनां) कवियों में से (उशनाकविः) शुक्रकवि मैं हूं ॥

दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनंचैवास्मिगुह्यानांज्ञानंज्ञानवतामहम् ३८

पद०—दण्डः । दमयतां । अस्मि । नीतिः । अस्मि । जिगीषतां । मौनं । च । एव । अस्मि । गुह्यानां । ज्ञानं । ज्ञानवतां । अहं ॥

पदार्थ—(दमयतां) दुष्टों को दमन करने वालों का (दण्डः) दण्ड मैं हूं (जिगीषतां) जयकी इच्छा करने वालों में नीति मैं हूं (गुह्यानां) गुप्त पदार्थों में से (मौनं) वाणी को वशीभूत करने वाला मैं हूं (ज्ञानवतां) ज्ञानवालों में से ज्ञान मैं हूं ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
नतदस्तिविनायत्स्यान्मयाभूतंचराचरम् ३९

पद०—यत् । च । अपि । सर्वभूतानां । बीजं । तत् । अहं । अर्जुन । न । तत् । अस्ति । विना । यत् । स्यात् । मया । भूतं । चराचरं ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (यत् च अपि सर्व भूतानां) जो कुछ भी सब भूतों का (बीजं) बीज है (चराचरं) स्थावर हो अथवा जंगमहो (तत् अहं) वह मैं हूं (न तत् अस्ति भूतं) वह कोई वस्तु नहीं (यत्) जो (मयाविना) मेरे से बिना (स्यात्) हो ॥

नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।

एषतूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।४०

पद०—न । अंतः । अस्ति । मम । दिव्यानां । विभूतीनां । परंतप । एषः । तु । उद्देशतः । प्रोक्तः । विभूतेः । विस्तरः । मया ॥

पदार्थ—हे परंतप (मम दिव्यानां) मेरी प्रकाशवाली (विभूतीनां) विभूतियों का (न अंतः अस्ति) अंत नही है और (एषः विभूतेः विस्तरः) यह विभूति का विस्तार जो मैंने तुमको कहा है (तु) येतो (उद्देशतः) नाम मात्र से (मयाप्रोक्तः) मैंने कथन किया है ॥

सं०—अब उपसंहार में सब विभूतियों को उपलक्षणरूप से नीचे के दो श्लोकों में ग्रन्थन करते हैं :—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१

पद०—यत् । यत् । विभूतिमत् । सत्त्वं । श्रीमत् । ऊर्जितं । एव । वा । तत् । तत् । एव । अवगच्छ । त्वं । मम । तेजोंऽशसंभवं ॥

पदार्थ—(यत् यत्) जो २ (विभूतिमत्) विभूति वाला (सत्त्वं) प्राणी है (श्रीमत्) लक्ष्मी, शोभा, कान्ति, इन वाला जो पुरुष है (वा) अथवा (ऊर्जितं) बलवाला जो पुरुष है (एव) निश्चय करके (तत् तत् एव) उस २ को (मम तेजोंऽशसंभवं) मेरे तेजका जो अंश है उससे उत्पन्न हुआ (त्वं) तुम (अवगच्छ) जानो ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

पद०—अथवा । बहुना । एतेन । किं । ज्ञातेन । तव । अर्जुन । विष्टभ्य । अहं । इदं । कृत्स्नं । एकांशेन । स्थितः । जगत् ॥

पदार्थ—हे अर्जुन, अथवा (एतेन बहुना ज्ञानेन तव किं) इस बहुत ज्ञान से तुमको क्या (इदं कृत्स्नं जगत्) इस सारे जगत् को (एकांशेन) एक अंशरूप से अर्थात् एकदेश मात्र से (विष्टभ्य) धारण करके (अहंस्थितः) मैं स्थिर हूं।

भाष्य—यह विभूति योग "पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतंदिवि" यजु० ३१। ३ अर्थ–यह सम्पूर्ण संसार उस परमेश्वर की महिमा है अर्थात् उसके महत्व को बोधन करनेवाला है और जिस पुरुष का यह महत्व है वह पुरुष इससे बहुत बड़ा है, सम्पूर्ण संसार के भूत उसपुरुष के एक अंश रूप हैं और वह अमृत पुरुष अनन्त है। इत्यादि वेद मन्त्रों में उस परमात्मा के महत्व को सर्वोपरि कथन किया है, और इस संसार की विभूतियों को उसका बोधक वर्णन किया है, इसी आशय को लेकर इस विभूति अध्याय के अन्तिम श्लोक में यह कहा है कि हे अर्जुन तुमको बहुत कहने से क्या प्रयोजन ? मैं एक अंश से इस सारे ब्रह्माण्डको थांभ रहा हूं। यहां जो यह सन्देह उत्पन्न होता है कि इस सारे ब्रह्माण्ड के थांभने की कृष्ण में ही कोई अपूर्व शक्ति होगी जो कृष्ण ने ऐसा कहा ? इसका उत्तर यह है कि यहां कृष्ण को सर्वका आश्रय होना कथन नहीं किया गया, यदि कृष्ण ही पूर्वोक्त विभूतियों को अपना आत्मा वर्णन करते तो इसी अध्याय के श्लो० ३७ में यह क्यों कहते कि "यादवों में मैं वसुदेव का पुत्र कृष्ण हूं" क्योंकि जब कृष्ण अपने आप सब वस्तुओं को अपनी विभूति वर्णन करते हैं तो उस विभूति में अपने आपको क्यों डालते हैं क्योंकि इसविभूति को तो उक्त मन्त्र में मरणधर्म वाली कथन किया है फिर कृष्ण साक्षात् ईश्वर होकर उस मरणधर्म वालीविभूति में अपने आपको

क्यों गिनते? इससे पाया जाता है कि कृष्ण से भिन्न इन विभूतियों का कोई अन्य स्वामी है जो कान्तिवाली संसार की वस्तुओं को अपनी विभूति कथन करता है जैसाकि उक्त वेदमन्त्र से सिद्ध कियागया कि वह अक्षर परमात्मा है। यदि यह कहाजाय कि वह परमात्मा कृष्णजी का अपना आप है इसलिये कृष्णजी की ही उक्त सब विभूतियें हैं तो विवेचना करनेयोग्य यह है कि क्या वह परमात्मा कृष्णजी का कोई एक अंश है अथवा कृष्णजी उसका एक अंश हैं? परमात्मा को कृष्णजी का अंश इसलिये नहीं कहसक्ते कि ऐसा कथन वेद तथा युक्ति और कृष्णजी के वाक्य से विरुद्ध है, वेद विरुद्ध इसलिये है कि वेद इस सम्पूर्ण संसार को परमात्मा का अंशमात्र कथन करता है अर्थात् एकदेशी बतलाता है, युक्ति से इसलिये विरुद्ध है कि वह असीम परमात्मा जिससे कृष्ण जैसे अनन्त आगमापायि उत्पन्न होकर उसकी विभूति में लय होजाते हैं उसको कृष्ण का अंश कैसे कहसक्ते हैं और कृष्णजी के वचन विरुद्ध इसलिये है कि "ममैवांशोजीवलोकेजीवभूतःसनातनः"– गी० १५। ७ इस में कृष्ण जी जीव को अपना अंश कहते हैं ब्रह्म को नहीं, यदि दूसरे पक्ष में कृष्णको ब्रह्मका अंश मानलिया जाय तब भी अवतार वादियों का कृष्णावतार निस्सार होजाता है और "एतेचांशकलाःपुंसःकृष्णस्तुभगवान्स्वयं" श्री०भा०ग०१।३।२८इत्यादि कृष्णावतार वादियों के वचनविरुद्ध पड़जाते हैं क्योंकि इनवचनों में अन्य अवतारों को परमेश्वर का अंश माना है और कृष्ण को साक्षात् ईश्वर माना है। इसप्रकार विचार करने से इन विभूतियों का स्वामी कृष्ण प्रतीत नहींहोता, किन्तु कोई और है जिसकी कृष्ण भी एक विभूति है, इसीलिये स्वामी

रामानुज ने इस अध्याय के अन्तिमश्लोक का यह भाष्य कियाहै:—
"बहुनैतेनोच्यमानेन ज्ञानेनकिंप्रयोजनमिदंचिदचिदात्मकं कृत्स्नंजगत्कार्य्यावस्थं कारणावस्थं स्थूल सूक्ष्मं च स्वरूपसद्भावे स्थितौ प्रवृत्तिभेदे च यथा मत्संकल्पं नातिवर्त्तेत तथा मम महिम्नः अयुता युतांशेन विष्टभ्याहमवस्थितः" रा० मा० भा०
अर्थ—बहुत कथन कियेगए इस ज्ञान से क्या प्रयोजन है यह सब जड़ चेतनरूप जगत् कार्य्यावस्था को प्राप्त हुआ तथा कारणावस्था को प्राप्त हुआ स्थूल और सूक्ष्म दोनोंरूपों में उस परमात्मा की इच्छा को उल्लङ्घन नहीं करसक्ता, इसलिये "विष्टभ्याहमवस्थितः" यह कहा है कि इस सबको थांभ कर मैं ही स्थिर हो रहा हूं, और यही अर्थ बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण में उपपादन कियागया है, इससे पायागया कि कृष्ण ने परमात्मा के साथ अभेदोपासनारूप योग को उपलब्ध करके ऐसा कहा है जैसाकि गी० १०—१७। १८ में कृष्ण को योगी और उनकी विभूतियोग का प्रश्न करके अर्जुन ने इन विभूतियों को श्रवण किया है॥

ननु, मानाकि कृष्ण ने योगज सामर्थ्य से ही इन विभूतियों को अपनी कहा पर मुख्य यह परमात्मा ही की विभूतियें हैं, ऐसा माननेपर भी परमात्मा को यह क्या शोभा देता है कि कहीं वृक्षों में से पीपल मैं हूं, कहीं दमन करने वालों में से दण्ड मैं हूं, कहीं छलों में से पौलिसी मैं हूं,इत्यादि यह क्या विभूतियें हैं?

उत्तर—इस विभूति अध्यायको यदि कोई चित्तवृत्ति निरोध

से और वैदिक मति से पढ़े तो हमारे विचार में यह संदेह उत्पन्न नहीं होता कि यह विभूतियें तुच्छ हैं, क्योंकि महर्षिव्यास ने इस चराचर संसार की चमत्कार वाली वस्तुओं को परमात्मा की विभूति रूप से वर्णन किया है। उक्त विभूतियों से विभूषित परमात्मा के इस कार्य्य जगत् को जब तक कोई इस दिव्य दृष्टि से अवलोकन नहीं करता तबतक उसके लिये कल्याणकी आशा दुराशा है, जिसके विचार में चक्रवर्त्तियों का दण्ड परमात्मा की विभूति नहीं, जिसके विचार में कृष्णजी जैसे नीतिनिपुण परमात्मा की विभूति नहीं, जिसके विचार में द्वंद्व समासके समान समताका भाव परमात्मा की विभूति नहीं, जिसके विचार में कपिलादि मुनियों की मननरूप सिद्धि ईश्वर की विभूति नहीं, वह इन अनन्त विभूतियों से विभूषित संसार में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इस फल चतुष्टय की सार को नहीं जानता। इस विभूतिअध्याय में तो व्यासजी ने दिक्प्रदर्शन किया है अर्थात् नाममात्र से परमात्मा की सामर्थ्यों को वर्णन कियाहै, पर जिन लोगों ने वेद भगवान्के रुद्राध्याय का पाठ किया है उनको ज्ञात होगा कि रुद्ररूपधारी वीरों की कैसी २ विभूतियें परमात्मा ने वर्णन की हैं, बहुत क्या जिन लोगों ने कभी सन्ध्या को सार्थक पढ़ा है वह इस विभूति अध्याय के मर्म को जान सकते हैं कि उक्त विभूतियें परमात्मा के निरूपण में कहांतक अलङ्कार का काम देती हैं॥

इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये,
विभूतियोगोनाम
दशमोऽध्यायः॥

अथ

॥ एकादशोऽध्यायः ॥

सङ्गति—पूर्वाध्याय में ईश्वर की सब विभूतियों को कृष्णजी ने अपने योगद्वारा वर्णन किया । अब इस अध्याय में अर्जुन कृष्णजी की परमअनुग्रह की प्रशंसा करता हुआ विश्वरूप दर्शन की इच्छा करता है । विश्वरूप से यहां तात्पर्य्य यह है कि जिस विश्व में से कतिपय विभूतियें कृष्णजी ने अर्जुन के प्रति कथन कीं, उस विश्वरूप के दर्शन को अर्जुन योगज सामर्थ्य से देखने की इच्छा करता है और वह योगज सामर्थ्य यह है किः-

"परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्" यो० १ । ३ । १६ अर्थ—धारणा, ध्यान, समाधि, इन तीनों का जो संयम है उससे भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान का ज्ञान हो जाता है, इस योगज सामर्थ्य से अर्जुन ने विश्वरूप दर्शन की इच्छा के लिये कृष्णजी को यह कहा किः—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तंवचस्तेनमोहोऽयंविगतोमम ॥ १ ॥

पद०—मदनुग्रहाय । परमं । गुह्यं । अध्यात्मसंज्ञितं । यत् । त्वया । उक्तं । वचः । तेन । मोहः । अयं । विगतः । मम ॥

पदार्थ—(मदनुग्रहाय) मेरे अनुग्रह के लिये (यत्वचः) जो वचन (त्वया) तुमने (उक्तं) कहा (तेन) उस वचन से (मोहः अयं विगतः मम) मेरा सब मोह निवृत्त होगया, वह आपकावचन कैसा है (गुह्यं) जो गुप्त है (अध्यात्मसंज्ञितं) और जो ब्रह्मविद्या

की संज्ञावाला है अर्थात् ब्रह्मविद्या विषयक है तथा (परमं) सब से उत्तम है ॥

भाष्य—वह वचन यह है कि जिसने "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" गी० २ । ११ से लेकर "नैनंछिन्दन्तिशस्त्राणि" गी० २ । २३ इत्यादि श्लोकों के द्वारा आत्मा की नित्यता वर्णन करके सम्बन्धियों की मृत्यु विषयक जो अर्जुन का मोह था वह दूर किया ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तःकमलपत्राक्षमाहात्म्यमपिचाव्ययम्।२

पद०—भवाप्ययौ । हि । भूतानां । श्रुतौ । विस्तरशः । मया । त्वत्तः । कमलपत्राक्ष । माहात्म्यं । अपि । च । अव्ययं ॥

पदार्थ—(कमलपत्राक्ष) हे कमल के पत्ते के सदृश नेत्रों वाले अर्थात् विशाल नेत्रों वाले कृष्ण (त्वत्तः) तुम्हारे से (भूतानां भवाप्ययौ) प्राणियों का भव = उत्पत्ति और अप्यय = नाश यह दोनों (विस्तरशः) विस्तार पूर्वक (मया) मैंने (श्रुतौ) सुने (अपि च) और (अव्ययं) विनाशरहित (माहात्म्यं) परमात्माका महत्व भी तुमसे सुना ॥

भाष्य—सातवें अध्याय में जो भूतों की उत्पत्ति और प्रलय कथन कियागया है वह भी सुना और "यः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति" गी० ८ । २० इत्यादिकों में अव्यय परमात्मा का महत्वभी आपसे सुना और "एतांविभूतिंयोगं च ममयोवेत्तितत्त्वतः" गी० १० । ७ "अहंसर्वस्यप्रभवोमत्तः सर्वं प्रवर्तते" गी० १० । ८ इत्यादिकों में जो

आपने अपनी विभूतियोग द्वारा परमात्मभावसे अपने आपको कथन किया है वह महत्व भी तुमसे सुना ॥

एवमेतद्यथात्थत्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

पद०—एवं। एतत्। यथा। आत्थ। त्वं। आत्मानं। परमेश्वर। द्रष्टुं। इच्छामि। ते। रूपं। ऐश्वरं। पुरुषोत्तम ॥

पदार्थ—हे परमेश्वर (एवं) उक्तप्रकार (यथा) जैसे (आत्मानं त्वं आत्थ) तुम अपने आपको कहते हो (ऐश्वरं) ईश्वर में होने वाला (ते एतत् रूपं) वह तुम्हारारूप हे पुरुषोत्तम (अहं द्रष्टुं इच्छामि) मैं देखने की इच्छा करता हूं ॥

भाष्य—इस श्लोक में अर्जुनने उस रूपके देखने की इच्छा प्रकट की है जिस रूपको योगेश्वर कृष्णने आत्मत्वोपासना के अभिप्रायसे विभूतियोग में कथन किया है, कृष्ण का वह रूप अपना नहीं किन्तु "ऐश्वरं" इस कथन से स्पष्ट पायाजाता है कि वह रूप ईश्वर में होने वाला विश्वरूप है अर्थात् विराटरूप है, परमेश्वर और पुरुषोत्तम यह दो सम्बोधन इस अभिप्राय से दिए गए हैं कि परमेश्वर कहने से कृष्ण के परमेश्वर होने का अज्ञानियों को सन्देह उत्पन्न होता था, इसलिये पुरुषोत्तम कहा, पुरुषोत्तम के अर्थ यह हैं कि जो सब पुरुषों में से उत्तम हो ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४

पद०—मन्यसे। यदि। तत्। शक्यं। मया। द्रष्टुं। इति। प्रभो। योगेश्वर। ततः। मे। त्वं। दर्शय। आत्मानयं। अव्ययं ॥

पदार्थ—(योगेश्वर) योगियों में से बड़े योगी हे कृष्ण, यदि (तत् मया द्रष्टुं शक्यं) वह रूप मेरे से देखा जा सकता है (इति मन्यसे) ऐसा तुम मानते हो (ततः) तो (प्रभो) हे स्वामिन् (मे) मुझको (त्वं) तुम (अव्ययं आत्मानं) उस अव्ययआत्मा को (दर्शय) दिखलाओ ॥

भाष्य—इस श्लोकका आशय यह है कि यदि मैं उसरूपको देख सकता हूं तो हे योगेश्वर कृष्ण मुझे भी उस आत्मा अव्यय का साक्षात्कार कराओ, और वह साक्षात्कार धारणा, ध्यान, समाधि, के संयम से होता है अर्थात् योगज सामर्थ्य से होता है, इसलिये अर्जुन ने अपने में वह सामर्थ्य न पातेहुए डरते २ ही उस रूपके दर्शन की इच्छा की ॥

सं०—अब कृष्ण जी वह विश्वरूप अर्जुन को दिखलाते हैं जो उन्होंने योगज सामर्थ्य से देखा :—

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानिनानावर्णाकृतीनिच।

पद०—पश्य । मे । पार्थ । रूपाणि । शतशः । अथ । सहस्रशः। नानाविधानि । दिव्यानि । नानावर्णाकृतीनि । च ॥

पदार्थ—हे पार्थ (पश्य मे रूपाणि) मेरे रूपों को देख (शतशः) जो सैकड़ों हैं (अथ सहस्रशः) अथवा हज़ारों हैं (नानाविधानि) जो नाना प्रकार के हैं (दिव्यानि) प्रकाशरूप हैं (नानावर्णाकृतीनिच) जिनके नानाप्रकार के रंग और आकृतियें हैं ॥

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६

पद०—पश्य । आदित्यान् । वसून् । रुद्रान् । अश्विनौ । मरुतः। तथा । बहूनि । अदृष्टपूर्वाणि । पश्य । आश्चर्याणि । भारत ॥

पदार्थ—(पश्य आदित्यान्) सूर्य्यों को देख (वसून्) वसुओं को, रुद्रों को, और (अश्विनौ) नक्षत्रों को (मरुतः) वायुओं को, तथा (बहूनि आश्चर्याणि) बहुत से आश्चर्यों को (अदृष्ट पूर्वाणि) जो आगे कभी नहीं देखे, हेभारत ऐसों को तू (पश्य) देख ॥

सं०—अब कृष्ण अपने परमात्मारूपी देह में इस जगत् को दिखलाते हैं :—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

पद०— इह । एकस्थं । जगत् । कृत्स्नं । पश्य । अद्य । सचराचरं । मम । देहे । गुडाकेश । यत् । च । अन्यत् । द्रष्टुं । इच्छसि ॥

पदार्थ—(इह) इस परमात्मारूपी (मम देहे) मेरे देह में (एकस्थं) एक देशमें स्थिर (कृत्स्नं) सम्पूर्ण जगत् को (अद्य पश्य) आजतू देख (गुडाकेश) हे निद्राको जीतनेवाले अर्जुन, वह जगत् कैसा है जो (सचराचरं) चराचर के सहित है (यत् च अन्यत् द्रष्टुं इच्छसि) और जो देखना चाहता है वह भी देख ॥

भाष्य—और जो देखना चाहता है वह भी देख, इसका तात्पर्य्य यह है कि जब तुमको योगज सामर्थ्य प्राप्त होजायगा तब उस धारणा, ध्यान, समाधि के एकत्र संयम से अतीत और अनागत पदार्थों का भी ज्ञान हो जायगा फिर तुम केवल इस वर्त्तमान के चराचर जगत् को ही नहीं किन्तु भूत भविष्यत् जगत् को भी मेरे में देखोगे । इस अभिप्राय से कहा है "यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि" ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दि-
व्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।८

पद०—न । तु । मां । शक्यसे । द्रष्टुं । अनेन । एव । स्वच-
क्षुषा । दिव्यं । ददामि । ते । चक्षुः । पश्य । मे । योगं । ऐश्वरं ॥

पदार्थ—(मां) मुझको (अनेन) इस (स्वचक्षुषा) अपने
चक्षु से (एव) निश्चय करके (न द्रष्टुं शक्यसे) तुम नहीं देख
सक्ते (दिव्यं ददामि ते चक्षुः) मैं तुमको दिव्य चक्षु देता हूं,
जिनसे (मे) मेरे (ऐश्वरं) ईश्वर विषयक (योगं) योग को
(पश्य) देख ।

भाष्य—इस श्लोक में इस बात को स्पष्ट कर दिया कि
तुम्हारे प्राकृत नेत्र अर्थात् चर्मचक्षु उस दिव्यरूप को नहीं देख
सक्ते, उस दिव्यरूप को दिव्यचक्षु ही देख सक्ते हैं । इस से यह
सिद्ध हुआ कि जिस योग की सामर्थ्य से कृष्णजी ने उस विश्वरूप
को देखा था उसी योग की सामर्थ्य से वह विश्वरूप अर्जुन को
दिखलाया है अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि, के संयम से कृष्ण
ने इस रूप को देखा था और इसी सामर्थ्य से अर्जुन को दिख
लाया । इस धारणा, ध्यान, समाधि, के एकत्र का नाम ही
दिव्य चक्षु हैं ।

सं०—जो रूप कृष्ण ने अर्जुन को दिखलाया अब उस रूप
का वर्णन संजय निम्नलिखित छ श्लोकों द्वारा धृतराष्ट्र को
सुनाते हैं:—

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९

पद०—एवं । उक्त्वा । ततः । राजन् । महायोगेश्वरः । हरिः । दर्शयामास । पार्थाय । परमं । रूपं । ऐश्वरं ।

पदार्थ—हे राजन् (एवं उक्त्वा) यह कहकर (ततः) इसके अनन्तर (महायोगेश्वरः हरिः) महायोगेश्वर जो कृष्ण है उसने (परमं ऐश्वररूपं) परम ईश्वर विषयक रूप को (पार्थाय) अर्जुन को (दर्शयामास) दिखलाया ॥

सं०—अब उस रूपका वर्णन करते हैंः—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् । अनेक दिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

पद०—अनेकवक्त्रनयनं । अनेकाद्भुतदर्शनं । अनेकदिव्याभरणं । दिव्यानेकोद्यतायुधं ।

पदार्थ—(अनेकवक्त्रनयनं) अनेक हैं मुख और नेत्र जिसमें (अनेकाद्भुतदर्शनं) अनेक हैं अद्भुतदर्शन जिसमें (अनेकदिव्याभरणं) अनेक सुन्दर आभूषण हैं जिसमें और (दिव्यानेकोद्यतायुधं) जिसमें प्रकाश वाले अनेक शस्त्र उठाए हुए हैं। फिर वह रूप कैसा हैः—

दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् । सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

पद०—दिव्यमाल्यांबरधरं । दिव्यगन्धानुलेपनं । सर्वाश्चर्यमयं । देवं । अनन्तं । विश्वतोमुखं ।

पदार्थ—(दिव्यमाल्यांबरधरं) जिसरूप में दिव्य मालाएं और दिव्य वस्त्रों का धारण है (दिव्यगन्धानुलेपनं) जिस में दिव्यगन्धवाली वस्तुओं का लेपन है (सर्वाश्चर्यमयं) जो सर्व

प्रकार से आश्चर्यमय है (देवं) प्रकाश वाला है (अनन्त) अनन्त है (विश्वतोमुखं) सर्वत्र मुखादि अवयवों का सामर्थ्य है जिसमें, ऐसा रूप कृष्णजी ने अर्जुन को दिखलाया। फिर वह रूप कैसा है:—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाःसदृशीसास्याद्भासस्तस्य महात्मनः।१२

पद०—दिवि। सूर्यसहस्रस्य। भवेत्। युगपत्। उत्थिता। यदि। भाः। सदृशी। सा। स्यात्। भासः। तस्य। महात्मनः।

पदार्थ—(सूर्यसहस्रस्य) हज़ार सूर्यों की (भाः) प्रभा (यदि युगपत् उत्थिता भवेत्) यदि एक ही समय में उदय हो तो (तस्य महात्मनः भासः) उस परमात्मा के प्रकाश के (सा) वह प्रभा (सदृशीस्यात्) बराबर हो।

भाष्य—उस स्वरूप की महिमा इस प्रकार कथन करते हैं कि जिस प्रकार असंख्यात सूर्यों के उदय होने से प्रभा होती है इस प्रकार उसकी प्रभा थी, ठीक है लौकिक मनुष्यों को इस ब्रह्माण्ड में एक ही सूर्य्यदृष्टिगत होता है पर जिनका परिणाम त्रय के संयमद्वारा उस परमात्मा से योग है उनकी दृष्टि में सहस्रों सूर्यों की प्रभा इस विराट्रूप में उदय हो रही हैं।

सं०—अर्जुन ने जिस प्रकार परमात्मा के शरीर में इस रूप को देखा वह प्रकार वर्णन करते हैं:—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा। अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३

पद०—तत्र। एकस्थं। जगत्। कृत्स्नं। प्रविभक्तं। अनेक-

धा । अपश्यत् । देवदेवस्य । शरीरे । पाण्डवः । तदा ।

पदार्थ—(तत्र) उस परमात्मा के स्वरूप के (एकस्थं कृत्स्नं जगत्) एक देश में स्थित सम्पूर्ण जगत् को जो (अनेकधाप्रविभक्तं) अनेक प्रकार से भिन्न २ है, ऐसे जगत् को (पाण्डवः) अर्जुन ने (तदा) उस समय (देवदेवस्य शरीरे) देवोंका देव जो परमात्मा है उसके पृथिवी आदि शरीरों में (अपश्यत्) देखा ।

भाष्य—ननु, सातवें श्लोक में कृष्ण के परमात्मारूपी देह में इस विश्वरूप का कथन कियागया है, और यहां प्रकृतिरूपी देह में विश्वरूप का कथन कियागया है, यह परस्पर विरोध क्यों ? उत्तर—मम शब्द के अर्थ यहां परमात्मा की अभेदोपासना के अभिप्राय से परमात्मा के हैं । और सातवें श्लोक में सर्वव्यापकताके भाव से सबको ढांपलेनेवाला होने से परमात्मा को देह कथन कियागया है, और यहां देवों के देव परमात्मा को कृष्ण जी ने तद्गुण प्राप्ति द्वारा आत्मा मानकर उस अपने आत्मभूत परमात्मा के प्रकृतिरूप शरीर में विश्वरूप का कथन किया है, इसलिये कहीं २ अधिकरण के भावसे परमात्मा में और कहीं तादात्म्यभाव से परमात्मा के प्रकृतिरूप शरीर में विश्वरूप वर्णन कियागया है, पर वास्तव में यह रूप प्रकृति का ही है, इस प्रकार इसमें कोई दोष नहीं ॥

यह वही वैदिक रूपहै जिसको "सहस्रशीर्षादि" मंत्रों में वर्णन कियागया है, यह वही वैदिकरूपहैजिसको "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतंदिवि" यजु० ३१ । ३ इस मंत्रमें वर्णन कियागया है यह वही वैदिक रूप है जिसको "विश्वतश्चक्षुरुतविश्वतोमुखः" यजु० १० । १९ में

वर्णन कियागया है, यह वही वैदिकरूप है जिसको "**तद्विष्णोः परमंपदंसदापश्यन्ति सूरयः**" अथर्व० ७। ३। ६ में वर्णन किया गया है। कहां तक वर्णन करें इस रूपको वेदके सहस्रों मंत्रों ने वर्णन किया है, तबभी कृष्णको ईश्वर बनाने वाले लोग उक्त मंत्रार्थ को भुलाकर इस विश्वरूपको कृष्ण का ही रूप वर्णन करते हैं, यदि कृष्णके रूप से ही तात्पर्य्य होता तो उक्त श्लोक में "**पादोऽस्यविश्वाभूतानि**" इस वेद मंत्र से यह अर्थ क्यों लियाजाता कि उसके एक देशमें यह सारा जगत् स्थिर है, और यदि इन श्लोकों में कृष्ण ही अपने आपको ईश्वर मानकर अपना रूप दर्शाते तो कृष्ण को इस अध्याय में योगेश्वर क्यों कहाजाता ? हमारे विचार में यह वही विराट्रूप है जिसका वर्णन यजुर्वेद के ३१वें अध्यायमें है, यह वही विराट्रूप है जिसका वर्णन सामवेदके छन्दार्चिक अध्याय ६ में है। कृष्णजीने अपने योगज सामर्थ्य से उसी रूप को अर्जुन को दिखलाया है और अर्जुन ने उस रूपको देखकर अर्थवाद से योगेश्वर कृष्ण की स्तुति की है जिससे लोग भूल में पड़जाते हैं, अथवा यों कहिये कि योगी कृष्णकी अणिमादि सिद्धियों में से महिमा सिद्धिको व्यासजीने अर्थवाद से बढ़ादिया है। और इस प्रकार वर्णन करने का यहभी तात्पर्य्य है कि उस योगेश्वर कृष्णने अपने योगज महत्व को दिखलाकर अर्जुन को अपना अनुयायी किया था, उस महत्व को अर्थवाद से वर्णन करना यहां इसलिये परमप्रयोजन था कि इस प्रकार विराट्रूप से ईश्वरीय भावों का वर्णन अलङ्काररूप से अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं पायाजाता जिसको देखकर नास्तिक से नास्तिक के हृदय में भी असन्त भय उत्पन्न हो। इस सम्पूर्ण अर्थको हम इस १४ वें श्लोक से लेकर दर्शाते हैं :—

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥१४॥

पद०—ततः । सः । विस्मयाविष्टः । हृष्टरोमा । धनंजयः । प्रणम्य । शिरसा । देवं । कृतांजलिः । अभाषत ॥

पदार्थ—(ततः) उस विश्वरूप को देखने के अनन्तर (सः) वह अर्जुन (विस्मयाविष्टः) आश्चर्य्य वाला हुआ २ (हृष्टरोमा) हर्ष की प्राप्ति से खड़े होगए हैं रोमांच जिसके, ऐसा अर्जुन (शिरसा) शिरसे (देवं) उस देवको अर्थात् कृष्णको (प्रणम्य) प्रणाम करके (कृताजलिः) हाथ जोड़कर (अभाषत) बोला ॥

अर्जुनउवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

पद०—पश्यामि । देवान् । तव । देव । देहे । सर्वान् । तथा । भूतविशेषसंघान् । ब्रह्माणं । ईशं । कमलासनस्थं । ऋषीन् । च । सर्वान् । उरगान् । च । दिव्यान् ॥

पदार्थ—हे देव (तव देहे) तुम्हारी इस विराट्रूप देहमें (देवान् पश्यामि) मैं सूर्य्यादि देवों को देखता हूं, तथा इसी प्रकार (भूतविशेषसंघान्) पृथिवी आदि भूत विशेषों के समुदाय जो नक्षत्र हैं (सर्वान्) उन सब को भी देखता हूं और (ब्रह्माणं ईशं कमलासनस्थं, ईश्वर ब्रह्म जो कमला नाम प्रकृतिरूपी आसन

पर स्थिर है उसको मैं देखता हूं, और (उरगान् च दिव्यान्) पेट के बल चलने वाले दिव्य सांपों को देखता हूं ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ।
नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

पद०—अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं । पश्यामि । त्वां । सर्वतः । अनंतरूपं । न । अंतं । न । मध्यं । न । पुनः । तव । आदिं । पश्यामि । विश्वेश्वर । विश्वरूप ॥

पदार्थ—फिर तुम्हारा रूप कैसा है (अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं) अनेक हैं बाहु, उदर, मुख, और नेत्र, जिसमें (पश्यामि त्वां सर्वतः अनन्तरूपं) सब ओरसे अनन्तरूप जो तु है उसको मैं देखता हूं (न अंतं न मध्यं) न तुम्हारा अंत है न मध्य है (न पुनः तव आदिं) और न तुम्हारा आदि है, हे विश्वेश्वर, हे विश्वरूप, मैं तुमको देखता हूं ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

पद०—किरीटिनं । गदिनं । चक्रिणं । च । तेजोराशिं । सर्वतः । दीप्तिमंतं । पश्यामि । त्वां । दुर्निरीक्ष्यं । समंतात् । दीप्तानलार्कद्युतिं । अप्रमेयं ॥

पदार्थ—(सर्वतः दीप्तिमंतं त्वां पश्यामि) सब ओर से प्रकाश

वाले तुमको मैं देखता हूं, तुम कैसे हो जो तेजके प्रभाव से (समंतात् दुर्निरीक्षं) सब ओरसे कठिनता से देखे जा सकते हो, फिर तुम कैसे हो (दीप्तानलार्कद्युतिं) जलती हुई अग्नि और सूर्य्य के समान है प्रकाश जिसका, फिर कैसे हो (अप्रमेयं) योगेश्वर होने से प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो, तुम (तेजोराशिं) तेज का समूह हो और (चक्रिणं) चक्रवाले हो (गदिनं) गदावाले हो (किरीटिनं) किरीटवाले हो ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

पद०—त्वं । अक्षरं । परमं । वेदितव्यं । त्वं । अस्य । विश्वस्य । परं । निधानं । त्वं । अव्ययः । शाश्वतधर्मगोप्ता । सनातनः । त्वं । पुरुषः । मतः । मे ॥

पदार्थ—(त्वं परमं वेदितव्यं अक्षरं) परम जानने योग्य जो अक्षर है वह तुम हो (अस्य विश्वस्य) इस संसारका (परंनिधानं) परमआश्रय (त्वं) तुमहो (त्वंअव्ययः) तुम अव्यय हो (शाश्वत धर्मगोप्ता) तुम अनादिकालसे प्रवृत्त धर्म के गोप्तानाम रक्षक हो (सनातनः त्वं पुरुषं) तुम सनातन पुरुष (मे मतः) मुझको सम्मतहो॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्य्यनेत्रम् ॥
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं-
स्वतेजसा विश्वमिदं तपंतम् ॥ १९ ॥

पद०—अनादिमध्यान्तं । अनन्तवीर्यं । अनन्तबाहुं । शशिसूर्य्यनेत्रं । पश्यामि । त्वां । दीप्तहुताशवक्त्रं । स्वतेजसा । विश्वं । इदं । तपंतं ॥

पदार्थ—(अनादिमध्यान्तं) तुम आदि, मध्य और अन्त से रहित हो (अनन्तवीर्यं) अनन्तवीर्य वाले हो (अनन्तबाहुं) अनंत भुजा वाले हो (शशिसूर्य्यनेत्रं) चन्द्र और सूर्य्य नेत्र वाले हो, फिर तुम कैसे हो (दीप्तहुताशवक्त्रं) जलती हुई अग्नि के समान मुख वाले हो, और (स्वतेजसा) अपने तेज से (इदं विश्वं) इस विश्वको (तपंतं) तपा रहे हो (त्वां) तुमको (पश्यामि) मैं देखता हूं ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ॥
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

पद०—द्यावापृथिव्योः । इदं । अन्तरं । हि । व्याप्तं । त्वया । एकेन । दिशः । च । सर्वाः । दृष्ट्वा । अद्भुतं । रूपं । उग्रं । तव । इदं । लोकत्रयं । प्रव्यथितं । महात्मन् ।

पदार्थ—हे महात्मन् (द्यावापृथिव्योः) द्यौ और पृथिवी का (इदं अन्तरं) यह जो मध्य है (हि) निश्चय करके (एकेन-त्वया व्याप्तं) एक तुम से ही व्याप्त हो रहा है (च) और (दिशः च सर्वाः) पूर्वोत्तरादि सब दिशाएं एक तुम्हीं से भररही हैं (तव इदं अद्भुतं रूपं) तुम्हारे इस अद्भुत और उग्ररूप को (दृष्ट्वा) देखकर (लोकत्रयं प्रव्यथितं) तीनों लोक व्यथा को प्राप्त होरहे हैं॥

भाष्य—इस श्लोक में उस विश्वरूप का वर्णन है जिससे प्रकाश लोक और पृथिवी लोक के बीचका भाग सब पूर्ण हो रहा है, और जिससे पूर्वोत्तरादि सब दिशाएं भर रहीं हैं, अधिक क्या उस तेजस्वीरूप से तीनों लोक डर रहे हैं, यह रूप कृष्ण का कदापि नहीं होसक्ता। यदि यह रूप कृष्ण का होता तो ऐसे भयानक रूप से जब तीनों लोक डरते थे तो दुर्योधनादिकों ने डरकर क्षमा क्यों न मांगी ? यदि कहो कि तीनों लोकों का डरना उपचार से कहागया है जिसका मुख्य तात्पर्य्य यह है कि उस समय कृष्ण का भतानकरूप था तो जब "लोकत्रयंप्रव्य थितं" यह उपचार है तो पृथिवी से लेकर प्रकाश लोक तक सब स्थानों में कृष्ण ही फैलगया था यह उपचार क्यों नहीं ? इस प्रकार जब यह उपचार है अर्थात् परमेश्वर का भयानकरूप वर्णन करने के लिये एक अलङ्कार है तो फिर "महद्भयंवज्र मुद्यतंयएतद्विदूरमृतास्तेभवन्ति" कठ० २।६।२ और "भयादस्याग्निस्तपतिभयात्तपतिसूर्य्यः" कठ० २। ६।३ अर्थ—उठाए हुए वज्र के समान परमात्मा भय का कारण है। उसी के भय से अग्नि तपती है और उसीके भय से सूर्य्य तपता है। इत्यादि उपनिषदों में वर्णन किये हुए परमात्मा का ही यह भयानकरूप क्यों न लियाजाय, क्योंकि गीता उपनिषदों का सार है। अवतार वादियों के मत में भी यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं, फिर हम पूछते हैं कि यह भयानकरूप गीता के कर्त्ता ने कहां से लिया ? यदि उपनिषदों से लिया तो पूर्वोक्त प्रतीकों में वर्णन किया हुआ यह परमात्मा का रूप है॥

ननु, उपनिषदों में इस विश्वरूप का विशेष वर्णन नहीं, इसका विशेष वर्णन श्रीमद्भागवत में है जिसमें मिट्टी खाते समय यशोदा को

मुख दिखलाते हुए कृष्ण ने अपने मुख में ही त्रिलोकी दिखला दी थी, फिर कैसे कहाजाता है कि यह कृष्ण का रूप नहीं ?

उत्तर—मिट्टी खाते हुए त्रिलोकी को मुख में दिखला देना कृष्ण की सामर्थ्य में कहां तक सम्भव था इसको तो हम पीछे विवेचन करेंगे, अब इस बातका विवेचन करते हैं कि भागवत का वर्णन किया हुआ विश्वरूप उलटा गीता में कैसे चलागया ? यह स्पष्ट है कि गीता भागवत से प्रथम है, जिस समय गीता का निर्माण हुआ है उस समय भागवत पुराण का जन्म नथा, यदि होता तो जिस प्रकार "**ब्रह्मसूत्रपदैश्चैवहेतुमद्भिर्विनिश्चितैः**" गी० १३।४ में व्यास रचित ब्रह्मसूत्रों का नाम है इस प्रकार व्यास रचित भागवत का नाम क्यों न लिया ? यह बात तो सर्व सम्मत है कि भागवत व्याससूत्रों से बहुत पीछे बना है। और व्याससूत्रों के भाष्य में स्वामी शं० चा० और रामानुज आदि आचार्य्य गीता के विषयवाक्य रखते हैं, इस रीति से उनके मन्तव्यानुकूल गीता व्याससूत्रों से भी प्रथम पाई जाती है, फिर इस आधुनिक पुराण के विश्वरूप की कथा गीता में कैसे ? यह वही परमात्मा का विश्वरूप है जिसके भयसे सूर्य्य चन्द्रमादिकों का तपना कथन किया है। अद्वैतवादीलोग इस रूप से यह लाभ उठाते हैं कि जब सूर्य्यचन्द्रमादि नेत्रों वाला सब परमेश्वर ही वर्णन किया गया है तो "**ब्रह्मैवेदंसर्वं**" मुं० २।२।११ "**आत्मैवेदंसर्वं**" छा० ७।२५।२ "**इदंसर्वंयदयमात्मा**" बृ० २।४।६ "**नान्यतोस्ति द्रष्टा**" बृ० ३।७।२३ "**नान्यदतोऽस्तिद्रष्टृ**" बृ० ३।८।११ "**सदेवसोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्**"

छा० ६ । २ । १ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में वर्णित सब जड़ चेतन वस्तु ब्रह्म क्यों नहीं ? इन सबका अर्थ हम वेदान्तार्य्य-भाष्य ब्रह्मसूत्र १ । ४ । २२ में कर आए हैं जो देखना चाहें वहां देखलें, उक्त उपनिषद् वाक्यों के मिथ्यार्थों से मायावादियों का मनोरथ यहां कदापि सिद्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि यह रूप यहां कृष्ण ने युद्ध के भावी परिणाम दिखलाने के लिये दिखलाया है नकि जीव ब्रह्मकी एकता के लिये ॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्तित्वांस्तुतिभिःपुष्कलाभिः। २१

पद०—अमी । हि । त्वां । सुरसंघाः । विशन्ति । केचित् । भीताः । प्रांजलयः । गृणन्ति । स्वस्ति । इति । उक्त्वा । महर्षि-सिद्धसंघाः । स्तुवन्ति । त्वां । स्तुतिभिः । पुष्कलाभिः ॥

पदार्थ—(अमी) ये (हि) निश्चय करके (सुरसंघाः) देवताओं के समुदाय (त्वां विशन्ति) तुम में प्रवेश करते हैं और (केचित्) कई एक (भीताः) डरे हुए पुरुष (प्रांजलयः) हाथ जोड़कर (गृणन्ति) तुम्हारी स्तुति करते हैं (महर्षिसिद्धसंघाः) महर्षि सिद्ध लोगों के समुदाय (स्वस्ति इति उक्त्वा) इस संसारका कल्याण हो यह कहकर (पुष्कलाभिः स्तुतिभिः) बहुत स्तुतियों से (त्वां स्तुवन्ति) तुम्हारी स्तुति करते हैं ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।

गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा-
वीक्षंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

पद०—रुद्रादित्याः । वसवः । ये । च । साध्याः । विश्वे । अश्विनौ । मरुतः । च । ऊष्मपाः । च । गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः । वीक्षन्ते । त्वां । विस्मिताः । च । एव । सर्वे ॥

पदार्थ—रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनौ, मरुत, ऊष्मपा, इत्यादि गुणों से उक्त नामों वाले मनुष्य (च) और (गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः) गंधर्व = गानेवाले, यक्ष = अद्भुतसामर्थ्य से पूज्य, असुर = असंस्कारी, सिद्धसंघाः = सिद्धों के समूह, (सर्वेएवं) यह सब लोग (विस्मिताः) आश्चर्य होकर (त्वां वीक्षन्ते) तुमको देखते हैं ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं-
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं-
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥२३

पद०—रूपं । महत् । ते । बहुवक्त्रनेत्रं । महाबाहो । बहुबाहूरुपादं । बहूदरं । बहुदंष्ट्राकरालं । दृष्ट्वा । लोकाः । प्रव्यथिताः । तथा । अहं ॥

पदार्थ—हे महाबाहो (ते महत् रूपं) तुम्हारा जो बड़ा रूप है (बहुवक्त्रनेत्रं) जिसमें बहुत मुख और नेत्र हैं (बहुबाहूरुपादं) जिसमें बहुत से बाहु, उरु और पाद हैं (बहूदरं) बहुत उदरवाले रूपको (बहुदंष्ट्रा करालं) जो बहुत ही दाढ़ों से क्रूर है (लोकाः दृष्ट्वा प्रव्यथिताः) ऐसे रूपको देखकर लोग व्यथा को प्राप्त हो रहे हैं

(तथा अहं) और मैं भी ॥

भाष्य—इस क्रूर रूपके कथन करने की भूमिका ग्रन्थकर्त्ता ने इसलिये बांधी है कि आगे जाकर इसरूप को कालरूप से अर्थात् सबके भक्षणकर्त्तारूप से वर्णन करना है ॥

नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं-
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वाहि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा-
धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ॥ २४॥

पद०—नभःस्पृशं । दीप्तं । अनेकवर्णं । व्यात्ताननं । दीप्त-विशालनेत्रं । दृष्ट्वा । हि । त्वां । प्रव्यथितान्तरात्मा । धृतिं । न । विन्दामि । शमं । च । विष्णो ॥

पदार्थ—फिर वह तुम्हारा रूप कैसा है जो (नभःस्पृशं) आकाश को लगा हुआ है अर्थात् द्यौलोक तक फैला हुआ है (दीप्तं) प्रकाशवाला है (अनेकवर्णं) अनेक रंगों वाला है (व्यात्ता-ननं) फैलाए हुए मुख वाला है (दीप्तविशालनेत्रं) दीप्तिवाले विशालनेत्रों वाला है (हि) निश्चय करके (त्वां दृष्ट्वा) तुमको देखकर (प्रव्यथितान्तरात्मा) डरे हुए मनवाला मैं, हे विष्णो (धृतिं) धैर्य्य को (न विन्दामि) नहीं लाभ करता (च) और न (शमं) शान्ति को ॥

भाष्य—यहां विष्णु व्यापकअर्थ का वाची शब्द परमात्मा के योगके कारण कृष्ण को कहा गया है ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि-
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।

दिशो न जाने न लभे च शर्म-
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

पद०—दंष्ट्राकरालानि । च । ते । मुखानि । दृष्ट्वा । एव । कालानलसन्निभानि । दिशः । न । जाने । न । लभे । च । शर्म । प्रसीद । देवेश । जगन्निवास ॥

पदार्थ—हे कृष्ण (कालानलसन्निभानि) कालाग्नि के समान (च) और (दंष्ट्राकरालानि) दाढ़ों से विकराल (ते मुखानि दृष्ट्वा एव) तुम्हारे मुखों को देखकर ही (दिशः न जाने) मैं पूर्वोत्तरादि दिशाओं को भी नहीं जानता अर्थात् भयके मारे भूलगया (न लभे च शर्म) और न मुझे शान्ति है, इसलिये (प्रसीद) तुम मेरे पर प्रसन्न हो, तुम कैसे हो (देवेश) देवों के ईश्वर हो (जगन्निवास) संसार का निवास स्थान हो ॥

सं०—इसी अध्याय के ७वें श्लोक में जो अर्जुन से यह कहा था कि जो तू और देखना चाहता है वह भी हम दिखलावेंगे, वह द्रष्टव्य अर्जुन को यह अभीष्ट था कि इस युद्ध में कौन जीतेगा, सो बात योगज सामर्थ्य से कृष्णजी ने अर्जुनको दिखलाई, इस द्रष्टव्य को अर्जुन नीचे के पांच श्लोकों द्वारा कथन करते हैं:—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः-
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ-
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

पद०—अमी । च । त्वां । धृतराष्ट्रस्य । पुत्राः । सर्वे । सह । एव । अवनिपालसंघैः । भीष्मः । द्रोणः । सूतपुत्रः । तथा । असौ

सह । अस्मदीयैः । अपि । योधमुख्यैः ॥

पदार्थ—(धृतराष्ट्रस्य) धृतराष्ट्रके (अमीसर्वेपुत्राः) ये दुर्योधनादिक सबपुत्र (अवनिपालसंघैः) सब राजाओंके समुदायके (सहएव) साथही भीष्म, द्रोण, तथा (असौ सूतपुत्रः) तैसे ही यह करण (अस्मदीयैः) हमारे (योधमुख्यैः) मुख्य योद्धाओं के (सह अपि) साथही—

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति-
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु-
संदृश्यंते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥

पद०—वक्त्राणि । ते । त्वरमाणाः । विशन्ति । दंष्ट्राकरालानि । भयानकानि । केचित् । विलग्नाः । दशनान्तरेषु । संदृश्यन्ते । चूर्णितैः । उत्तमांगैः ॥

पदार्थ—(ते वक्त्राणि) तुम्हारे मुखों को (त्वरमाणाः) शीघ्रता करते हुए (विशन्ति) प्रवेश कर रहे हैं, वह तुम्हारे मुख कैसे हैं (दंष्ट्राकरालानि) जो दांतों से बड़े विकराल हैं और (भयानकानि) भयानक हैं, ऐसे तुम्हारे भयानक मुखों में (केचित्) कई एक योद्धा (दशनान्तरेषु) दांतों के भीतर (चूर्णितैः उत्तमांगैः) चकनाचूरसिरों से (विलग्नाः संदृश्यन्ते) लगे हुए देखे जाते हैं ॥

सं०—अब अर्जुन इस बातको कथन करता है कि यह सब लोग जान बूझकर उस विश्वरूप के मुखमें प्रवेश नहीं कररहे किन्तु अपने कर्मरूपी द्रवत्व गुणसे नदियों के समान उसकेसागर रूपी मुखकी ओर चले जा रहे हैं :—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा-
विशन्ति वक्त्राण्यभितोज्वलन्ति ॥२८॥

पद०—यथा । नदीनां । वहवः । अंबुवेगाः । समुद्रं । एव । अभिमुखाः । द्रवन्ति । तथा । तव । अमी । नरलोकवीराः । विशन्ति । वक्त्राणि । अभितः । ज्वलन्ति ॥

पदार्थ—(यथा नदीनां वहवः अंबुवेगाः) जैसे नदियों के वहुत जलोंके प्रवाह (समुद्रं अभिमुखाः एव) समुद्र के सन्मुख ही (द्रवन्ति) वह रहे हैं अर्थात् समुद्र की ओर जारहे हैं (तथा) इसी प्रकार (अमी) ये (नरलोकवीराः) मनुष्यलोक के वीर (ज्वलन्ति तव वक्त्राणि) प्रकाश वाले तुम्हारे मुखों को (अभितः प्रविशन्ति) सब ओर से प्रवेशकर रहे हैं ॥

सं०—इसी बातको अन्य दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं:—

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा-
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

पद०—यथा । प्रदीप्तं । ज्वलनं । पतंगाः । विशन्ति । नाशाय । समृद्धवेगाः । तथा । एव । नाशाय । विशन्ति । लोकाः । तव । अपि । वक्त्राणि । समृद्धवेगाः ॥

पदार्थ—(यथा) जिसप्रकार (प्रदीप्तं ज्वलनं) जलती हुई

लाट को (पतंगाः विशन्ति) पतंग प्रवेश करते हैं, वह कैसे पतंग हैं (नाशाय समृद्धवेगाः) अपने नाशके लिये बढ़ा हुआ है वेग जिनका (तथा एव) तैसे ही (नाशाय) नाश के लिये (समृद्ध वेगाः लोकाः) बढ़े हुए वेगवाले लोक अर्थात् दुर्योधनादिक (अपि) भी (तव वक्त्राणि विशन्ति) तुम्हारे मुखों में प्रवेश कर रहे हैं ॥

सं०—तुम्हारा विश्वरूप इस में क्या करता है, इस बात को कथन करते हैं:—

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं-
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

पद०—लेलिह्यसे । ग्रसमानः । समंतात् । लोकान् । समग्रान् वदनैः । ज्वलद्भिः । तेजोभिः । आपूर्य । जगत् । समग्रं । भासः । तव । उग्राः । प्रतपन्ति । विष्णो ॥

पदार्थ—हे विष्णो तु (ज्वलद्भिः वदनैः) अपने प्रज्वलित मुखों से (समंतात्) सब ओर से (समाग्रान्लोकान्) सब लोकों को (ग्रसमानः) ग्रास करता हुआ (लेलिह्यसे) आस्वादन कर रहा है अर्थात् पुनः २ खा रहा है, और फिर तु कैसा है (समग्रं जगत्) इस सम्पूर्ण जगत् को (तेजोभिः आपूर्य) अपने प्रकाश से पूर्ण करके (तव उग्राः भासः) तुम्हारी उग्र दीप्तियें (प्रतपन्ति) तपा रही हैं ।

भाष्य—इन पूर्वोक्त श्लोकों में जो यह कथन कियागया है

कि उस विश्वरूप के दांतों के नीचे आकर दुर्योधनादि योद्धा ओंके शिर टूट रहेथे, नदियों के प्रवाह के समान सब योद्धा उस के सागररूपी मुख में प्रवेश कर रहेथे, जलती हुई ज्वाला में पतंगों के समान उसके मुख प्रदीप में सब योद्धा जल रहेथे और वह विश्वरूप उन सबको अपने अनन्त मुखों से खा रहा था। इसका मुख्य तात्पर्य यह नहीं क्योंकि " **अत्ताचराचर ग्रहणात्** " ब्र० सू० १।२।९ इस सूत्र के विषय वाक्य से हम यह सिद्ध कर आए हैं कि परमात्मा किसी वस्तु का भक्षण कर्त्ता नहीं, किन्तु उपचार से उसमें भक्षण करना कथन कियागया है, इसी प्रकार यहां भी कृष्णजी ने काल को विश्वरूप से वर्णन किया है। इसलिये उस काल भगवान् के मुख में सब योद्धाओं के शिर टूट रहे हैं यह तात्पर्य है। इसीलिये अर्जुन निम्न लिखित श्लोक में यह प्रश्न करता है कि आप कौन हैः—

आख्याहिमेकोभवानुग्ररूपो-
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं-
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१॥

पद०—आख्याहि । मे । कः । भवान् । उग्ररूपः । नमः । अस्तु । ते । देववर । प्रसीद । विज्ञातुं । इच्छामि । भवन्तं । आद्यं । न । हि । प्रजानामि । तव । प्रवृत्तिं ।

पदार्थ—(मे) मुझको (आख्याहि) कथन करो कि (उग्ररूपः भवान् कः) तुम उग्ररूप वाले कौन हो (ते) तुमको (नमः अस्तु) नमस्कार हो (देववर) हे देवों में से श्रेष्ठ (प्रसीद) तुम

प्रसन्न हो (भवन्तं आद्यं) तुम्हारे आदिको (विज्ञातुं इच्छामि) जानने की इच्छा करता हूं (हि) जिसलिये (तव प्रवृत्तिं न जानामि) तुम्हारी प्रवृत्ति को मैं नहीं जानता ॥

भाष्य—इस श्लोक में अर्जुन ने यह पूछा है कि तुम्हारा जो यह क्रूररूप है इसका क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर कृष्णजी देते हैं कि:—

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मिलोकक्षयकृत्प्रवृद्धो-
लोकान्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे-
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

पद०—कालः । अस्मि । लोकक्षयकृत् । प्रवृद्धः । लोकान् । समाहर्त्तुं । इह । प्रवृत्तः । ऋते । अपि । त्वां । न । भविष्यन्ति । सर्वे । ये । अवस्थिताः । प्रत्यनीकेषु । योधाः ।

पदार्थ—(कालः अस्मि) मैं काल हूं (लोकक्षयकृत्) लोक के नाश करने के लिये (प्रवृद्धः) बढ़रहा हूं (लोकान् समाहर्त्तुं इह प्रवृत्तः) दुर्योधनादि लोगों के नाश करने के लिये यहां प्रवृत्त हुआ हूं (ये) जो (योधाः) योद्धालोग (प्रत्यनीकेषु) प्रतिपक्षियों की सेना में (अवस्थिताः) स्थिर हैं (ऋते अपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे) तुम्हारे युद्धरूपी व्यपार से विना भी यह सब योद्धा नहीं रहेंगे ॥

भाष्य—इस श्लोक में "**कालोऽस्मि**" इस कथन से कृष्णजीने इस विश्वरूप का पूरा विवरण कर दिया कि इस विश्वरूप का उपन्यास काल की महिमा दिखलाने के लिये किया गया था

और "ऋतेऽपित्वांनभविष्यन्तिसर्वे" इस कथन से इस बात को भी स्पष्ट कर दिया कि अर्जुन और कृष्ण इस युद्ध को यदि न करते तब भी काल का महत्व ऐसा था कि यह दुर्योधनादि कदापि नहीं बच सकते थे, क्योंकि उनके दुराचार उनके मारने के लिये स्वयं काल भगवान् का रूप धारण कर रहे थे। इस बात को कृष्ण जी ने कालके अलंकार से वर्णन किया है और अर्जुन को उस समय के आततायि कुलघातकों के मारने के लिये उद्यत किया है ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व-
जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव-
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

पद०—तस्मात् । त्वं । उत्तिष्ठ । यशः । लभस्व । जित्वा । शत्रून् । भुंक्ष्व । राज्यं । समृद्धं । मया । एव । एते । निहताः । पूर्वं । एव । निमित्तमात्रं । भव । सव्यसाचिन् ॥

पदार्थ—(तस्मात्) इस लिये, जब कि वह समय के प्रभाव से ही धर्म और देश के द्वेषी होने से स्वयं मरे हुए हैं (त्वं) तु (उत्तिष्ठ) उठ खड़ा हो और (शत्रून् जित्वा) शत्रुओं को जीत कर (यशः लभस्व) यशको लाभकर और (समृद्धं राज्यं) इस बड़े राज्यको (भुंक्ष्व) भोग (पूर्वं एव) पहले ही (मयाएव) मैंने ही (एते) ये (निहताः) मार छोड़े हैं, इसलिये (सव्यसाचिन्) हे बायें हाथसे भी शस्त्र चलाने वाले तु (निमित्तमात्रंभव) इनके मारने में नाममात्र बन ॥

भाष्य—अर्जुनको उनके मारने में निमित्तमात्र इसलिये कहा है कि उस समय की घटनाएं इसबातको सिद्ध करती थीं कि दुर्योधन का दल जीता नहीं रहेगा क्योंकि दुर्योधन अपने दुष्ट कर्मों के कारण देश और धर्म का विरोधी था, इसलिये काल भगवान् नहीं चाहता था कि वह जीता रहे। सत्य है अदूरदर्शी लोग कृष्ण और अर्जुन को मिथ्या दोष लगाया करते हैं कि इन्होंने ही कुलका नाश किया, वास्तव में कुलका नाश उस समयके दुष्ट कर्मियों ने किया, क्या यादवों का नाश कृष्ण और अर्जुन ने किया? जिनके विचार में ५६ कोटि यादव अपने दुष्ट कर्मों से नाश होगए, तो क्या वहां दुर्योधनादिकों का आपसमें लड़कर नाश होना असंभव था। इस श्लोकने कालके अलंकार को स्पष्ट कर दिया कि कालके मारे हुए दुर्योधनादिकों को अर्जुन ने निमित्त मात्रसे मारा है॥

सं०—यद्यपि कालरूप आपने इन दुर्योधनादिकों को मार छोड़ा है तथापि द्रोणादिमहाबलिष्ट योद्धाओं को मैं कैसे मारूंगा?

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च-
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा-
युद्ध्यस्व जेताऽसि रणे सपत्नान्।३४

पद०—द्रोणं। च। भीष्मं। च। जयद्रथं। च। कर्णं। तथा। अन्यान्। अपि। योधवीरान्। मया। हतान्। त्वं। जहि। मा। व्यथिष्ठा। युध्यस्व। जेतासि। रणे। सपत्नान्॥

पदार्थ—द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण (तथा) इसीप्रकार (अन्यान् अपि योधवीरान्) और भी जो योद्धालोग वीर हैं—

(मया हतान्) मेरे मारे हुओं को ही (त्वं)तु(जहि)मार (मा व्य-थिष्ठा) डरमत (युध्यस्व) युद्धकर (रणे) इस रणमें (सपत्नान्) प्रतिपक्षियों को (जेतासि) अवश्य जीतेगा । यह वृतांत संजय ने धृतराष्ट्र को सुनाया ॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य-
कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं-
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

पद०—एतत् । श्रुत्वा । वचनं । केशवस्य । कृतांजलिः । वेपमानः । किरीटी । नमस्कृत्वा । भूयः । एव । आह । कृष्णं । सगद्गदं । भीतभीतः । प्रणम्य ॥

पदार्थ—(केशवस्य) कृष्णका (एतत् वचनं) यह वचन (श्रुत्वा) सुनकर (कृतांजलिः) दोनों हाथ जोड़कर (वेपमानः) कांपता हुआ (किरीटी) मुकुटवाला अर्जुन (नमस्कृत्वा) नमस्कार करके (भूयःएव) फिर (भीतभीतः प्रणम्य) डरता २ प्रणाम करके अर्थात् पहले नमस्कार करके फिर डरते २ प्रणाम करनेसे अतिनम्रता बोधनकी, ऐसी नम्रता पूर्वक (सगद्गदं) हर्ष से निरुद्ध कण्ठ वाला हुआ २ (कृष्णं आह) कृष्णको आगे का वचन बोलाः—

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या-
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवंति-
सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

पद०—स्थाने । हृषीकेश । तव । प्रकीर्त्या । जगत् । प्रहृष्यति । अनुरज्यते । च । रक्षांसि । भीतानि । दिशः । द्रवन्ति । सर्वे । नमस्यन्ति । च । सिद्धसंघाः ॥

पदार्थ—(हृषीकेश) हे वशीकृतेन्द्रिय कृष्ण (तव प्रकीर्त्या) तुम्हारे यशसे यह जगत् (प्रहृष्यति) प्रसन्न होता है (अनुरज्यते च) और प्रेम को प्राप्त होता है (भीतानि रक्षांसि) तुमसे डरे हुए राक्षसलोग (दिशः द्रवन्ति) सब दिशाओं को भागे जा रहे हैं (च) और (सर्वेसिद्धसंघाः) सब सिद्धों के समुदाय (स्थाने) यह युक्त है कि (नमस्यन्ति) तुमको नमस्कार करते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में अर्जुन ने उस कालरूप कृष्णकी स्तुति की है जिस योगेश्वर कृष्ण ने अपने योगज सामर्थ्य से युद्धका भावी परिणाम अर्जुनको बतलाया और उस वैदिक विश्वरूप के वर्णन द्वारा उस परमात्मा का अद्भुत वर्णन करके उस कालरूप भगवान् के दांतों में चबाए हुए सब दुर्योधनादिकोंको दिखलाया, इसी प्रकार उस योगेश्वर कृष्णकी स्तुति में यह अग्रिम श्लोक है:—

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्-
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनंत देवेश जगन्निवास-
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

पद०—कस्मात् । च । ते । न । नमेरन् । महात्मन् । गरीयसे ।

ब्रह्मणः । अपि । आदिकर्त्रे । अनंत । देवेश । जगन्निवास । त्वं । अक्षरं । सत् । असत् । तत्परं । यत् ॥

पदार्थ—हे महात्मन् (कस्मात् च) और किसलिये (ते) वे (न नमेरन्) तुमको नमस्कार नहीं करेंगे अर्थात् अवश्य करेंगे, (गरीयसे ब्रह्मणः अपि आदिकर्त्रे) तुम बड़े हो और ब्रह्मा के भी आदि कर्त्ता हो (अनन्त) हे अनन्त (देवेश) हे देवों के ईश्वर (जगन्निवास) हे जगत्‌के निवास स्थान (त्वं अक्षरं) तुम अक्षर हो (सत्) तुम प्रकृतिरूप हो (असत्) तुम कार्य्यरूप हो (तत्परं) उस कार्य्य कारण से परे (यत्) जो परमात्मा है वह भी तुम्हीं हो॥

भाष्य—यह श्लोक कृष्ण की स्तुति को विधान करते हैं, यदि यह स्तुति परक न होते तो अर्जुन को यह सन्देह क्यों होता कि तुमको सब लोग नमस्कार क्यों न करेंगे, इससे पायाजाता है कि जो महत्व कृष्ण के योगज सामर्थ्य को देखकर अर्जुन के हृदय में था वह महत्व उस समय के अन्य लोगों के हृदय में न था।

ननु, यदि कृष्ण वास्तव में ईश्वर न थे, यह केवल उनकी स्तुतिमात्र कीगई है तो फिर इस श्लोक में ब्रह्मा का भी आदि कर्त्ता कृष्ण को क्यों कहागया ? और अनन्त, देवेश, जगन्निवास, इत्यादि पदोंसे उसको सम्पूर्ण सृष्टिका निवासस्थान क्यों मानागया ? उत्तर—यदि इस श्लोक के पदों से ही कृष्ण को ईश्वर सिद्ध करना है और इन पदों का तात्पर्य्य नहीं देखना तो इस श्लोक के पदों में तो कृष्ण को सत् और असत् भी कहा है तो क्या इस कथन से कृष्ण झूठ भी है ? भला मायावादी तो येन केन प्रकार से रज्जु सर्प के समान इस सब (सदसद्) अनिर्वचनीय जगत् रूपी विवर्त्तका अधिष्ठान मान कर इस दोष से दूर हो जावेंगे, पर विचारे अवतार वादियों की क्या गति ?

हमारे विचार में तो इन पदों का तात्पर्य्य यह है कि अर्जुन के जब सब मनोरथ उस योगेश्वर कृष्ण से पूर्ण होगए तो उनको (सत्) प्रकृतिरूप (असत्) कार्य्यरूप (तत्परं) ब्रह्मरूप, इत्यादि सब गुणों से कथन करादिया, जैसेकि एक अर्थी स्व अर्थ पूरा करने वाले को राजा, महाराजा, राजराजेश्वर, आदि शब्दों से कथन कर देता है, ऐसा ही यहां अर्जुन ने किया है, इसका नाम शास्त्र में अर्थवाद है ।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ॥
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम-
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

पद०—त्वं । आदिदेवः । पुरुषः । पुराणः । त्वं । अस्य । विश्वस्य । परं । निधानं । वेत्ता । असि । वेद्यं । च । परं । च । धाम । त्वया । ततं । विश्वं । अनन्तरूप॥

पदार्थ—हे कृष्ण (त्वं आदिदेवः) तुम आदिदेव हो (पुरुषः) तुम पुरुष हो (पुराणः) तुम सब से प्राचीन हो (त्वं अस्य विश्वस्य परं निधानं) तुम इस विश्वका परं निधान नाम धारण करने वाले हो (वेत्ता असि) तुम सबके जानने वाले हो (वेद्यं च) और जानने योग्य हो (च) और परंधाम हो, हे अनन्तरूप (त्वया ततं विश्वं) तुमने यह सब विश्व रचा है ।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

पद०—वायुः । यमः । अग्निः । वरुणः । शशांकः । प्रजापतिः । त्वं । प्रपितामहः । च । नमः । नमः । ते । अस्तु । सहस्रकृत्वः । पुनः । च । भूयः । अपि । नमः । नमः । ते ॥

पदार्थ—वायु (यमः) सब के नियमन करनेवाला (वरुणः) जल (शशांकः) चन्द्रमा (प्रजापतिः) सूर्य्य (प्रपितामहः) और यह कारण रूप प्रकृति जो सबकार्य्य समूह का पिता है उसके भी पिता नाम पालक होने से तुम प्रपितामह हो (नमः नमः ते अस्तु) तुमको बारम्बार नमस्ते हो (पुनः सहस्रकृत्वः) फिर हजार बार नमस्ते हो (च) और (भयः अपि) फिर भी (ते) तुम्हारेलिये (नमः नमः) बारम्बार नमस्ते हो ।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते-
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं-
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

पद०—नमः । पुरस्तात् । अथ । पृष्ठतः । ते । नमः । अस्तु । ते । सर्वतः । एव । सर्व । अनन्तवीर्य्यामितविक्रमः । त्वं । सर्वं । समाप्नोषि । ततः । असि । सर्वः ॥

पदार्थ—(नमः पुरस्तात्) तुमको पूर्व से नमस्कार है (अथ) और (पृष्ठतः ते) पश्चिम से तुम्हें नमस्कार हो, हे सर्व, तु (अनन्तवीर्य्यामितविक्रमः) अनन्त वीर्य्य और अनन्त विक्रम वाला है (त्वं सर्वं समाप्नोषि) तू सबको व्याप्त कर रहा है (ततः) इस

लिये (सर्वः असि) तू सब कुछ है (नमः अस्तु ते सर्वतः एव) इसलिये तुमको सब ओर से नमस्कार हो ।

भाष्य—इस श्लोक में जो कृष्ण को सब कुछ कहा गया है यह अर्थवाद है । स्वामी रामानुज इसकी यह व्यवस्था करते हैं कि:—"अतः सर्वस्यचिदचिद्वस्तुजातस्यत्वच्छरीर तया त्वत्प्रकारत्वात्सर्वप्रकारस्त्वमेव सर्वशब्द वाच्योसीत्यर्थः" अर्थ—यह सब जो जड़ चेतन वस्तुओं का समूह है यह परमात्मा का शरीर है, इस प्रकार शरीर शरीरी भाव से यह सब जड़ चेतन वस्तु परमात्मा का रूप है । इस लिये कहा है कि तू सब है, ऐसे सर्वात्मवाद को विशिष्टाद्वैत कहते हैं । और वैदिक मतानुकूल तो योगेश्वर कृष्ण को सर्वान्तरात्मा परमात्मा से योग होने के कारण उसको सर्व कहागया है इसलिये कोई दोष नहीं । अब इसी बातको अर्जुन आगे वर्णन करता है कि:—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं-
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं-
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

पद०—सखा । इति । मत्वा । प्रसभं । यत् । उक्तं । हेकृष्ण । हेयादव । हेसखा । इति । अजानता । महिमानं । तव । इदं । मया । प्रमादात् । प्रणयेन् । वा । अपि ॥

पदार्थ—(सखा इति मत्वा) मित्र जानकर (प्रसभं) अवज्ञा करनेवाला वचन हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा, (इति यत् उक्तं)

यह जो मैंने कहा (तव महिमानं अजानता) तुम्हारे महत्व को न जानते हुए (प्रमादात्) प्रमाद से (वा) अथवा (प्रणयेन) प्रेम से (इदं उक्तं) ऐसा कहा ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

पद०—यत् । च । अवहासार्थं । असत्कृतः । असि । विहार-शय्यासन भोजनेषु । एकः । अथ । वा । अपि । अच्युत । तत्स-मक्षं । तत् । क्षामये । त्वां । अहं । अप्रमेयं ॥

पदार्थ—(यत् च) और जो (अवहासार्थं) हंसी के लिये (असत्कृतः असि) तुम निरादर किये गए हो, और(विहारशय्या-सनभोजनेषु) निजके कामों में, सोने मे, बैठने में, भोजन समय में (एकः) तुम अकेले निरादर किये गए हो, अथवा हे अच्युत (तत्समक्षं) अपने मित्रों के सन्मुख निरादर किये गए हो (तत् त्वां अहंक्षामये) उसकी मैं तुमसे क्षमा कराता हूं,तुमकैसे हो (अप्रमेयं) अपरामित उदारतावाले हो ॥

भाष्य—इस कथन से अर्जुन ने यह सूचितकिया कि आपके योगेश्वर होने का प्रभाव मैंने नहीं जाना था इसलिये आपकी मुझसे अवज्ञा हुई वह आप क्षमा करें ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

पद०—पिता । असि । लोकस्य । चराचरस्य । त्वं । अस्य । पूज्यः । च । गुरुः । गरीयान् । न । त्वत्समः । अस्ति । अभ्यधिकः । कुतः । अन्यः । लोकत्रये । अपि । अप्रतिमप्रभाव ॥

पदार्थ—(अप्रतिमप्रभाव) हे अनुपम (चराचरस्य लोकस्य पिता असि) तुम इस चराचरलोक के पिता हो अर्थात् पालक हो, और (त्वं अस्य) तुम इसलोकके (पूज्यः) पूज्य हो (च) और (गुरुः गरीयान्) बड़े गुरू हो (लोकत्रयेअपि) तीनों लोकों में भी (न त्वत्समः अन्यः अस्ति) तुम्हारे समान अन्य कोई नहीं है (अभ्यधिकः कुतः) और अधिक तो क्या ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं-
प्रसादयेत्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देवसोढुम् ॥४४॥

पद०—तस्मात् । प्रणम्य । प्रणिधाय । कायं । प्रसादये । त्वां । अहं । ईशं । ईड्यं । पिता । इव । पुत्रस्य । सखा । इव । सख्युः । प्रियः । प्रियायाः । अर्हसि । देव । सोढुं ॥

पदार्थ—(तस्मात् प्रणम्य) इसलिये प्रणाम करके (प्रणिधाय कायं) पृथिवी पर माथा टेककर (अहंत्वांप्रसादये) मैं तुमको प्रसन्न करना चाहता हूं, तुम कैसे हो (ईशं) ईश्वर हो (ईड्यं) पूज्य हो (पुत्रस्यपिताइव) पुत्र के अपराधों को पिताके समान (सख्युः सखाइव) मित्रके अपराधों को मित्रके समान (प्रियाया

प्रियः) स्त्री के अपराधों को पति के समान, हे देव (त्वंसोढुं अर्हसि) तुम सहारने योग्य हो अर्थात् पितादिके समान आप मेरे अपराधों को क्षमा करें ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा-
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

पद०—अदृष्टपूर्वं । हृषितः । अस्मि । दृष्ट्वा । भयेन । च । प्रव्यथितं । मनः । मे । तत् । एव । मे । दर्शय । देवरूपं । प्रसीद । देवेश । जगन्निवास ॥

पदार्थ—(अदृष्टपूर्वं) जो प्रथम कभी नहीं देखा (दृष्ट्वा) ऐसे रूपको देखकर (हृषितः अस्मि) मैं प्रसन्न हुआ (च) और (भयेन) भयसे (मे मनः) मेरा मन (प्रव्यथितं) व्यथा को प्राप्त होरहा है (मे) मुझको (तत्एव) वही (देवरूपं) देवरूप (दर्शय) दिखलाओ, हे देवों के देव, (जगन्निवास) हे जगत्के निवासस्थान (प्रसीद) आप मेरे पर प्रसन्न हों ॥

भाष्य—इस श्लोक में अर्जुन ने प्रथमरूप देखने की जिज्ञासा प्रकट की है अर्थात् उस दिव्यदृष्टिरूपी दीर्घ निद्रा से जागकर इस संसार में आने की इच्छा की है, इसीलिये कहा है कि मुझे प्रथम रूप दिखलाओ । इसको अवतारवादी बड़े बलपूर्वक अवतार में लगाते हैं और कहते हैं कि प्रथमरूप में सूर्यलोक तक फैला हुआ जो कृष्ण था उससे डरकर अर्जुन ने प्रथमरूप देखने की इच्छा प्रकट की । इनका यह कथन इसलिये संगत नहीं कि

इस से आगे के श्लोकमें "रूपंपरंदर्शितमात्मयोगात्" यह वाक्य है, जिसके अर्थ यह हैं कि यह विश्वरूप मैंने "आत्मयोगात्" अपने योगके प्रभाव से दिखलाया जैसाकि हम योग का प्रभाव धारणा, ध्यान, समाधि, इन तीनों के संयम से दिखला आए हैं, वही योग यहां आत्मयोग से अभिप्रेत है। इस योगकी स्वामी रामानुज ने यह व्याख्याकी है कि:—"आत्मनःसत्यसंकल्पत्वयोगयुक्तत्वात्" कि आत्मा का जो सत्य संकल्प धर्म वाले ईश्वर के साथ योग है उससे युक्तहोने से कृष्ण ने ऐसा रूप दिखलाया। यह बात सर्व सम्मत है कि सत्य संकल्पत्वादि धर्म परमात्मा के ही हैं, जीव के धारण करने से उक्त धर्मों का कथन कियागया है, जैसाकि:—"एषआत्माअपहतपाप्माविजरोविमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पइति" छा० ८।१।२ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में वर्णन कियागया है, इससे पायागया कि कृष्णने अपने योगज सामर्थ्य से भावीकाल का प्रभाव और विश्वरूप दर्शन अर्जुन को दिखलाया। इससे कृष्णका ईश्वर होना किसी प्रकार भी नहीं पाया जाता॥

ननु— किरीटिनंगदिनंचक्रहस्तमिच्छामित्वांद्रष्टुमहं तथैव। तेनैवरूपेणचतुर्भुजेनसहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते ॥ गी० ११। ४६

पद०—किरीटिनं। गदिनं। चक्रहस्तं। इच्छामि। त्वां। द्रष्टुं। अहं। तथा। एव। तेन। एव। रूपेण। चतुर्भुजेन। सहस्रबाहो। भव। विश्वमूर्त्ते॥

पदार्थ—(किरीटिनं) मुकुटवाले को (गादिनं) गदावाले को (चक्रहस्तं) हाथमें चक्रवाले को (त्वां) तुमको (अहं तथा एव द्रष्टुं इच्छामि) मैं वैसा ही देखना चाहता हूं, इसलिये हे सहस्रवाहो, हे विश्वमूर्त्ते (तेनएवचतुर्भुजेन रूपेणभव) उसी चारवाहोंवाले रूपसे हो । इस श्लोक में अर्जुनने यहकहाहै कि मुझको वह चतुर्भुजरूप दिखलाओ, फिर कैसे कहा जाता है कि कृष्ण अवतार न थे और उन्होंने सूर्य्य लोक तक लंबा और सारे विश्वमें व्याप्त विश्वरूप नहीं धारा ?

उत्तर—यह श्लोक प्रक्षिप्त है, इसका प्रमाण यह है कि इस श्लोक में चतुर्भुज रूप लिखा हुआ है, इस रूपका वर्णन आर्ष ग्रन्थों में कहीं नहीं, महाभारत जो वस्तुतः २४ हजार है उसमेंभी चतुर्भुज रूपका कहीं वर्णन नहीं, प्रायः आधुनिक पुराणों में इस का वर्णन है जैसाकि देवी भाग० १ । ७ । ५ में "चतुर्भुजंमहावीर्य्यं" इत्यादि लिखा है और फिर उसी में २२ । ६ । ४७ में देवी को "चतुर्भुजा" लिखा है । चतुर्भुज के अर्थ यह हैं कि जिसकेचारभुजा हों । औरचतुर्भुज रूपका होना लोक से विरुद्ध भी है अर्थात् प्रकृति में चार भुजाओं वाली मनुष्याकृति नहीं होसकती ॥

ननु, जब सहस्रवाहु और विश्वरूप उस कृष्ण को कहा है तो चतुर्भुज होने में क्या सन्देह है ?

उत्तर—"सहस्रशीर्षापुरुषः" और "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः" इत्यादि मन्त्रों में विराड्रूप वाले परमात्मा को सहस्रबाहु और विश्वमूर्त्ति वर्णन कियागया है, उस परमात्मा के साथ योग होने से कृष्ण को भी सहस्रवाहु और

विश्वमूर्ति कहागया है, वास्तव में सहस्रवाहों वाला पुरुष आज-तक कोई नहीं हुआ ॥

सं०—देखो उस योगेश्वर कृष्ण के उस योग को यह अग्रिम श्लोक विधान करता है:—

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं-
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं-
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४६॥

पद०—मया । प्रसन्नेन । तव । अर्जुन । इदं । रूपं । परं । दर्शितं । आत्मयोगात् । तेजोमयं । विश्वं । अनन्तं । आद्यं । यत् । मे । त्वदन्येन । न । दृष्टपूर्वं ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (मया प्रसन्नेन) मैंने प्रसन्न होकर (आत्मयोगात्) अपनी योगरूपी सामर्थ्य से (इदं परं रूपं दर्शितं तव) यह परमरूप मैंने तुमको दिखलाया है, यह रूप कैसा है (तेजोमयं) तेजरूप है (विश्वं) विश्वरूप है (अनन्तं) अनन्त है (यत् आद्यं) जो मेरा पहला ही है (त्वदन्येन न दृष्टपूर्वं) तुमसे प्रथम किसी ने नहीं देखा ॥

सं०—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" कठ० इत्यादि उपनिषद्वाक्यों द्वारा केवल परमात्मा की कृपा से उसरूप की प्राप्ति वर्णन की गई है, इस आशय से आगे कहते हैं कि तुम पर परमात्मा की परम कृपा है जो तुमने इस रूपको देखा:—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न-
च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके-
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४७ ॥

पद०—न । वेदयज्ञाध्ययनैः । न । दानैः । न । च । क्रियाभिः । न । तपोभिः । उग्रैः । एवं । रूपः । शक्यः । अहं । नृलोके । द्रष्टुं । त्वदन्येन । कुरुप्रवीर ।

पदार्थ—(कुरुप्रवीर) हे कुरुवंश में बीर अर्जुन (एवंरूपः) इस रूप वाला मैं योगेश्वर कृष्ण (नृलोके) इस लोक में (त्वदन्येन) तुम्हारे से विना (अहं न द्रष्टुं शक्यः) मैं नहीं देखाजासक्ता (वेदयज्ञाध्ययनैः न) वेद और वेद के यज्ञादि प्रकरणों के अध्ययन से नहीं (नदानैः) न दानों से (च) और (न क्रियाभिः) न कर्मों से (न उग्रैः तपोभिः) न उग्र तपोंसे ॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि ईश्वर की प्रणिधानरूपी भक्ति से विना वेदों के अध्ययन से, यज्ञों से, दानों से, तपों से, वह विश्वरूप नहीं जाना जासक्ता अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि, के संयम से विना यह रूप नहीं जाना जासक्ता, इस कथन से वेदादिकों की निन्दा नहीं, किन्तु केवल वेदयज्ञादिकों से नहीं जाना जासक्ता यह तात्पर्य्य है । इसीलिये स्वामी रामानुज लिखते हैं कि:—" केवलैर्वेदयज्ञादिभिर्द्रष्टुं न—शक्यः" अर्थ—केवल वेद यज्ञादिकों से नहीं देखा जासक्ता किन्तु भक्ति सहित वेद यज्ञादिकों से देखा जा सक्ता है, यह तात्पर्य्य है ॥

सं०—अब कृष्ण उस योगज कालरूप का उपसंहार करके अपना सौम्यरूप अर्जुन को दिखलाते हैं:—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो-
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं-
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४८ ॥

पद०—मा । ते । व्यथा । मा । च । विमूढभावः । दृष्ट्वारूपं । घोरं । ईदृक् । मम । इदं । व्यपेतभीः । प्रीतमनाः । पुनः । त्वं । तव । एव । मे । रूपं । इदं । प्रपश्य ॥

पदार्थ—(मम इदं) मेरे इस (ईदृक्) ऐसे (घोरं रूपं) घोर रूप को (दृष्ट्वा) देखकर (मा ते व्यथा) तुमको कष्ट मत हो (मा च विमूढभावः) और तुमको मोह मत हो (व्यपेतभीः) भय से रहित हुआ (प्रीतमनाः) प्रसन्न मनवाला होकर (पुनः) फिर (त्वं) तु (तव एव) वही (मे इदं रूपं) मेरा यह रूप (प्रपश्य) देख ॥

सं०—अब संजय धृतराष्ट्र के प्रति इस वृत्तान्त को कथन करते हैं:—

संजयउवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ॥
आश्वासयामास च भीतमेनं-
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥४९॥

पद०—इति । अर्जुनं । वासुदेवः । तथा । उक्त्वा । स्वकं । रूपं । दर्शयामास । भूयः । आश्वासयामास । च । भीतं । एनं । भूत्वा । पुनः । सौम्यवपुः । महात्मा ।

पदार्थ—(इति) यह बात (वासुदेवः) कृष्ण ने (अर्जुनं) अर्जुन को (तथा उक्त्वा) ऐसा कहकर (स्वकं रूपं दर्शयामास) अपने रूपको दिखलाया (च) और (एनं भीतं) डरे हुए अर्जुन को (पुनः सौम्यवपुः भूत्वा) फिर सौम्य आकार वाला होकर महात्मा कृष्ण ने (भूयः आश्वासयामास) फिर शान्ति दी ।

अर्जुनउवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मिसंवृत्तःसचेताःप्रकृतिंगतः ॥५०

पद०—दृष्ट्वा । इदं । मानुषं । रूपं । तव । सौम्यं । जनार्दन । इदानीं । अस्मि । संवृत्तः । सचेताः । प्रकृतिं । गतः ।

पदार्थ—हे जनार्दन (तव इदं मानुषं रूपं सौम्यं दृष्ट्वा) तुम्हारे इस सौम्य मनुष्यरूप को देखकर (इदानीं) अब मैं (सचेताः) अव्याकुल चित्तवाला (प्रकृतिं गतः) स्वस्थता को प्राप्त (संवृत्तः अस्मि) हुआ हूं ।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम । देवा-
अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः॥५१

पद०—सुदुर्दर्शं । इदं । रूपं । दृष्टवानसि । यत् । मम । देवाः । अपि । अस्य । रूपस्य । नित्यं । दर्शनकांक्षिणः ।

पदार्थ—(यत् इदं रूपं दृष्टवानसि) मेरे इस रूपको जिसको तुमने देखा है वह (सुदुर्दर्शं) बड़ी कठिनता से देखा जासक्ता है

(अस्य रूपस्य) इस रूपके (देवाः अपि) देवभी (नित्यं) सदा (दर्शनकांक्षिणः) दर्शन के अभिलाषी हैं।

भाष्य—देव = दिव्य सामर्थ्य वाले लोग भी योगज सामर्थ्य से बिना इस विश्वरूपको अर्थात् अतीतानागत पदार्थों के ज्ञानको नहीं जान सकते, इसलिये कहा है कि देवभी इसरूपके देखने की सदैव अभिलाषा करते हैं॥

सं०—ननु, देव तो उन्हीं को कहते हैं जो शमदमादि सम्पन्न तपस्वी हों, फिर वह इस रूपको कैसे नहीं जान सकते? उत्तर—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥५२

पद०—न। अहं। वेदैः। न। तपसा। न। दानेन। न। च इज्यया। शक्यः। एवंविधः। द्रष्टुं। दृष्टवानसि। मां। यथा॥

पदार्थ—(मां) मुझको (यथा) जिसप्रकार (दृष्टवानासि) तुमने देखा है (एवंविधः द्रष्टुं इज्यया न शक्यः) इस प्रकार का मैं यज्ञों से नहीं जाना जा सकता (न वेदैः) न वेदों से (न तपसा) न तपसे (न दानेन) न दानसे॥

भाष्य—यहां भी स्वामी रामानुज यह अर्थकरते हैं कि:—"मद्भक्तिः रहितैर्केवलैर्यथावदवस्थितोऽहंद्रष्टुं न शक्यः" मेरी भक्ति से रहित जो केवल वेदादिक हैं उनसे यथार्थपन से मैं नहीं जाना जासकता, जैसाकि:—"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" इत्यादि स्मृतियों में वर्णन किया है॥

सं०—ननु, कृष्णका आत्मभूत परमात्म तत्त्व जब केवल वेदादिकों से नहीं जाना जा सकता तो फिर किससे जाना जा सक्ता है?

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥५३॥

पद०—भक्त्या । तु । अनन्यया । शक्यः । अहं । एवंविधः । अर्जुन । ज्ञातुं । द्रष्टुं । च । तत्त्वेन । प्रवेष्टुं । च । परंतप ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (भक्त्या तु अनन्यया) परमात्माकी एकमात्रभक्ति से (अहं एवंविधः) मैं इसप्रकारका (द्रष्टुंशक्यः) देखा जा सकता हूं, (च) और (ज्ञातुं शक्यः) जाना जा सकता हूं, हे परंतप (तत्त्वेन च प्रवेष्टुंशक्यः) तत्त्वसे जानने योग्य मैं भक्ति से ही होता हूं ॥

भाष्य—अद्वैतवादीटीकाकार "तत्त्वेनप्रवेष्टुं" के अर्थजीव ब्रह्म की एकता के करते हैं, पर यह आशय यहां कदापि नहीं, यदि यहां यह आशय होता तो निम्न लिखित श्लोकमें यह भाव कदापि न वर्णन किये जाते :—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव॥५४

पद०—मत्कर्मकृत् । मत्परमः । मद्भक्तः । सङ्गवर्जितः। निर्वैरः। सर्वभूतेषु । यः । सः । मां । एति । पाण्डव ॥

पदार्थ—(पाण्डव) हे अर्जुन (मत्कर्मकृत्) जो मेरे कर्मों को करता है (मत्परमः) मैं ही हूं परमप्रिय जिसका (मद्भक्तः) मेरा भक्त (सङ्गवर्जितः) कुसंग से वर्जित (सर्वभूतेषु निर्वैरः) सब भूतों में रागद्वेष से रहित (यः) जो इस प्रकार का है (सः) वह (मां एति) मुझको प्राप्त होता है ॥

भाष्य—पूर्व के श्लोक में यदि "प्रवेष्टुं" के अर्थ ब्रह्म बन

जाने के होते तो इस श्लोक में "मत्कर्मकृत्" इत्यादि वाक्यों से कर्म का विधान कदापि न पायाजाता, क्योंकि ब्रह्म बनजाने वाले मायावादियों के मत में जीव कर्म करके ब्रह्म नहीं बनता किन्तु ज्ञान से बनता है, और यहां उस विश्वरूप की प्राप्ति कर्मों से वर्णन कीगई है। और बात यह है कि विश्वरूप में प्रवेश होने के क्या अर्थ ? विश्वरूप तो इनके मत में उपाधि वाला है अर्थात् स्वयं मिथ्या है, फिर उस मिथ्याभूत विश्वरूप में प्रवेश होने से इनको क्या लाभ ?

ननु—"स मामेतिपाण्डव" इसवाक्य से तो इस बातको बोधन करदिया कि परमात्मा को प्राप्त होता है अर्थात् परमात्मा के साथ उसका अभेद होजाता है, फिर कैसे कहा जाता है कि जीव ब्रह्म का अभेद नहीं होता ? उत्तर—

"मामेति" के अर्थ अभेद होनेके नहीं होते "देवदत्तोग्राममेति" क्या इसके अर्थ देवदत्त के ग्राम बनजाने के हैं, नहीं इसके अर्थ यह होते हैं कि देवदत्त ग्राम को प्राप्त होता है, और वह प्राप्ति यहां स्वामीरामानुजने इस प्रकार वर्णन की है कि :—

य एवंभूतःस मामेति मां यथा वदवस्थितंप्राप्नोति निरस्ताविद्याद्यशेषदोषगन्धोमदेकानुभवरूपोभवतीत्यर्थः" अर्थ—जो पूर्वोक्त रीति से मेरेकथन किये हुए कर्मों को करता है वह मेरे यथार्थ स्वरूप को प्राप्त होता है, अर्थात् अविद्यादि सम्पूर्ण दोषों के निवृत्त होने से एक मात्र मेरा ही अनुभव करता है यह "मामेति" के अर्थ हैं ॥

इस ११वें अध्याय के उपसंहार में अनन्यभक्ति से परमात्मा

की प्राप्ति कथन कियेजाने से और परमात्मा की आज्ञा किये हुए कर्मोंद्वारा ईश्वर प्राप्ति कथन कियेजाने से यह स्पष्ट होगया कि मायावादियों की अभेदरूप प्राप्ति गीता शास्त्र का तात्पर्य्य नहीं । और " संगवर्जितः, निर्वैरः " इत्यादि कथन से यह भी स्पष्ट करदिया कि यम नियमादिकों के द्वारा ही अर्जुन को कृष्ण ने वैदिक विश्वरूप दिखलाया है अन्य कोई कल्पित या असम्भव रूप नहीं ॥

इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये, विश्वरूपदर्शनयोगोनाम एकादशोऽध्यायः ॥

अथ

॥ द्वादशोऽध्यायः ॥

सङ्गति—" कविंपुराणमनुशासितारमणोरणीयांसं " गी० ८ । ९ और " यदक्षरंवेदविदोवदन्ति " गी० ८ । ११ इत्यादिकों में आपने निर्गुणब्रह्म का ध्यान कथन किया, और " मत्कर्मकृन्मत्परमोमद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेतिपाण्डव " गी० ११ । ५५ इस में आकर सगुण ब्रह्म का कथन किया । एवं निर्गुण और

सगुण ब्रह्म की उपासना विषयक सन्देह की निवृत्ति के लिये अर्जुन यह प्रश्न करते हैं कि :—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥१॥

पद०—एवं। सततयुक्ताः। ये। भक्ताः। त्वां। पर्युपासते। ये। च। अपि। अक्षरं। अव्यक्तं। तेषां। के। योगवित्तमाः॥

पदार्थ—(एवं) इस प्रकार (सततयुक्ताः) चित्तवृत्ति के निरोध से निरंतर परमात्मा में जुड़े हुए (ये भक्ताः) जो भक्त (त्वां पर्युपासते) तुम्हारी उपासना करते हैं (च) और (ये अपि अक्षरं अव्यक्तं) जो अक्षर परमात्मा की उपासना करते हैं (तेषां) उनमें से (के) कौन (योगवित्तमाः) विशेषकर योग को जानते हैं॥

भाष्य— इस प्रश्न को अर्जुन ने निर्गुण सगुण के भाव से उठाया है, अस्मच्छब्द का वाच्य गीता में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार का ब्रह्म है अर्थात् मैं या मेरा इन शब्दों से कृष्ण जी किसी स्थान में निर्गुण ब्रह्म का कथन करते हैं और किसी स्थान में सगुण का॥

ननु, तुम्हारे वैदिक मत में तो ब्रह्म सर्वथा निर्विशेष है, फिर तुमने परस्पर विरुद्ध सगुण निर्गुण यह दोनों धर्म ब्रह्म में कैसे मान लिये? उत्तर—हमारे मत में ब्रह्म सविशेष और निर्विशेष दोनों धर्मों वाला है, और यह धर्म परस्पर विरुद्ध इस लिये नहीं कि विशेषण युक्त होने से सविशेष कहलाता है और विशेषण रहित होने से निर्विशेष कहलाता है, जैसाकि "**अपाणिपा**

दः” श्वे० ३ । १९ इत्यादि वाक्य निर्विशेष को वर्णन करते हैं और “सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म” इत्यादि सविशेष को। वह एक ही वस्तु प्राकृत धर्मों से रहित होने से निर्विशेष है और अपने धर्मों के सहित होने से सविशेष है, इसलिये परस्पर विरोध नहीं। परस्पर विरोध तो उनके मतमें है जो ईश्वर को प्राकृत धर्मों वाला मानकर निर्गुण और सगुण मानते हैं जैसाकि आधुनिक समय के सनातन भाष्यकर ईश्वर को विरुद्धधर्माश्रय मानते हैं। निर्विशेषवादी स्वामी शं० चा० इसका बल पूर्वक खण्डन करते हैं कि कूटस्थब्रह्म स्थिति और गति के समान विरुद्ध धर्मों का आश्रय नहीं हो सक्ता। इस बातको हम वेदान्तार्य्यभाष्य और आर्य्यमन्तव्यप्रकाश के अनेक स्थलों में वर्णन कर आए हैं कि निराकार परमेश्वर में निर्गुण और सगुण परस्पर विरोधि धर्म नहीं रहसक्ते। अस्तु, ईश्वर में परस्पर विरोधि धर्म नहों, पर यहां तो कृष्ण जी ने तुम्हारे निर्विशेष अक्षर ब्रह्मसे बढ़कर मूर्त्तिमान् को ही उपास्य बतलाया है, फिर निर्विशेष ब्रह्मकी उपासना श्रेष्ठ कैसे? उत्तर—कृष्णजी ने यहां मूर्त्तिमान को श्रेष्ठ नहीं बतलाया किन्तु यह बतलाया है कि जो लोग संप्रज्ञात समाधिद्वारा उस परमात्माका चिन्तन करते हैं उनके लिये अधिक कठिनता नहीं, और जो असंप्रज्ञात योग द्वारा केवल निर्विशेष का अनुभव करते हैं उनके मार्ग में अधिक कठिनाई है, क्योंकि संप्रज्ञात योगमें परमात्माकी सच्चिदानन्दादि गुणाकार वृत्तियें बनी रहती हैं और असंप्रज्ञात योगमें उन सब वृत्तियों का निरोध करना पड़ता है, इस आशयसे यहां अक्षर ब्रह्म प्राप्तिके मार्ग को क्लिष्ट कहा है, और वस्तुतः यह अनुभव सिद्ध भी है कि जबतक परमात्मा के सच्चिदानन्दादि विशेषणों

से उसकी उपासना करते हैं तबतक कुछ कठिनाई प्रतीत नहीं होती पर जब इन सब गुणों को भुलाकर उसके अक्षर स्वरूप में चित्तवृत्ति निरोध कियाजाता है उसमें अत्यन्त कठिनाई पड़ती है जैसाकि :—"तदाद्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्" यो० १।१।३ में वर्णन किया है कि उस समय उस परमात्माके स्वरूप में चित्त वृत्ति निरोध कियाजाता है, इस अभिप्राय से कृष्ण जी कहते हैं कि :—

श्री भगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२

पद०—मयि । आवेश्य । मनः । ये । मां । नित्ययुक्ताः । उपासते । श्रद्धया । परया । उपेताः । ते । मे । युक्ततमाः । मताः ॥

पदार्थ—(मयिआवेश्य मनः) मेरे में मनको लगाकर (ये) जो लोग (मां) मेरी (नित्ययुक्ताः उपासते) नित्ययोगसे युक्त होकर उपासना करते हैं (श्रद्धया परया उपेताः) परमश्रद्धा से युक्त (ते) वे (मे) मुझको (युक्ततमाः मताः) युक्ततम अभिमत हैं ॥

भाष्य—अहं शब्द के अर्थ यहां परमात्मा के हैं इसबात को सविशेषवाद और निर्विशेषवाद इनदोनोंसम्प्रदायों के टीकाकार मानते हैं कि अस्मच्छब्द से यहां कृष्णने सगुण ब्रह्मका निरूपण किया है, उस सगुणब्रह्म की उपासना करनेवाले योगियों को युक्ततम इसलिये कहागया है कि वे परमात्मा के सत्य सङ्कल्पादि धर्मों के द्वारा उस परमात्मा के साथ शीघ्र जुड़ जाते हैं, और अक्षर के उपासक अर्थात् निर्बीज समाधि करने वालों को चित्तकी सब वृत्तियों के निरोध करने में कठिनाई पड़ती है, यहां साकार की

उपासना के अभिप्राय से कृष्णजी ने यह कथन नहीं किया कि जो मेरी उपासना करते हैं वह युक्ततम हैं। यदि इस अभिप्रायसे यह कथन होता तो गीता के अन्यस्थलों में अक्षर की उपासना कथन न की जाती और नाहीं "सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितं" गी० १३। १४ इत्यादि श्लोकों में उस ज्ञेय ब्रह्मको सर्व धर्मों से रहित वर्णन किया जाता, अधिक क्या सार यह है कि यदि कृष्णजी को अपनी उपासना से यहां साकार मूर्त्ति आदिकों की उपासना अभिमत होती तो किसी साकार वस्तुको यहां उपास्य अवश्य वर्णन करते। और अभ्यास से ज्ञान और ज्ञानसे ध्यान, ध्यानसे कर्म के फलका त्याग, यह उत्तरोत्तर श्रेष्ठ की प्रणाली न कथन की जाती, फिर तो जो मूर्त्ति की अधिक पूजाकरता वही श्रेष्ठ कथन कियाजाता। हमारे विचार में तो यहां संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात योगका कथन है, इसी अभिप्राय से निम्न लिखित दो श्लोकों द्वारा निर्गुण ब्रह्मवेत्ताओं का वर्णन करते हैं:—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३

पद०—ये। तु। अक्षरं। अनिर्देश्यं। अव्यक्तं। पर्युपासते। सर्वत्रगं। अचिन्त्यं। च। कूटस्थं। अचलं। ध्रुवं॥

पदार्थ—(अक्षरं अनिर्देश्यं) जो अक्षर निर्देश्य से रहित है (अव्यक्तं) सूक्ष्म है (सर्वत्रगं) सब जगह व्यापक है (अचिन्त्यं) चिन्तनमें नहीं आसकता (कूटस्थं) निर्विकार है (अचलं) एकस्थान से दूसरे स्थान में नहीं जा सकता (ध्रुवं) स्थिर है (ये) जो (पर्युपासते) ऐसे अक्षरकी उपासना करते हैं:—

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवंति मामेव सर्वभूत हितेरताः ॥४॥

पद०—सन्नियम्य । इन्द्रियग्रामं । सर्वत्र । समबुद्धयः । ते । प्राप्नुवंति । मां । एव । सर्वभूतहितेरताः ॥

पदार्थ—(ते) वे (प्राप्नुवंति मां एव) मुझको ही प्राप्त होते हैं जो (सर्वभूत हितेरताः) सब भूतों के हित में लगे हुए हैं, वे कैसे हैं (इन्द्रियग्रामं) इन्द्रियों के समुदाय को (सन्नियम्य) निरोध करके (सर्वत्र समबुद्धयः) सब स्थानों में समबुद्धि वाले हैं ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५

पद०—क्लेशः । अधिकतरः । तेषां । अव्यक्तासक्तचेतसां । अव्यक्ता । हि । गतिः । दुःखं । देहवद्भिः । अवाप्यते ॥

पदार्थ—(तेषां अव्यक्तासक्तचेतसां) अव्यक्त में लगे हुए चित्त वाले पुरुषों को (अधिकतरः) अधिक (क्लेशः) कष्ट होता है (हि) इस कारण से कि (अव्यक्ता गतिः) अव्यक्त विषयक गति (देहवद्भिः) देह वालों से (दुःखं अवाप्यते) दुख से पाई जाती है ॥

भाष्य—अव्यक्त विषयक गति की प्राप्ति को दुःख वाली इस अभिप्राय से कहा है कि वह संप्रज्ञात समाधि की अपेक्षा से कठिन है । संप्रज्ञात समाधि में विशेषणाकार वृत्तियों के बने रहने से सर्ववृत्ति निरोधरूपी कठिनाई नहीं पड़ती, इसलिये यहां सुकर होने से जिज्ञासु को उसी का उपदेश करते हैं:—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायंत उपासते ॥ ६

पद०—ये । तु । सर्वाणि । कर्माणि । मयि । संन्यस्य । मत्पराः । अनन्येन । एव । योगेन । मां । ध्यायन्तः । उपासते ॥

पदार्थ—(सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य) सब कर्मों को मुझमें अर्पण करके अर्थात् निष्काम कर्म करके (ये) जो पुरुष (अनन्येन एव योगेन) ईश्वर की अनन्यभक्ति से (मां ध्यायन्तः उपासते) ध्यान द्वारा मेरी उपासना करते हैं, फिर कैसे हैं (मत्पराः) मेरे परायण हैं ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ७

पद०—तेषां । अहं । समुद्धर्त्ता । मृत्युसंसारसागरात् । भवामि । नचिरात् । पार्थ । मयि । आवेशितचेतसां ॥

पदार्थ—(मयि आवेशितचेतसां) मेरे में लगाया हुआ है चित्त जिन्होंने (तेषां) उनको (मृत्युसंसारसागरात्) मृत्युरूपी संसार सागर से (अहं समुद्धर्त्ता) मैं उद्धार करने वाला हूं, हे पार्थ (नचिरात्भवामि) देरी से नहीं अर्थात् शीघ्र ही ॥

भाष्य—जो पुरुष मेरे परायण हैं उनके उद्धार करने में मैं विलम्ब नहीं करता । यहां कृष्ण जी का यह आशय नहीं कि जो मेरे नाम की माला फेरते हैं उनके उद्धार करने में मैं विलम्ब नहीं करता, किन्तु यह तात्पर्य्य है कि जो ईश्वर परायण होते हैं उनके उद्धार करने में ईश्वर विलम्ब नहीं करता जैसाकि:—"**नायमात्माप्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुनाश्रुतेन**" कठ० १ । २३ इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट है कि परमात्म परायण-पात्र को ही परमात्मा की प्राप्ति होती है । यदि व्यास जी का

तात्पर्य्य वसुदेव के पुत्र कृष्ण के भक्तों के उद्धार में होता तो आगे जाकर ध्यान और अनुष्ठान का उपदेश न किया जाता। जैसाकि :—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८

पद०—मयि । एव । मनः । आधत्स्व । मयि । बुद्धिं । निवेशय । निवसिष्यसि । मयि । एव । अतः । ऊर्ध्वं । न । संशयः ॥

पदार्थ—(मयि एव) मेरे में ही (मनः) मनका (आधत्स्व) धारण कर (मयि बुद्धिं निवेशय) मेरे में बुद्धिको स्थिरकर (निवसिष्यसि मयि एव) मेरे में ही निवास करोगे (अतः ऊर्ध्वं न-संशयः) ऐसा करने के अनन्तर मुझको प्राप्त होगे, इस में सन्देह नहीं ।

भाष्य—इस श्लोक को मायावादी टीकाकारों ने साकार की उपासना में लगाया है, पर उनके मत में "अतऊर्ध्वं मय्येव निवसिष्यसि" यह नहीं घट सक्ता, क्योंकि साकारोपासना से उनके मत में ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती, ब्रह्मप्राप्ति का साक्षात् साधन उनके मत में तत्त्वमस्यादि वाक्य जन्य ज्ञान है अर्थात् तु ब्रह्म है, इत्यादि उपदेश के अनन्तर वेलोग ज्यों का त्यों ब्रह्म बन जाते हैं और यही उनके मत में ब्रह्म में निवास है, और यही ब्रह्मप्राप्ति है, अस्तु, यहां विचार योग्य बात यह है कि अस्मच्छब्द का वाच्य कृष्णजी के अभिप्राय में कोई साकार वस्तु नहीं किन्तु यही संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात योग है जिसका वर्णन हम पीछे कर आए हैं और उसीको "मत्कर्मपरमोभव" इत्यादि वाक्यों से आगे कथन करते हैं:—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९

पद०—अथ । चित्तं । समाधातुं । न । शक्नोषि । मयि । स्थिरं । अभ्यासयोगेन । ततः । मां । इच्छ । आप्तुं । धनंजय ॥

पदार्थ—(अथ) यदि (चित्तं) चित्त को (मयि) मेरे विषयक (स्थिरं समाधातुं) स्थिर स्थापन करने को (न शक्नोषि) समर्थ नहीं (ततः) तो, हे धनंजय (अभ्यासयोगेन) अभ्यासयोग से (मां आप्तुं इच्छ) मुझको प्राप्त होने की इच्छा कर ॥

भाष्य—मधुसूदन आदि टीकाकारों ने इस श्लोक को प्रतिमा पूजन में लगाया है जिसका गन्धमात्र भी इस श्लोक में प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यदि यह श्लोक प्रतिमा पूजन का विधान करता तो इस अग्रिम श्लोक में यह कथन न किया जाताकिः—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि १०

पद०—अभ्यासे । अपि । असमर्थः । असि । मत्कर्मपरमः । भव । मदर्थं । अपि । कर्माणि । कुर्वन् । सिद्धिं । अवाप्स्यसि ॥

पदार्थ—(अभ्यासे अपि असमर्थः असि) यदि तू अभ्यास में भी असमर्थ है तो (मत्कर्मपरमः भव) मेरे आश्रित होकर कर्म कर (मदर्थं अपि कर्माणि कुर्वन्) मेरे अर्थ भी कर्मों को करता हुआ (सिद्धिं अवाप्स्यति) सिद्धि को प्राप्त होगा ॥

भाष्य—अभ्यास के अर्थ यहां समाधि के हैं अर्थात् तू संप्रज्ञात समाधि नहीं करसक्ता तो ईश्वर परायण होकर निष्काम कर्म ही कर । पौराणिक मत में यहां अभ्यास और मत्कर्मादि

शब्दों के अर्थ भी मूर्त्तिपूजा के ही हैं जैसाकिः—"श्रवणंकीर्त्तनंविष्णोःस्मरणंपादसेवनं। अर्चनंबन्दनंदास्यं सख्यमात्म निवेदनम्" अर्थ—रामकृष्णादि नामों का श्रवण करना, उनका (कीर्त्तनं) गायन करना (स्मर्णं) स्मरण करना (पादसेवनं) साकार मूर्त्तियों का चरण सेवन करना (अर्चनं) पूजन करना (बन्दनं) नमस्कार करना (दास्यं) दास भाव करना (सख्यं) मैत्रीभाव करना (आत्मनिवेदनं) अपने आत्मा को उनके अर्पण करदेना, इत्यादि सबबातें मधुसूदन आदि टीकाकारों ने मत्कर्मादि वाक्यों से निकाली हैं। यदि यह भाव इस श्लोक का होता तो योगाभ्यास की असमर्थता वर्णन करके फिर ऐसी पूजा कथन न की जाती। यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि जो योगाभ्यास में असमर्थ हैं उन्हीं के लिये तो प्रतिमापूजन है? इसका उत्तर यह है कि आठवें श्लोक में जो यह कह आए हैं कि मेरे में मनको लगा और नवें में यह कथन किया है कि यदि मेरे में मनको नहीं लगासक्ता तो अभ्यासयोग कर, इस प्रकार उनके मत में साकार पूजा के अनन्तर अभ्यास योग का विधान न किया जाता। हमारे विचार में तो उत्तरोत्तर निष्कामादि कर्मों को सुकर प्रतिपादन किया है और वह प्रतिपादन किसी पूजा विशेष के अभिप्राय से नहीं किन्तु शमविधि के अभिप्राय से है अर्थात् रागद्वेष के अभाव बोधन करने के अभिप्रायसे है जैसाकिः—"तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी" गी० १२।१९ में कथन किया है। इसी अभिप्राय से परमात्म परायण आदि एक से एक सुकर कर्मों का विधान आगे वर्णन करते हैं:—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।

सर्वकर्मफलत्यागंततः कुरु यतात्मवान् ॥११

पद०—अथ । एतत् । अपि । अशक्तः । असि । कर्त्तुं । मद्योगं । आश्रितः । सर्वकर्मफलत्यागं । ततः । कुरु । यतात्मवान् ॥

पदार्थ—(अथ) यदि (एतत्) यह काम (अपि) भी (कर्त्तुं) करने को (अशक्तः असि) असमर्थ हो तो (मद्योगंआश्रितः) मेरे योग को आश्रय करके (ततः) फिर (यतात्मवान्) यत्न वाला होकर (सर्वकर्मफलत्यागंकुरु) सब कर्मों के फलका त्यागकर॥

भाष्य—"मद्योग" के अर्थ यहां परमात्म परायण होनेके हैं कि तु एकमात्र परमात्मा को आश्रित करके सर्व कर्मों के फल का त्याग कर ॥

सं०—अब उस सर्व कर्म त्याग का फल कथन करते हैं :—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानंविशिष्यते । ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छांतिरनंतरम् ॥ १२ ॥

पद०—श्रेयः । हि । ज्ञानं । अभ्यासात् । ज्ञानात् । ध्यानं । विशिष्यते । ध्यानात् । कर्मफलत्यागः । त्यागात् । शान्तिः । अनन्तरं ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (हि) निश्चय करके (अभ्यासात् ज्ञानंश्रेयः) अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है और (ज्ञानात्) ज्ञानसे (ध्यानं) ध्यान (विशिष्यते) विशेष है (ध्यानात् कर्मफलत्यागः) ध्यान से कर्मों के फलका त्याग श्रेष्ठ है, त्यागके (अनन्तरं) पश्चात्, पुरुष (शान्तिः) शान्ति को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में इस औपनिषद भावको कथन किया गया है :—"**यदासर्वेप्रमुच्यन्तेकामा येऽस्यहृदिश्रि**

ताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्मसमश्नुते" ॥
कठ० ६। १४ अर्थ—जब यह मरणधर्मा मनुष्य अपने हृदय की सब कामनाओं को छोड़देता है तब यह अमृत होजाता है, और इस दशामें ब्रह्मको प्राप्तहोता है। इसप्रकार इसश्लोकमें सब कामनाओं के त्याग से ब्रह्मप्राप्ति कथन कीगई है, और वह ईश्वर की भक्ति से होती है, जैसा कि :—"समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" यो० १। २। ४५ "ततःप्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"यो० १।१।२९ अर्थ—ईश्वरकी निदिध्यासनरूप भक्ति से समाधि की सिद्धि होती है और उससे सर्वगत परमात्मा की प्राप्ति और विघ्नों का अभाव होता है। इस प्रकार समाधि के भावको यह अध्याय वर्णन करता है, औरजो यह कहाथा कि निर्गुण के उपासकों को क्लेश होता है, इसके अर्थ मधुसूदन स्वामी यह करते हैं कि यह बात सगुण उपासना की स्तुति के अभिप्राय से कहीगई है इसकातात्पर्य्य निर्गुणब्रह्मउपासनाके निषेध में नहीं, अस्तु प्रसंग संगति से यह बात हमने यहां कथन करदी वरन इनकी निन्दास्तुति से निर्गुण ब्रह्मकी निन्दा कदापि नहीं होसकती, जबयेस्वयंयहलिखतेहैं कि" निर्विशेषं परमंब्रह्मसाक्षात्कर्त्तुमनीश्वराः। येमन्दास्तेनु कंप्यंतेसविशेष निरूपणैः" अर्थ—निर्विशेष ब्रह्मके साक्षात्कार करने में जो असमर्थ हैं वे मन्दपुरुष सगुण ब्रह्मके निरूपण से अनुग्रह किये जाते हैं अर्थात् उनपर दया की जाती है। इस कथनने स्पष्ट कर दिया कि अक्षर के उपासक सन्मार्ग में स्थिर हैं, यह साकार का उलटा सूधा मार्ग तो मन्द पुरुषों के

लिये ही है अक्षर के उपासकों के लिये नहीं। इस बातको हम वेदान्तार्य्यभाष्यके उभयलिङ्गाधिकरण में विस्तार पूर्वकलिखआए हैं कि ब्रह्म प्राकृतरूपों से कभी साकार नहीं होता, इसलिये यहां इसका लिखनाउपयुक्त नहीं समझा। प्रकृत यह है कि निर्गुण अक्षर ब्रह्मके उपासक ही वास्तव में योग वित्तम हैं जैसाकि :— "प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः" गी० ७। १७ "ज्ञानीत्त्वात्मैवमेमतं" गी० ७। १८ इत्यादि श्लोकों का ध्यान धरके मधुसूदन आदि टीकाकारों ने भी अक्षर ब्रह्मके उपासकों को ही सर्वोपरि रखदिया, और जो पूर्व यह कथन किया था कि अक्षरके उपासकों को अधिक क्लेश होता है, और साकार के भक्त योगवित्तम कहलाते हैं, इस लेखको यहां आकर अद्वैतवादी टीकाकारों ने अर्थवाद बनादिया, और स्वामी शं० चा० ने तो इस श्लोक के भाष्य में साकारोपासकों को परतंत्र सिद्धकरके अक्षर के उपासकोंको स्वतन्त्र होने से सर्वोपरि सिद्ध करादिया, ठीक है, जड़ोपास्ति से अधिक संसार में और क्या परतन्त्रता है, इसी अभिप्राय से "अथयोऽन्यांदेवता-मुपासते" बृ० ३।२।८ इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में साकारोपासकों की निन्दा की है॥

सं०—अब अग्रिम सात श्लोकों में निष्काम कर्मी चतुर्थाश्रमी ईश्वर भक्तों के गुण वर्णन करते हैं:—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममोनिरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥१३

पद०—अद्वेष्टा। सर्वभूतानां। मैत्रः। करुणः। एव। च।

निर्ममः । निरहंकारः । समदुःखसुखः । क्षमी ॥

पदार्थ०—हे अर्जुन जोपुरुष (सर्वभूतानां अद्वेष्टा) किसीप्राणी के साथ द्वेष नहीं करता (मैत्रः) मैत्री वाला है (करुणः एव च) और करुणा वाला है (निर्ममः निरहंकारः) ममता और अहंकार से रहित है (समदुःखसुखः) दुःखसुख को सम जानता है (क्षमी) क्षमा वाला है। फिर कैसा हैः—

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मेभक्तःस मे प्रियः। १४

पद०—सन्तुष्टः । सततं । योगी । यतात्मा । दृढ़निश्चयः । मयि । अर्पितमनोबुद्धिः । यः । मद्भक्तः । सः । मे । प्रियः ॥

पदार्थ—(सन्तुष्टः सततं) जो यथा लाभ निरन्तर सन्तुष्ट है (योगी) परमात्मा में जुड़ा हुआ है (यतात्मा) यत्नशील है, दृढ़ निश्चय वाला है (मयि अर्पित मनोबुद्धिः) परमात्मा में अर्पण करदी है मनः=संकल्प करने की शक्ति और बुद्धिः=विचार करने की शक्ति जिसने (यः) वह पुरुष (मद्भक्तः) परमात्मा का भक्त है (सः मे प्रियः) वह परमात्मा का प्यारा है ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यःस च मे प्रियः ॥१५

पद०—यस्मात् । न । उद्विजते । लोकः। लोकात् । न । उद्विजते । च । यः । हर्षामर्षभयोद्वेगैः । मुक्तः । यः। सः। च । मे । प्रियः॥

पदार्थ—(यस्मात्) जिससे (लोकः न उद्विजते) यह प्राणधारी जीव भय नहीं करते (च) और (यः) जो (लोकात्)

लोगों से (न उद्विजते) भय नहीं करता और जो (हर्षामर्षभयोद्वेगैः) हर्ष=इष्ट वस्तु को प्राप्त होकर प्रसन्न होना और अमर्ष=दूसरे को अधिक देखकर दुःखी होना, भय=मरण से भयकरना, उद्वेग=व्याकुल रहना, यह चार प्रकार की जो चित्तकी वृत्तियें हैं इनसे (यः) जो (मुक्तः) मुक्त है (सः च मे प्रियः) वह परमात्मा का प्यारा भक्त है ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागीयोमद्भक्तः स मे प्रियः १६

पद०—अनपेक्षः । शुचिः । दक्षः । उदासीनः । गतव्यथः । सर्वारम्भपरित्यागी । यः । मद्भक्तः । सः । मे । प्रियः ॥

पदार्थ—(अनपेक्षः) जो किसी की आवश्यकता नहीं रखता (शुचिः) पवित्र रहता है (दक्षः) चतुर है (उदासीनः) शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि विषयों से उपराम रहता है (गतव्यथः) किसी प्रकार का दुःख नहीं मानता (सर्वारम्भपरित्यागी) परिग्रह वाले सब प्रारम्भों का जिसने परित्याग करदिया है, ऐसा भक्त परमात्मा को प्रिय है ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागीभक्तिमान्यःसमेप्रियः१७

पद०—यः । न । हृष्यति । न । द्वेष्टि । न । शोचति । न । कांक्षति । शुभाशुभपरित्यागी । भक्तिमान् । यः । सः । मे । प्रियः ॥

पदार्थ –(यः) जो (नहृष्यति) किसी इष्ट वस्तु को प्राप्त होकर प्रसन्न नहीं होता (नद्वेष्टि) अनिष्ट वस्तुको प्राप्त होकर न द्वेष करता है (न शोचति) न शोक करता है (न कांक्षति) न

इच्छा करता है (शुभाशुभ परित्यागी) शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के फल को जिसने त्यागदिया है, ऐसा भक्त परमात्मा को प्रिय है ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥१८

पद०—समः । शत्रौ । च । मित्रे । च । तथा । मानापमानयोः । शीतोष्णसुखदुःखेषु । समः । संगविवर्जितः ॥

पदार्थ—(समः शत्रौ च मित्रे च) जो शत्रु और मित्र में समान है (तथा मानापमानयोः) मान अपमान में समान है (शीतोष्ण सुखदुःखेषु) शीत, उष्ण, सुख, दुःख, में (समः) समान है, फिर कैसा है (संग विवर्जितः) किसी का संग नहीं करता अर्थात् सर्वदा एकान्त रहता है ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनीसन्तुष्टोयेनकेनचित्
अनिकेतःस्थिरमतिर्भक्तिमान्मेप्रियोनरः १९

पद०—तुल्यनिन्दास्तुतिः । मौनी । सन्तुष्टः । येन । केनचित् । अनिकेतः । स्थिरमतिः । भक्तिमान् । मे । प्रियः । नरः ॥

पदार्थ—(तुल्यनिन्दास्तुतिः) निन्दा स्तुति में तुल्य रहता है (मौनी) अपनी वाणी पर दण्ड रखता है अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर बोलता है और (सन्तुष्टः येन केनचित्) जो कुछ उसकी प्रारब्धानुकूल मिल जाता है उसी में सन्तुष्ट रहता है (अनिकेतः) कोई घर नहीं रखता (स्थिरमतिः) दृढ़ निश्चय वाला है (भक्तिमान् मे प्रियः नरः) ऐसी भक्ति वाला पुरुष परमात्मा को प्यारा है ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।

श्रद्दधानामत्परमाभक्तास्तेऽतीवमेप्रियाः२०

पद०—ये । तु । धर्म्यामृतं । इदं । यथा । उक्तं । पर्युपासते । श्रद्दधानाः । मत्परमाः । भक्ताः । ते । अतीव । मे । प्रियाः ॥

पदार्थ—(इदंधर्म्यामृतं) इस धर्म पूर्वक अमृत को जो (यथा-उक्तं) पूर्व वर्णन किया गया है (ये) जो पुरुष (पर्युपासते) ऐसे अमृत का अनुष्ठान करते हैं, फिर वह कैसे हैं (श्रद्दधानाः) श्रद्धा वाले हैं (मत्परमाः) परमात्मा परायण हैं (भक्ताः ते) वे भक्त (अतीव मे प्रियाः) परमात्मा को अत्यन्त प्यारे हैं ॥

भाष्य—इन श्लोकों में संन्यास धर्म का उपदेश किया है अर्थात् १२वें श्लोक में जो निष्काम कर्म का फल शान्ति कथन की गई थी उसी शान्ति को इन आठ श्लोकों में वर्णन किया है, उसी शान्ति का नाम धर्म्यामृत है अर्थात् मोक्ष धर्म है। इस मोक्ष धर्म का इस श्लोकाष्टक में वर्णन किया गया है, यह उपदेश वर्ण-चतुष्टय के लिये नहीं किन्तु चतुर्थाश्रमी संन्यासी के लिये है, संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात समाधि के प्रसङ्ग में यह उपदेश ग्रन्थकार ने यहां प्रसङ्ग सङ्गति से वर्णन किया है, इस उपदेश में एक यह बात ध्यान रखने योग्य है कि जो आधुनिक वेदान्ति यह कहा करते हैं कि संन्यासी के लिये कोई विशेष कर्तव्य नहीं रहता वह स्वयं ब्रह्म बन जाता है, इस बात को यहां कृष्ण जी ने खण्डन कर दिया, और इन श्लोकों में स्पष्ट रीति से यह वर्णन कर दिया कि सर्वथा निरपेक्ष होने पर भी संन्यासी परमात्मा का भक्त बना रहता है। इसी अभिप्राय से प्रायः सब श्लोकों के अन्त में "यो मद्भक्तः स मे प्रियः" यह कथन किया गया है अर्थात् जो इस प्रकार का भक्त है वह परमात्मा को अत्यन्त प्रिय है और जैसाकि:-

"प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः" गी० ७।१७ इत्यादि श्लोकों में भी वर्णन किया गया है। आधुनिक वेदान्तियों के मतानुकूल इस धर्म्यामृत की सङ्गति तब लगती जब प्रत्येक श्लोक के अंत में भक्ति के स्थान में जीव को ब्रह्म भाव का उपदेश किया जाता। पर ऐसा नहीं, इस षट्क में परमात्मा की विभूति और उसके ध्यानकर्त्ता योगेश्वरों का उस परमात्मा से उपास्य उपासक भावरूप सम्बन्ध निरूपण किया है॥
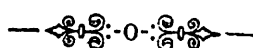
इति श्री मदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्री मद्भगवद्गीता योगप्रदीपार्य्य भाष्येभक्तियोगोनाम द्वादशोऽध्यायः॥

इति श्री भगवद्गीताया द्वितीयंषट्कं समाप्तम्॥

अथ

॥ त्रयोदशोऽध्यायः ॥

सङ्गति—पूर्व षट्कमें जीवात्मा का नित्यत्व प्रतिपादन करके अर्जुन के शोक मोहादिकों की निवृत्ति की, फिर मध्यम षट्क में परमात्मा की विभूति और उसके ध्यानकर्त्ता योगेश्वरोंका उससे सम्बन्ध निरूपण किया। अब इस तृतीय षट्क में जीव, ईश्वर, प्रकृति, इन तीनों के गुणों का तथा भेदका वर्णन स्पष्टरीति से किया जाता है। और जीव प्रकृति के सम्बन्ध से जो चार वर्ण और चार आश्रम हैं उनके धर्मों का भी इस षट्क में विशेष वर्णन है। मायावादियों के मतमें इस षट्क की सङ्गति पूर्व के दोनों षट्कों से इसप्रकार है कि उनके मतमें प्रथम षट्क में त्वं पदार्थ अर्थात् जीव का निरूपणहै और मध्यम षट्क में तत्पदार्थ अर्थात् ईश्वर का निरूपण है, और इस तृतीय षट्क में तत् त्वं पदार्थ के अभेद रूप महावाक्यों के अर्थको निरूपण कियागया है अर्थात् जीव ब्रह्मकी एकता इस षट्क में वर्णन की गई है॥

गीता के पूर्वोत्तर देखने से इनकी यह सङ्गति सर्वथा असङ्गत प्रतीत होती है क्योंकि यदि जीवब्रह्मकी एकता को यह षट्क प्रतिपादन करता तो जीवको ब्रह्मबोधन करने वाले वाक्य इसमें अवश्य होते! हम दृढ़ प्रतिज्ञा से कहते हैं कि जीवको ब्रह्म बोधन करने वाला वाक्य इसमें एक भी नहीं॥

ननु—"क्षेत्रज्ञञ्चापि मांविद्धि सर्वक्षेत्रेषुभारत" गी० १३। २ इस में कृष्ण जी ने अपने आपको क्षेत्रज्ञ कहा है, इससे पाया जाता है कि क्षेत्रज्ञ जीव को ब्रह्मभाव का उपदेश किया गया है, तथा "ममैवांशोजीवलोकेजी-

व भूतः सनातनः" गी० १५।७ इसमें जीव को अपना अंश वर्णन किया है और अंशाअंशी का अभेद पाया जाता है, फिर यह कैसे कहाजाता है कि यह षट्क जीव ब्रह्मकी एकता को वर्णन नहीं करता ? उत्तर—यदि अपने आपको क्षेत्रज्ञ प्रतिपादन करने से यहां जीवब्रह्मकी एकता होगई तो "अहंहि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च" गी० ९।२४ और "भूतानामस्मिचेतना" गी० १०।२२ इत्यादिकों में जीवब्रह्म की एकता क्यों नहीं ? यदि यह कहो कि इन वाक्यों में तो परमात्मा ने अपनी विभूति वर्णन की है, इस लिये परमात्मा को सर्वोपरि बोधन करने में इन वाक्यों का तात्पर्य्य है, इस लिये जीव ब्रह्म की एकता नहीं ? तो उत्तर यह है कि इस क्षेत्रज्ञाध्याय में भी परमात्मा ही अपने आपको क्षेत्रज्ञ कहता है और परमात्मा ही जीव को अपना अंश वर्णन करता है, इस प्रकार यहां भी परमात्मा के महत्व का वर्णन है नकि जीव को ब्रह्मकथन किया गयाहै। मायावादियों के मतानुकूल जीव ब्रह्मकी एकता तब होती जब जीवको ब्रह्मभावका उपदेश किया जाता जैसा कि इनके मतानुकूल तत्त्वमसि इस वाक्य में जीवको ब्रह्मभावका उपदेश किया गया है। यदि यह कहो कि जब जीव को परमात्माका अंश वर्णन कर दिया तो फिर जीवब्रह्म की एकता में न्यूनता ही क्या रही ? इसका उत्तर यह है कि अंश वर्णन करने का तात्पर्य्य परमात्मा से विभक्त होकर जीवके अंश बनने का नहीं, किन्तु उसका एक देशी होने से अंश कहागया है जैसाकि "पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" यजु० ३१।३ इस वेद मंत्रमें सब भूतों को परमात्मा

का एक देशी होने से अंशरूप से वर्णन किया गया है, यह अंश बोधकवाक्य जीव ब्रह्मकी एकता को विधान नहीं करता किन्तु उसके एक देशमें होनेवाले अंशरूप जीवको विधान करता है। माया वादियों के अंशाअंशी भावका जो विशेष खण्डन देखना चाहें वह "कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्व शब्द कोपो वा" ब्र०सू० २।१।२६ इस सूत्रके भाष्य में तथा अंशाधिकरण के वेदान्तार्य भाष्यमें देखलें यहां हम विस्तारके भयसे नहीं लिखते। एवं पूर्वोत्तर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि मायावादियों ने तीनों षट्कों की सङ्गति मायावाद में लगाने के लिये मायामात्र से रचली है कि प्रथमके दोनों षट्क तत् त्वं पदका वर्णन करते हैं और यहषट्क उन दोनों के अभेदका वर्णनकरता है, यह बात सर्वथाउलटी है क्योंकि प्रकृति और जीवका भेद, जीव ईश्वर का भेद, जीवों के सात्त्विक, राजस, तामसादि स्वभाव, चारों वर्णों के भिन्न २ धर्म, इत्यादि अनेक भेदकी बातों को यह षट्क वर्णन करता है। सचतो यह है कि येनकेन प्रकार से जीव ब्रह्म की एकताकी ओर मध्यम षट्कको तो यह खेंच सक्ते हैं पर यहां तो जीव ब्रह्मकी एकता का गंधमात्र भी नहीं, फिर इस षट्क को जीवब्रह्मकी एकता का बोधक कैसे कहते हैं? पर विचारे क्या करें इस षट्क को यदि जीव ब्रह्मकी एकता का बोधक न बतलाएं तो मध्यम षट्क में वर्णन की हुई एकता को यह षट्क फिर मिटा देता है, इसलिये इन्होंने इसी को जीव ब्रह्मकी एकता का भाण्डार माना है। अस्तु इन छ अध्यायों के सत्यार्थ से ज्ञातहो जायगा कि इस षट्क का तत्त्व क्या है। देखो :—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

पद०—इदं । शरीरं । कौन्तेय । क्षेत्रं । इति । अभिधीयते । एतत् । यः । वेत्ति । तं । प्राहुः । क्षेत्रज्ञः । इति । तद्विदः ॥

पदार्थ—(कौन्तेय) हे अर्जुन (इदं शरीरं) यह प्रकृतिरूपी शरीर (क्षेत्रं इति अभिधीयते) क्षेत्रनाम से कथन कियाजाता है (एतत् यः वेत्ति) इसको जो जानता है (तं) उसको (क्षेत्रज्ञः) क्षेत्रज्ञ नाम से (तद्विदःप्राहुः) उसके जाननेवाले पुरुष कथन करते हैं ॥

भाष्य—कौन्तेय = कुन्ती का पुत्र होने से अर्जुन को सम्बोधन दिया है, क्षेत्र के अर्थ यहां प्रकृति के हैं, वह इस प्रकार कि जो स्वयं क्षयको प्राप्त हो उसको क्षेत्र कहते हैं, क्योंकि यह छिन्न भिन्न होती रहती है अर्थात् परिणामी है इसलिये क्षेत्र कहीगईहै, और इसका ज्ञाता होने से क्षेत्रज्ञ नाम से जीवको कथन किया है ।

सं०—अब इस प्रकृतिरूपी क्षेत्र के सर्व ज्ञाता परमात्मा का वर्णन किया जाता है:—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

पद०—क्षेत्रज्ञं । च । अपि । मां । विद्धि । सर्वक्षेत्रेषु । भारत । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः । यत् । ज्ञानं । तत् । ज्ञानं । मतं । मम ॥

पदार्थ—हे भारत (सर्वक्षेत्रेषु) प्रकृति के ब्रह्माण्डरूपी सब क्षेत्रों में (क्षेत्रज्ञं च अपि मां विद्धि) क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान (क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः यत् ज्ञानं) क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है (तत्ज्ञानं मम मतं) वह ज्ञान मुझे ज्ञात है ॥

भाष्य—इस श्लोक में प्रकृति के सब ब्रह्माण्डों का ज्ञाता परमात्मा ने अपने आपको कथन किया है, इसलिये इस श्लोक

में परमात्मा का वर्णन है । मायावादियों के मत में इस श्लोक में कृष्णजी ने जीव ब्रह्म की एकता वर्णन की है, वह इस प्रकार कि जब क्षेत्रज्ञ नामा जीवको कृष्णजी ने अपना आप कहदिया तो इसके अर्थ यह हुए कि जीवका जीवभाव जो अविद्या करके कल्पित है उसको छोड़कर हे अर्जुन तु इस जीव को परमात्मा रूप से जान अर्थात् अन्तःकरणादि सब उपाधियों से रहित उस जीवको तु असंसारी ब्रह्मरूपजान । इस अर्थ में उपनिषदों के यह चार वाक्य प्रमाण दिये हैं :—"अयमात्माब्रह्म" बृ० २ । ५ । १९ "अहंब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" "प्रज्ञानमानन्दंब्रह्म" ऐ० ५ । ३, अर्थ—(१) यह जीवात्मा ब्रह्म है (२) मैं ब्रह्म हूं (३) तु ब्रह्म है (४) यह आनन्दरूप प्रज्ञान नाम वाला जीव ब्रह्म है । मायावादी उक्त वाक्यों के यह अर्थ करते हैं । सार यह है कि माया से कल्पना किया हुआ यह प्रकृति रूपी क्षेत्र रज्जु सर्प के समान इनके मतमें मिथ्या है, इस मिथ्या रूप भ्रम का अधिष्ठान ब्रह्म सत्य है,इस प्रकारका क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही इनके मतमें यथार्थज्ञान है, इसीलिये कहा है कि "यत्तद्ज्ञानं मतंमम" कि जो इस प्रकार का ज्ञान है वही ज्ञान परमात्मा को यथार्थरूपसे इष्ट है । मायावादियोंके इन अर्थों का गंधमात्र भी इस श्लोक में नहीं पायाजाता, यदि इस श्लोक में इनके माने हुए उक्त वाक्योंका यही अर्थ होता तो जीवको ब्रह्मरूप से गीता के किसी न किसी स्थानमें व्यास जी अवश्य वर्णनकरदेते, पर ऐसा कहीं भी कथन नहीं किया कि यह जीवात्मा ब्रह्म है, और इनके मतमें जो उक्त वाक्यों के अर्थ किएगए हैं वह सर्वथा असंगत हैं । सत्यार्थ यह हैं (१) यह सर्वगतआत्मा ब्रह्म है,

इस वाक्य में आत्मा नाम परमात्मा का है (२) वामदेव ने परमात्मा के सत्य संकल्पादि धर्मों को धारण करके कहा है कि मैं ब्रह्म हूं जैसा कि कौषीतकी में इन्द्र ने प्रतर्दन को को कहा है (३) छान्दोग्य में उद्दालक ने श्वेतकेतु को कहा है कि तेरा यह सत्स्वरूप है जो मरता नहीं (४) ब्रह्म प्रज्ञान स्वरूप है और आनन्दस्वरूप है। पूर्वोत्तर संगति से इनके अर्थ वेदान्तार्य्य भाष्यभूमिका में लिखे हैं उनके यहां लिखने से अधिक विस्तार होता था अतएव नहीं लिखे। सार यह है कि यदि मायावादियों के मतानुकूल यह प्रकृतिरूपी क्षेत्र ब्रह्म में रज्जु सर्प के समान कल्पित होता और जीव ब्रह्मकी एकता ही इस श्लोक का तत्त्व होता तो चतुर्थ श्लोक में जाकर जो यह कहा है कि मुझसे प्रथम ऋषियों ने और वेदों ने तथा ब्रह्मसूत्रों ने इस क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को विस्तार पूर्वक कथन किया है तो उस विस्ताररूपी कथन में इनके कल्पित की कहानी और जीवब्रह्म की एकता अवश्य होती, पर वेदों में और ब्रह्मसूत्रों में जीवब्रह्मकी एकता और कल्पित की कहानी का गंधमात्र भी नहीं। प्रत्युत परमात्मा को जीव का उपास्य कथन कियागया है जैसाकि :—"यन्मे-छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृएणं बृहस्पतिर्मेतद्दधातु। शंनोभवतु भुवनस्ययस्पतिः" यजु० ३६। २ अर्थ—हे परमात्मन् मेरे चक्षु, हृदय और मनके जो छिद्र हैं उनको तु पूर्ण कर, इस सम्पूर्ण भुवन का पतिजो तु है हमारे लिये कल्याणकारी हो, इत्यादिवेदमंत्रों में परमेश्वरकोजीव का उपास्य देव कथन किया है और इसी अर्थ को "अनुपपत्तेस्तु न शारीरः" ब्र० सू० १। २। ३ "कर्मकर्त्-

व्यपदेशाच्च" अ० सू० ४ "शब्दविशेषात्" अ० सू० ५ "स्मृतेश्च" अ०सू० ६ में वर्णनकिया है कि (१) जीव कभी भी ब्रह्म नहीं होसकता (२) ब्रह्म उपास्य है और जीव उपासक है (३) जीव ब्रह्म के कथन करने वाले शब्दों का भी भेद है (४) स्मृति से भी जीवब्रह्म का भेदपाया जाता है, इत्यादि वेद और ब्रह्मसूत्रों से जीवब्रह्मका भेदपाया जाता है, फिर इनके जीव ब्रह्मकी एकता की कथा विस्तार पूर्वक वेद और ब्रह्मसूत्रों में कहां है, और जो यह कहा है कि वह प्रकृतिरूपी क्षेत्र कल्पितहै, यदि यह क्षेत्र कल्पित होता तो इसका इस प्रकार भेदरूपसे वर्णन क्यों किया जाता ?

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥३॥

पद०—तत्। क्षेत्रं। यत्। च। यादृक्। च। यद्विकारि। यतः। च। यत्। सः। च। यः। यत्प्रभावः। च। तत्। समासेन। मे। शृणु॥

पदार्थ—(तत्क्षेत्रं) वह प्रकृतिरूपी क्षेत्र (यत् च) जैसा है (यादृक् च) जिस स्वभाववाला है (यद्विकारि) जिन २ विकारों वाला है (यतः च यत्) और जिस २ कारण से उत्पन्न होता है, और (सः च) वह क्षेत्रज्ञ (यः) जिस स्वभाववाला है (यत्प्रभावः) जिस प्रभाव वाला है (तत्) वह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का स्वरूप (समासेन) संक्षेप से (मे) मेरे से (शृणु) सुन॥

भाष्य—इस श्लोक में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को भिन्न २ वर्णन करने के लिये उपक्रम किया है॥

सं०—ननु, तुम जो कहते हो कि क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का

वर्णन संक्षेप से मेरे से सुनो तो क्या तुम से प्रथम किसीने इसका विस्तार पूर्वक भी वर्णन किया है ? उत्तर

ऋषिभिर्बहुधागीतंछन्दोभिर्विविधैःपृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैवहेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

पद०—ऋषिभिः । बहुधा । गीतं । छन्दोभिः । विविधैः पृथक् । ब्रह्मसूत्रपदैः । च । एव । हेतुमद्भिः । विनिश्चितैः ॥

पदार्थ—(ऋषिभिः) ऋषिलोगों ने (बहुधा) बहुत प्रकार से (गीतं) इसका वर्णन किया है (विविधैः छन्दोभिः) ऋग् यजुरादिवेदों ने पृथक् २ इस क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का भेद वर्णन किया है, और (ब्रह्मसूत्रपदैः) ब्रह्मसूत्रों के पदों ने भी इसका वर्णन किया है, वह ब्रह्मसूत्र कैसे हैं (हेतुमद्भिः) युक्तियों वाले हैं (विनिश्चितैः) निश्चित अर्थ वाले हैं ॥

भाष्य—प्रकृति और प्रकृति के कार्य्य ब्रह्माण्डरूपी क्षेत्रों का और उन क्षेत्रों के ज्ञाता क्षेत्रज्ञ परमात्मा का ऋषियों ने तथा वेद और ब्रह्मसूत्रों ने विस्तार पूर्वक वर्णन किया है जैसाकि:—

"**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्**" वृ० ३ । ७ । ३— इत्यादि उपनिषदों में शरीररूपी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ परमात्मा का ऋषियों ने वर्णन किया है और पुरुषसूक्तादिकों में वेदों ने वर्णन किया है तथा वेदान्तशास्त्र के प्रकृत्यधिकरण और प्रयोजनवत्त्वादि अधिकरणों में ब्रह्मसूत्रों ने वर्णन किया है । उक्त प्रकार से विस्तार पूर्वक वर्णन कियागया क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का स्वरूप मिथ्या कब होसक्ता है ॥

सं०—अब क्षेत्रके स्वरूप के अन्तर्गत इस महाभूतादि विश्व वर्ग का वर्णन करते हैं:—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥५

पद०—महाभूतानि। अहंकारः। बुद्धिः। अव्यक्तं। एव। च। इन्द्रियाणि। दश। एकं। च। पंच। च। इन्द्रियगोचराः॥

पदार्थ—(महाभूतानि) पृथिवी, जल, तेज, वायु, अकाश, यह पांच महाभूत और अहंकार तथा अहंकार का कारण महत्तत्त्वरूपी बुद्धि और (अव्यक्तं) प्रकृति (इन्द्रियाणि दश एकं च) पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय तथा ११वां मन, यह एकादश इन्द्रिय और (पंच च इन्द्रियगोचराः) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, यह पांच इन्द्रियों के विषय और:—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतनाधृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥६॥

पद०—इच्छा। द्वेषः। सुखं। दुःखं। संघातः। चेतना। धृतिः। एतत्। क्षेत्रं। समासेन। सविकारं। उदाहृतं।

पदार्थ—(इच्छा) अनुकूल पदार्थों की प्राप्ति का संकल्प (द्वेषः) प्रतिकूल पदार्थों में अप्रियबुद्धि (सुखं) जो अपने आप को अनुकूल प्रतीत हो (दुःखं) जो अपने आपको प्रतिकूल प्रतीत हो। पांचतत्त्वों की मिलावट जो यह शरीरहै उसका नाम संघात है। विचार करनेवाली शक्ति का नाम चेतना है। व्याकुल होनेपर चित्तको दृढ़ता देने वाली शक्ति का नाम धृति है (एतत् क्षेत्रं) यह क्षेत्र (स विकारं) विकार के सहित (समासेन)

संक्षेप से (उदाहृतं) वर्णन कियागया ॥

भाष्य—इन श्लोकों में प्रकृतिरूपी क्षेत्र अपने कार्य्य के साथ वर्णन किया गया है, जिस प्रकार से यहां वर्णन किया है यह सांख्यशास्त्र का प्रकार है जिससे पाया जाता है कि यहां किसी मिथ्याभूत वस्तु का नाम प्रकृति नहीं, किन्तु जगत् के कारण का नाम है। मायावादीलोग इसके अर्थ मिथ्याभूतमाया के करते हैं। यदि प्रकृति यहां माया के अर्थों में होती तो इसके मिथ्यापन में ग्रन्थकार कुछ अवश्य कहते, पर यहां तो "सविकारमुदाहृतं" इस विशेषण को देकर प्रकृति के कार्य्यों को विकारी माना है और प्रकृतिरूपी क्षेत्र को परिणामी नित्यमाना है। इनके मत में माया नित्य नहीं, यही इस क्षेत्ररूप प्रकृति और इनकी माया का बड़ा भेद है ॥

सं०—अब क्षेत्र प्रकृति के प्रतिपादनकरने केअनन्तर क्षेत्रज्ञ = जीवको प्रतिपादन करने के लिये आगे पांच श्लोकों में उसके सद्गुण कथन करते हैं :—

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

पद०—अमानित्वं। अदंभित्वं। अहिंसा। क्षान्तिः। आर्जवं। आचार्योपासनं। शौचं। स्थैर्यं। आत्मविनिग्रहः ॥

पदार्थ—(अमानित्वं) मान न करना (अदम्भित्वं) दंभ न करना, लोभके कारण अपने अपगुणों को छिपाकर सद्गुणरूप से प्रकट करने का नाम दंभ है (अहिंसा) हिंसा न करना (क्षान्तिः) शान्ति रखना (आर्जवं) किसी के साथछल न करना

(आचार्योपासनं) गुरूकी सेवा करना (शौचं) पवित्र रहना (स्थैर्यं) दृढ़ रहना (आत्मविनिग्रहः) मनको रोककर रखना ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८

पद०—इन्द्रियार्थेषु । वैराग्यं । अनहंकारः । एव । च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनं ॥

पदार्थ—(इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं) इन्द्रियोंके शब्द स्पर्शादि विषयों में इच्छा न रखना (अनहंकारः) अहंकार न करना (च) और (जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनं) जन्म, मृत्यु, जरा=वृद्धावस्था, व्याधि=रोग, दुख, इनमें दोषानुदर्शनं=दोषों का दिखलाना ॥

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

पद०—असक्तिः । अनभिष्वंगः । पुत्रदारगृहादिषु । नित्यं । च । समचित्तत्वं । इष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

पदार्थ—(पुत्रदारगृहादिषु) पुत्र, स्त्री, गृह आदि पदार्थों में (असक्तिः) मग्न न हो जाना (अनभिष्वंगः) इनमें ममता न करना (इष्टानिष्टोपपत्तिषु) इष्ट=अनुकूल, अनिष्ट=प्रतिकूल, इनकी उपपत्ति=प्राप्ति में (नित्यं च समचित्तत्वं) सदा एकरस रहना ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

पद०—मयि । च । अनन्ययोगेन । भक्तिः । अव्यभिचारिणी । विविक्तदेशसेवित्वं । अरतिः । जनसंसदि ॥

पदार्थ—(अनन्ययोगेन) एकमात्र परमात्मा में युक्त होकर (मयि) उसमें (अव्यभिचारिणी भक्तिः) दूसरे में न होने वाली भक्ति करना (विविक्तदेशसेवित्वं) एकान्त देशमें रहना (जनसंसदि) बहुत भीड़भाड़ में (अरतिः) प्रीति न रखना ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमितिप्रोक्तमज्ञानंयदतोऽन्यथा ११

पद०—अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं । तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं । एतत् । ज्ञानं । इति । प्रोक्तं । अज्ञानं । यत् । अतः । अन्यथा ॥

पदार्थ—(अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं) आत्मा विषयक ज्ञान में सदा प्रवृत्त रहना (तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं) तत्त्वज्ञान के लिये पुनः२ शास्त्र का अभ्यास करना (एतत्ज्ञानं इति प्रोक्तं) यह ज्ञान कथन किया गया है (यत्) जो (अतः अन्यथा) इससे अन्य है वह (अज्ञानं) अज्ञान है ॥

भाष्य—इन श्लोकोंमें जीव के ज्ञानप्रद गुणोंका कथन किया गया है और इनसे भिन्न मानित्व, दंभित्व, हिंसादि सब आत्मज्ञान के विरोधि होने से अज्ञानप्रद कहेगए हैं। इन गुणों में से "तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं" इत्यादि गुणों को मायावादियों ने जीव ब्रह्म की एकता में लगाया है, इनके मत में "मैं ब्रह्म हूं" यही तत्त्वज्ञान है और सब मिथ्या ज्ञान हैं। पर गीताके कर्त्ता व्यास जी का यह तात्पर्य्य नहीं, व्यासजी ने इन बीस साधनों को जो अमानित्व से लेकर तत्त्वज्ञान पर्य्यन्त कथन किये गये हैं ब्रह्मज्ञान के लिये कथन किया है ॥

सं०—अब वह ज्ञेय वस्तु ब्रह्म आगे ६ श्लोकों द्वारा प्रतिपादन किया जाता है :—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२

पद०—ज्ञेयं । यत् । तत् । प्रवक्ष्यामि । यत् । ज्ञात्वा । अमृतं । अश्नुते । अनादिमत् । परं । ब्रह्म । न । सत् । तत् । न । असत् । उच्यते ॥

पदार्थ—(यत्ज्ञेयंतत्प्रवक्ष्यामि) जो जानने योग्य है वह मैं कथन करता हूं (यत्ज्ञात्वा) जिसको जानकर (अमृतं अश्नुते) जीव अमृत को भोगता है (परंब्रह्म) वह परब्रह्म (अनादिमत्) अनादि है (न तत् सत् न असत् उच्यते) वह न सत् कहा जा सक्ता है और न असत् ॥

भाष्य—अमृत शब्द के अर्थ यहां मुक्ति के हैं कि उक्त ब्रह्म के ज्ञान से पुरुष मुक्ति को लाभ करता है । लोक में स्थूल कारण को सत् और कार्य्य को असत् कहाजाता है, इन दोनों अवस्थाओं से रहित होने से ब्रह्मको सत् और असत् से निराला कथन कियागया है ।

सं०—ननु, जब वह सत् असत् दोनों ही नहीं अर्थात् सर्वथा निर्विशेष है तो वह कैसे जाना जासक्ता है ? उत्तर

सर्वतःपाणिपादंतत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोकेसर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३

पद०—सर्वतःपाणिपादं । तत् । सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं । सर्वतःश्रुतिमत् । लोके । सर्वं । आवृत्य । तिष्ठति ॥

पदार्थ—(तत्) वह ब्रह्म (सर्वतः पाणिपादं) सब ओर से हस्तपादादि शक्तिवाला है (सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं) सब ओर चक्षु

सिर और मुख की शक्तिवाला है (सर्वतः श्रुतिमत्) सब ओर से सुनने की शक्तिवाला है (लोके सर्वं आवृत्य तिष्ठति) वह इस लोक में सबको व्याप्त करके स्थिर हो रहा है ॥

भाष्य—इसके यह अर्थ नहीं कि वह सब हस्तपादादि अवयव वाला है। यदि यह अर्थ होते तो "अपाणिपादः" श्वे० ३। १९ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से विरोध आता, इस विरोध के परिहार के लिये स्वामी रामानुज ने इसके यह अर्थ किये हैं कि "सर्वतश्चक्षुरादिकार्य्यकृत्" वह सब ओर से चक्षु आदि के कार्य्यों को करसक्ता है। इस प्रकार सर्वत्र सर्वशक्तिसम्पन्न होने से वह अभाववत् निर्विशेष नहीं किन्तु अपने गुणों से सविशेष है। मायावादियों के मत में हस्तपादादि अवयवों वाला होकर भी निर्गुण इस प्रकार होसक्ता है कि उनके मत में रज्जु सर्प के समान उसमें हस्तपादादि अवयव कल्पित हैं, इस लिये उन कल्पित अवयवों से अधिष्ठानभूत ज्ञेय ब्रह्म की कुछ हानि नहीं। पर यह अर्थ यदि इस श्लोक के होते तो निम्न लिखित श्लोक में निर्गुण सगुण का विरोध इस प्रकार न मिटायाजाता:—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तंसर्वभृच्चैवनिर्गुणंगुणभोक्तृ च ॥१४॥

पद०—सर्वेन्द्रियगुणाभासं। सर्वेन्द्रियविवर्जितं। असक्तं। सर्वभृत्। च। एव। निर्गुणं। गुणभोक्तृ। च॥

पदार्थ—फिर वह ज्ञेय ब्रह्म कैसा है (सर्वेन्द्रियगुणाभासं) सब इन्द्रियों के गुणों से जाना जा सकता है (सर्वेन्द्रिय विवर्जितं) और स्वयं सब इन्द्रियों से रहित है (असक्तं) सब बन्धनों से रहित है (सर्वभृत) सब को धारण करने वाला है (निर्गुणं)

निर्गुण है (गुणभोक्तृ च) और गुणों का भोक्ता है ॥

भाष्य—निर्गुण और सगुण के भेद को यहां इस प्रकार मिटाया गया है कि वह परमात्मा स्वयं निर्गुण है और इस सब प्राकृत जगत् के धारण करने से गुणों को उपलब्ध करता है इस लिये भोक्ता कथन किया गया है, वास्तव में वह भोक्ता नहीं। अद्वैतवादियों के मतमें इसके यह अर्थ हैं कि देह इन्द्रियादिकों में तादात्म्याध्यास से वह जीवभाव को प्राप्त होकर सब इन्द्रियों वाला और भोक्ता बन रहा है, पर वास्तव में वह ज्यों का त्यों ब्रह्म है भोक्ता नहीं, यह मिथ्यावाद के अर्थ यदि इस श्लोक के होते तो अग्रिम श्लोक में यह न कहा जाता कि:—

बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् १५

पद०—बहिः। अंतः। च। भूतानां। अचरं। चरं। एव। च। सूक्ष्मत्वात्। तत्। अविज्ञेयं। दूरस्थं। च अंतिके। च। तत् ॥

पदार्थ—हे अर्जुन वह ज्ञेय ब्रह्म (भूतानां) सब प्राणियों के (बहिः) बाहर (अंतः च) और भीतर है (अचरं चरं एव च) स्थिर है और चलता भी है (सूक्ष्मत्वात् तत् अविज्ञेयं) सूक्ष्म होने से वह अविज्ञेय है (च) और (दूरस्थं) दूर है (अंतिके च तत्) ज्ञान से उपलब्ध होने से वह सब के समीप है ॥

भाष्य—इस श्लोक में रज्जुसर्प के समान ब्रह्म के गुणों को कल्पित मानकर ब्रह्म को निर्गुण सिद्ध नहीं किया, किन्तु व्याप्य व्यापकभाव से बाहर और भीतर कथन किया है, निर्विकार होने से अचल और उत्पत्ति स्थिति आदि क्रियाओं का कर्त्ता होने से चलने वाला और सूक्ष्म होने से दुर्विज्ञेय कथन किया है,

तथा ज्ञान चक्षु से रहित पुरुषों से दूर कथन किया है और ज्ञान चक्षु वालों के लिये समीप कथन किया है। इस प्रकार का विरोध परिहार श्रुति स्मृति में तभी किया गया है जबकि उस ब्रह्म के गुण रज्जुसर्प के समान कल्पित नहीं। फिर वह ज्ञेय ब्रह्म कैसा है:—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च। १६

पद०—अविभक्तं। च। भूतेषु। विभक्तं। इव। च। स्थितं। भूतभर्तृ। च। तत्। ज्ञेयं। ग्रसिष्णु। प्रभविष्णु। च॥

पदार्थ—(भूतेषु अविभक्तं) भूतों में अविभक्त है अर्थात् विभाग को प्राप्त नहीं, और (विभक्तं इव च स्थितं) विभक्त के समान प्रतीत होता है (भूतभर्तृ च तत् ज्ञेयं) वह सब भूतों का स्वामी है तथा (ग्रसिष्णु) सबका लय करने वाला है (प्रभविष्णु) सबकी उत्पत्ति करने वाला है॥

भाष्य—अद्वैतवादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जैसे एक आकाश घट और मठादि उपाधियों से भिन्न २ हुआ घटाकाश और मठाकाश कहलाता है, इस प्रकार वह ब्रह्म ही सब देहों में प्रविष्ट होकर "विभक्तं इव च स्थितं" विभक्तकेसमानप्रतीत हो रहा है वास्तव में वह बंट नहीं रहा किन्तु महाकाश के समान एकही है। यह अर्थ करना मायावादियों की सर्वथा खैंच है! क्योंकि वह शुद्धब्रह्म अज्ञानरूपी उपाधि में नहीं फसता, यदि वह ब्रह्म इनके मतानुकूल अज्ञानरूपी उपाधि में आकर ही जीव बना हुआ होता तो यह न कहा जाता कि:—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥

पद०—ज्योतिषां । अपि । तत् । ज्योतिः । तमसः । परं । उच्यते । ज्ञानं । ज्ञेयं । ज्ञानगम्यं । हृदि । सर्वस्य । धिष्ठितं ॥

पदार्थ—(ज्योतिषां अपि तत् ज्योतिः) वह ज्ञेय ब्रह्म ज्योतियों की भी ज्योति है और (तमसः परं उच्यते) अज्ञानरूपी तमसे परे है (ज्ञानं) ज्ञानस्वरूप है (ज्ञान गम्यं ज्ञेयं) ज्ञानसे जानने योग्य ज्ञेय है और (हृदिसर्वस्याधिष्ठितं) सब प्राणियों के हृदय में स्थिर है ॥

भाष्य—इस श्लोक में स्पष्टरीति से वर्णन करदिया कि किसी उपाधि में फसकर ब्रह्म जीव नहीं बनता, वह स्वयंप्रकाश है और अज्ञानान्धकार से परे है ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयंचोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

पद०—इति । क्षेत्रं । तथा । ज्ञानं । ज्ञेयं । च । उक्तं । समासतः । मद्भक्तः । एतत् । विज्ञाय । मद्भावाय । उपपद्यते ॥

पदार्थ—(इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं) यह क्षेत्र तथा ज्ञान (च) और (ज्ञेयं) जानने योग्य ब्रह्म (समासतः) संक्षेप से (उक्तं) कथन कियागया (एतद्विज्ञाय) इसको जानकर (मद्भक्तः) मेरे भक्त (मद्भावाय) मेरे भावको (उपपद्यते) प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य—"मद्भावाय उपपद्यते" के अर्थ मायावादी यह करते हैं कि वह ब्रह्म बन जाता है । पर वास्तव में इसके अर्थ यह हैं कि क्षेत्र=प्रकृति और ज्ञेय=ब्रह्म, इन दोनों के पूर्ण

ज्ञानको उपलब्ध करके जिज्ञासु सत्यसंकल्पादि ब्रह्मके धर्मों को धारण करता है अर्थात् मुक्ति को प्राप्त होता है ॥

सं०—ननु, यदि ज्ञेय ब्रह्म कृष्ण से भिन्न होता तो वह "मद्भावाय उपपद्यते" यह कदापि न कहते किन्तु "तद्भावाय उपपद्यते" यह कहते अर्थात् उस ज्ञेय ब्रह्मके भावों को प्राप्त होता है। इससे पाया जाता है कि कृष्णही परमेश्वर है और उसीका अंश भूलकर जीव बना हुआ है और एक मात्र चेतन में यहसब प्राकृत धर्म रज्जु सर्प के समान कल्पित हैं! इस सन्देह की निवृत्ति के लिये प्रकृति, पुरुष, परमात्मा, इन तीन अनादियों का वर्णन किया जाता है :—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९

पद०—प्रकृतिं । पुरुषं । च । एव । विद्धि । अनादि । उभौ । अपि । विकारान् । च । गुणान् । च । एव । विद्धि । प्रकृति । संभवान् ॥

पदार्थ—(प्रकृतिं पुरुषं च एव) प्रकृति और जीवात्मा (उभौ अपि) इन दोनों को भी (अनादि विद्धि) अनादि जान (विकारान् च गुणान् च एव) विकार जो परिणामादि हैं और गुण जो सत्त्वादिक हैं उनको (प्रकृति संभवान्) प्रकृति से उत्पन्न हुए (विद्धि) जान ॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २०

पद०—कार्यकारणकर्तृत्वे । हेतुः । प्रकृतिः । उच्यते । पुरुषः ।

सुखदुःखानां । भोक्तृत्वे । हेतुः । उच्यते ॥

पदार्थ—(कार्य्यकारणकर्तृत्वे) कार्य्य = यह शरीररूपी कार्य्य, कारण = मन सहित इन्द्रियवर्ग, इनके कर्तृत्वे = करने में (प्रकृतिः हेतुः उच्यते) प्रकृति उपादान कारण कथन कीगई है और (पुरुषः) जीवात्मा (सुखदुःखानां) सुखःदुख के (भोक्तृत्वे) भोगने में (हेतुः उच्यते) हेतु कथन कियागया है ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थोहि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्यसदसद्योनिजन्मसु । २१

पद०—पुरुषः । प्रकृतिस्थः । हि । भुंक्ते । प्रकृतिजान् । गुणान् । कारणं । गुणसंगः । अस्य । सदसद्योनिजन्मसु ॥

पदार्थ—(पुरुषः प्रकृतिस्थः) प्रकृति में स्थिर हुआ यह जीव रूपी पुरुष (हि) निश्चय करके (प्रकृतिजान् गुणान्) प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को (भुंक्ते) भोगता है (अस्य गुणसंगः) इस जीवात्मा का जो प्रकृति के गुणों के साथ सम्बन्ध है वह (सदसद्योनि जन्मसु) ऊंच नीच योनियों में जन्म पाने में (कारणं) कारण है ॥

भाष्य—प्रकृति के अर्थ यहां मायावादियों ने माया के किये हैं और "गुणसंगः" के अर्थ उस माया के गुणों में फसकर जो अध्यास होता है कि यह मैं हूं, यह मेरा है, यह अध्यास ही जीव के जन्मों में इन के मतमें कारण है, और उस अध्यास से रहित पुरुष ही इन के मतमें परमेश्वर है । इन के अध्यासवाद का यह अर्थ यदि गीता में होता तो न जीव को अनादि कहा जाता और नाहीं प्रकृति को अनादि कहा जाता, क्योंकि इनके मत में जीव भी अध्यास से बनता है, इसलिये अनादि नहीं ।

और माया भी स्वरूप के अज्ञान से ही उत्पन्न होती है इसलिये वह भी अनादि नहीं, यदि इनके अध्यास की फ़िलासफ़ी गीता में होती तो अनादि पदार्थों का कथन गीता में कदापि न होता और नाही तीसरा अनादि पदार्थ जो परमात्मा है उसको सबका स्वामी कथन कियाजाता । जैसाकि:—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेतिचाप्युक्तोदेहेऽस्मिन्पुरुषःपरः २२

पद०—उपद्रष्टा । अनुमन्ता । च । भर्त्ता । भोक्ता । महेश्वरः । परमात्मा । इति । च । अपि । उक्तः । देहे । अस्मिन् । पुरुषः।परः ॥

पदार्थ—(उपद्रष्टा) साक्षी (अनुमन्ता) जीवकृत कर्मों के शुभाशुभ फल का दाता (भर्त्ता) सब जीवों को उनके कर्मानुकूल फल देकर भरण पोषण करनेवाला (भोक्ता) एकमात्र अपने आनन्दस्वरूप का अनुभव कर्त्ता (महेश्वरः) सब से वड़ी सामर्थ्य वाला (परमात्मा) परमेश्वर (अस्मिन् देहे) इस देह में (परः पुरुषः अपि उक्तः) परम पुरुष भी कथन कियागया है ॥

भाष्य—इस श्लोक में स्पष्टरीति से जीव और प्रकृति से परमात्मा भिन्न वर्णन कियागया है । इससे यह भी स्पष्ट होगया कि कृष्णजी का अपने आपको ईश्वर मानना यदि यथार्थ होता तो इस क्षेत्रज्ञाध्याय में ज्ञेय ब्रह्म को अपने से भिन्न वर्णन न करते और नाही प्रकृति पुरुष के तत्त्वज्ञान से मोक्ष मानते, जैसाकि नीचे के श्लोक में वर्णन किया है:—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह । सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

पद०—यः । एवं । वेत्ति । पुरुषं । प्रकृतिं । च । गुणैः । सह ।

सर्वथा । वर्त्तमानः । अपि । न । सः । भूयः । अभिजायते ॥

पदार्थ—(यः एवं वेत्ति पुरुषं) जो इस प्रकार परमात्मा पुरुष को जानता है और (गुणैः सह) गुणों के साथ प्रकृति को जानता है (सः) वह (सर्वथा वर्त्तमानः अपि) सर्वथा संसार में रहता हुआ भी (भूयः) फिर (न अभिजायते) कर्मफल भोग के लिये जन्म धारण नहीं करता ॥

भाष्य—इस श्लोक में इस बात को कथन किया है कि परमात्मा को उपलब्ध करने वाला पुरुष प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने के अनन्तर जन्म नहीं लेता, किन्तु मुक्ति को प्राप्त होता है ॥

सं०—अब उस आत्मज्ञान का प्रकार कथन करते हैं कि उस परमात्मा का ज्ञान किस प्रकार होता है:—

ध्यानेनात्मनिपश्यंतिकेचिदात्मानमात्मना। अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥२४

पद०—ध्यानेन । आत्मनि । पश्यन्ति । केचित् । आत्मानं । आत्मना । अन्ये । सांख्येन । योगेन । कर्मयोगेन । च । अपरे ॥

पदार्थ—(ध्यानेन आत्मनि पश्यन्ति) कई एक पुरुष ध्यान से उस परमात्मा को देखते हैं और (केचित्) कईएक (आत्मना) सूक्ष्म बुद्धिद्वारा सदसद्विवेक से परमात्मा को जानते हैं (अन्ये-सांख्येन योगेन) और वैदिक वाक्यों के श्रवण और उनके युक्ति पूर्वक मनन से (कर्मयोगेन च अपरे) और कोई एक लोग निष्काम कर्मोंद्वारा परमात्मा को जानते हैं ॥

सं०—अब मन्द अधिकारियों के लिये जो श्रवण, मनन, द्वारा परमात्मा को नहीं जानसक्के उनके लिये परमात्मा प्राप्तिके साधन कथन करते हैं:—

अन्येत्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपिचातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः२५

पद०—अन्ये । तु । एवं । अजानन्तः । श्रुत्वा । अन्येभ्यः । उपासते । ते । अपि । च । अतितरन्ति । एव । मृत्युं । श्रुतिपरायणाः ।

पदार्थ—(अन्ये तु एव अजानन्तः) और तो श्रवण मननादिकों को न जानते हुए (अन्येभ्यः श्रुत्वा) ओरों से सुनकर (उपासते) परमात्मा की उपासना करते हैं (ते अपि) वह भी (मृत्युं) इस मृत्युरूपी संसार सागर को (अतितरन्ति एव) उल्लङ्घन कर जाते हैं, फिर वह कैसे हैं (श्रुतिपरायणाः) जो वैदिक मार्ग को आश्रय किये हुए हैं ॥

भाष्य—उत्तम, मध्यम, मन्द, तीनों प्रकार के अधिकारियों को यहां परमात्मा की प्राप्ति कथनकी है अर्थात् केवलध्यानद्वारा उत्तम अधिकारियों को, और श्रवण, मनन द्वारा मध्यम अधिकारियों को, और उक्त साधनों में जो असमर्थ हैं उन अधिकारियों के लिये "श्रुतिपरायणाः" कहकर केवल वैदिकमार्ग के श्रवण करने से परमात्मा की प्राप्ति कथन की । सार यह निकला कि मंद से मंद अधिकारी को भी किसी प्रतीकादिमार्ग द्वारा परमात्मा की प्राप्ति नहीं कथन की, और नाही जीव ब्रह्मकी एकता द्वारा किसी को परमात्म प्राप्ति कथन की है ॥

सं०—अब इस चराचर जगत् की उतपत्ति का कारण क्षेत्र क्षेत्रज्ञकासंयोग वर्णन करते हैं :—

यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

पद०—यावत् । संजायते । किंचित् । सत्त्वं । स्थावरजंगमं । क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् । तत् । विद्धि । भरतर्षभ ॥

पदार्थ—(भरतर्षभ) हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन (यावत् स्थावर जंगमं सत्त्वं किंचित् संजायते) जो कुछ यह चराचर कोई भी वस्तु उत्पन्न होती है (क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्) परमात्मा और प्रकृति के संबंध से (तत् विद्धि) उसको जान ॥

भाष्य—मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि संसारमें जो कोई वस्तु उत्पन्न होती है वह क्षेत्र=अनिर्वचनीय अविद्या और क्षेत्रज्ञ=परमात्मा, इन दोनों का जो मिथ्याज्ञान से तादात्म्याध्यास है उससे यह सब संसार उत्पन्न होता है। पर इस क्षेत्रज्ञाध्याय में किसी स्थान में भी क्षेत्रके अर्थ माया वा अविद्या के नहीं, इसलिये इनके यह आविद्यक अर्थ सर्वथा निर्मूल हैं ॥

सं०—अब इस प्रकृतिरूपी क्षेत्र में परमात्मा की नित्यता को वर्णन करते हैं :—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठंतं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७॥

पद०—समं । सर्वेषु । भूतेषु । तिष्ठंतं । परमेश्वरं । विनश्यत्सु । अविनश्यंतं । यः । पश्यति । सः । पश्यति ॥

पदार्थ—(सर्वेषु भूतेषु) सब प्राणियों में (समं तिष्ठंतं परमेश्वरं) एक रस रहते हुए परमात्मा को (यःपश्यति) जो जानता है (सःपश्यति) वही ठीक जानता है, वह परमात्मा कैसा है (विनश्यत्सु अविनश्यंतं) जो इन सब पदार्थों के नाश होते हुए अविनाशी रहता है ॥

सं०—परमात्मा के इस यथार्थज्ञान का फल कथनकरते हैं :—

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् । न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

पद०—समंपश्यन् । हि । सर्वत्र । समवस्थितं । ईश्वरं । न । हिनस्ति । आत्मना । आत्मानं । ततः । याति । परां । गतिं ॥

पदार्थ—(सर्वत्र समवस्थितं ईश्वरं) सर्वत्र एक रस परमात्मा को (हि) निश्चय करके (समंपश्यन्) एक रस देखता हुआ पुरुष (आत्मना) अपने आप से (आत्मानं) अपने आप को (न हिनस्ति) हनन नहीं करता (ततः) इस यथार्थ ज्ञान के अनन्तर (परांगतिं) मुक्ति को (याति) प्राप्त होता है ॥

भाष्य—अपने आप से अपना हनन वह कहलाता है कि जो मनुष्य वर्ग के धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी फल चतुष्टय से भ्रष्ट हो कर अधोगति को प्राप्त होना है, जो पुरुष परमात्मा को सर्वगत देखता है वह उसके इस उत्तम ज्ञान से मन्द कर्म नहीं करता इस लिये अपने आपसे अपना नाश नहीं करता ॥

सं०—ननु, किसी को परमात्मा ने सुखी बनाया है और किसी को दुखी, किसी को ऊंच और किसी को नीच, ऐसे विषम दृष्टि वाले परमात्मा को एक रस कैसे देख सकता है? उत्तर

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः । यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

पद०—प्रकृत्या । एव । च । कर्माणि । क्रियमाणानि । सर्वशः । यः । पश्यति । तथा । आत्मानं । अकर्त्तारं । सः । पश्यति ॥

पदार्थ—(सर्वशः कर्माणि) सर्वप्रकार के कर्म (प्रकृत्या एव क्रिय माणानि) प्रकृति से किये जाते हैं (यः पश्यति तथा आत्मानं) जो इस प्रकार परमात्मा को देखता है (अकर्त्तारं सः पश्यति) वह उसे अकर्त्ता देखता है ॥

भाष्य—जीवकी प्रकृति से जो शुभाशुभ कर्म किये जाते हैं उन कर्मों का फलदेने वाला केवल परमात्मा है। इसलिये उसमें पूर्वोक्त विषम दृष्टि का दोष नहीं आता ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३०

पद०—यदा । भूतपृथग्भावं । एकस्थं । अनुपश्यति । ततः । एव । च । विस्तारं । ब्रह्म । संपद्यते । तदा ॥

पदार्थ—(यदा) जब (भूतपृथग्भावं) पृथिवी आदि भिन्न २ भूतों को (एकस्थं अनुपश्यति) एक परमात्मा में स्थिर देखता है और (ततः एव च विस्तारं) उसी परमात्मा से इस ब्रह्माण्ड का विस्तार देखता है (तदा) तब (ब्रह्मसंपद्यते) ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि पृथिवी आदि भूतों के भेद को जो प्रलयकाल में एकमात्र परमात्माके आश्रित मानता है, और उसी से फिर उत्पत्तिकाल में विस्तार समझता है, वह "ब्रह्मसंपद्यते" ब्रह्म को प्राप्त होता है। अद्वैतवादी इस के यह अर्थ करते हैं कि जिस प्रकार रज्जु में कल्पित सर्प रज्जु से भिन्न नहीं होता और सुवर्ण के कुण्डलादिक सुवर्ण से भिन्न नहीं होते, इस प्रकार सब भूतों को जो ब्रह्म में कल्पित समझता है वह "ब्रह्मसंपद्यते" अर्थात् ब्रह्म बन जाता है।

इन के यह अर्थ यहां इसलिये नहीं घटते कि उक्त श्लोक में कल्पित होने की कथा कहीं भी नहीं और नाही ब्रह्म बनने का कथन है किन्तु ब्रह्म को प्राप्त होने का कथन है, जैसाकि कोई यह कहे कि "देवदत्तोग्रामं संपद्यते" तो इस के यह अर्थ होते हैं कि देवदत्त ग्राम को प्राप्त होता है, न कि ग्राम बन जाता है। स्वामी रामानुज इस के यह अर्थ करते हैं कि:—

"ब्रह्म सम्पद्यते = अनवच्छिन्न ज्ञानैकाकारमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः" अर्थ—ब्रह्मसंपद्यते के अर्थ यह हैं कि अपरमित ज्ञान वाला जो परमात्मा है उसको जीव प्राप्त होता है, यह ज्ञानगम्य प्राप्ति कहलाती है अर्थात् ज्ञान द्वारा उस को उपलब्ध करता है॥

सं०—ननु, जब वह सब भूतों के भीतर स्थिर है तो फिर वह जीववत् पुण्य पापका भागी क्यों नहीं होता? इस प्रश्न का नीचे तीन श्लोकों द्वारा उत्तर देते हैं॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपिकौन्तेयनकरोतिनलिप्यते ३१

पद०—अनादित्वात्। निर्गुणत्वात्। परमात्मा। अयं। अव्ययः। शरीरस्थः। अपि। कौन्तेय। न। करोति। न। लिप्यते॥

पदार्थ—हे कौन्तेय (अनादित्वात्) अनादि होने से (निर्गुणत्वात्) निर्गुण होने से (अयंअव्ययः) यह निर्विकार परमात्मा (शरीरस्थः अपि) शरीर के भीतर रहकर भी, (न करोति) न कर्त्ता है, और (न लिप्यते) न संग को प्राप्त होता है॥

सं०—वह कैसे संग को प्राप्त नहीं होता? उत्तर

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ३२

पद०—यथा । सर्वगतं । सौक्ष्म्यात् । आकाशं । न । उपलिप्यते । सर्वत्र । अवस्थितः । देहे । तथा । आत्मा । न । उपलिप्यते ॥

पदार्थ—(सौक्ष्म्यात्) सूक्ष्म होने से (यथा) जैसे (सर्वगतं) सर्वव्यापक (आकाशं) आकाश (न उपलिप्यते) सङ्ग दोषको प्राप्त नहीं होता (तथा) इसीप्रकार (आत्मा सर्वत्र देहे अवस्थितः) परमात्मा सब देहों में स्थिर होकर भी (न उपलिप्यते) सङ्गदोष को प्राप्त नहीं होता ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ३३

पद०—यथा । प्रकाशयति । एकः । कृत्स्नं । लोकं । इमं । रविः । क्षेत्रं । क्षेत्री । तथा । कृत्स्नं । प्रकाशयति । भारत ॥

पदार्थ—हे भारत (इमं कृत्स्नं लोकं) इस सम्पूर्ण लोकको (यथा) जैसे (एकः रविः प्रकाशयति) एक सूर्य्य प्रकाश करता है (तथा) इसीप्रकार (कृत्स्नं क्षेत्रं) इस सम्पूर्ण प्रकृतिरूपी क्षेत्रको (क्षेत्री) क्षेत्र वाला परमात्मा (प्रकाशयति) प्रकाश करता है ॥

सं०—अब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेदज्ञान का महत्व कथनकरके और कर्मों से छूटने के ज्ञान का महत्व वर्णन करके इस अध्याय को समाप्त करते हैं :—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमंतरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यांति ते परम् ।३४

पद०—क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः । एवं । अन्तरं । ज्ञानचक्षुषा । भूतप्रकृति-

मोक्षं । च । ये । विदुः । यांति । ते । परं ॥

पदार्थ—(क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः) क्षेत्र = प्रकृति, क्षेत्रज्ञ = परमात्मा, इन दोनों के (अन्तरं) भेदको, और (भूतप्रकृतिमोक्षं) जीवों के प्रकृतिरूप स्वाभाविकजो कर्मउसके मोक्षं = त्यागको (ज्ञानचक्षुषा) ज्ञान चक्षुओं द्वारा (ये विदुः) जो जानते हैं (ते) वे (परं) परमात्मा को (यांति) प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में क्षेत्र = प्रकृति और क्षेत्रज्ञ = परमात्मा के भेद ज्ञान द्वारा मुक्ति कथन की है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि मायावादियों का एकत्वज्ञान मुक्ति का कारण नहीं। और ३०वें श्लोक में जो इन्होंने यह अर्थ किये थे कि रज्जु सर्प के समान इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को कल्पित समझकर जो ब्रह्म के एकत्व को जानता है वह ब्रह्म बन जाता है। इस भाव को यहां व्यासजी ने प्रकृति पुरुष का भेद ज्ञान प्रतिपादन करके सर्वथा मिटा दिया, और मायावादियों ने भूत प्रकृति के अर्थ अविद्या के करके "भूतप्रकृतिमोक्षं" के अर्थ अविद्या के नाशके किये हैं, यह भी इनके मत में नहीं घट सकते, क्योंकि इनके मत में सब भेदज्ञान आविद्यक है, फिर उस आविद्यक भेद ज्ञान को रखकर इनकी अविद्या का नाश कैसे कहला सकता है? सारांश यह है कि इनके मतमें माया, अविद्या, अज्ञान, एक ही वस्तु के नाम हैं और उस अविद्यारूपी माया में यह सब ब्रह्माण्ड कल्पित है, इस अविद्या के अर्थ में यदि यहां "भूतप्रकृति" इस शब्द का प्रयोग होता तो इस अध्याय में प्रकृति पुरुष का भेद प्रतिपादन न किया जाता जिसको कोई मायावादी सहस्रों युक्ति उक्तियों से भी मिटा वा छिपा नहीं सकता। फिर "भूतप्रकृ

तिमोक्षं" के अर्थ इस भेद ज्ञान के नाशक कैसे हो सक्ते हैं। अतएव इसके यही अर्थ हैं कि जो प्राणियों में स्वाभाविक कर्म करने की सामर्थ्यरूप प्रकृति है उसका निष्काम कर्म द्वारा जो मोक्ष नाम त्याग करता है वह परमपद मुक्ति को प्राप्त होता है ॥

इति श्री मदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्री मद्भगवद्गीता योगप्रदीपार्य्यभाष्ये प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥
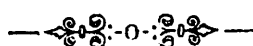
अथ

॥ चतुर्दशोऽध्यायः ॥

सङ्गति—१३ वें अध्याय में प्रकृति, पुरुष और परमात्मा का भेद वर्णन किया, और फिर "कारणं गुणसङ्गोऽस्यसदसद्योनिजन्मसु" गी० १३। २१ इस वाक्य से प्रकृति के गुणों का सङ्ग जीव के जन्म का हेतु वर्णन कियागया। अब किस प्रकार प्रकृति के गुण बन्धन का हेतु होते हैं और उनसे पुरुष किस प्रकार बच सक्ता है, इस बातको विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिये इस अध्याय का प्रारम्भ कियाजाता है। प्रथम दो श्लोकों में इस ज्ञान के महत्व को वर्णन करते हैं:—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वामुनयःसर्वे परां सिद्धिमितोगताः।१

पद०—परं । भूयः । प्रवक्ष्यामि । ज्ञानानां । ज्ञानं । उत्तमं । यत् । ज्ञात्वा । मुनयः । सर्वे । परां । सिद्धिं । इतः । गताः ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (ज्ञानानां) सब ज्ञानों में से (उत्तमं ज्ञानं) जो उत्तम ज्ञान है (परं) परम श्रेष्ठ है, उसको (भूयः प्रवक्ष्यामि) फिर तुमको उपदेश करता हूं (यत् ज्ञात्वा) जिसको जानकर (सर्वे मुनयः) सब मुनि (इतः) यहां से (परां सिद्धिं) मुक्तिको (गताः) प्राप्त हुए हैं ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।२

पद०—इदं । ज्ञानं । उपाश्रित्य । मम । साधर्म्यं । आगताः । सर्गे । अपि । न । उपजायन्ते । प्रलये । न । व्यथन्ति । च ॥

पदार्थ—(इदंज्ञानं) इस ज्ञानको (उपाश्रित्य) लाभ करके (मम) मेरी (साधर्म्य) बराबरी को (आगताः) जो प्राप्त हुए हैं (सर्गे अपि न उपजायन्ते) ऐसे ज्ञानीलोग फिर जन्म में नहीं आते, और (प्रलये न व्यथन्ति च) प्रलयकाल में दुःख नहीं पाते ॥

भाष्य—साधर्म्य शब्द के अर्थ यहां तद्धर्मतापत्ति के हैं, तद्धर्मतापत्ति उसको कहते हैं कि परमात्मा की परम भक्ति से उसके गुणों को अपने में धारण कर लेना, जैसा परमात्मा सत्य संकल्प है वैसाही सत्यसंकल्प होना, जैसा निष्पाप है वैसाही निष्पाप होना, जैसा वह विज्ञानी है वैसेही विज्ञान को धारण करना,

इत्यादि अनेक परमात्मा के धर्म हैं जिनको धारण करने से तद्धर्मतापत्ति कहलाती है । यह तद्धर्मतापत्ति ही वैदिकमत में मुक्ति है,और इसीको ऐश्वर्य्य प्राप्तिभी कहतेहैं जैसाकिः– "स खल्वेवंवर्त्तयन्यावदायुषंब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" छा० ८।१५।१ इत्यादि वाक्यों में वर्णन कियागया है । और जो यह कहा है कि वह फिर जन्म में नहीं आते और दुःख नहीं पाते यह कथन इस ज्ञान की स्तुति के अभिप्राय से है वास्तव में नहीं । यदि यह कथन वास्तविक होता तो ब्रह्मलोक वालों को मुक्ति से लौटना कृष्णजी क्यों कथन करते ?

सं०—अब जगत् के उपादान कारण प्रकृति को ईश्वराधीन कथन करते हैंः—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३

पद०—मम । योनिः । महद्ब्रह्म । तस्मिन् । गर्भं । दधामि । अहं । सम्भवः । सर्वभूतानां । ततः । भवति । भारत ॥

पदार्थ—(मम)मेरे आधीन (योनिः) उपादानकारण(महद्ब्रह्म) जो प्रकृति है (तस्मिन्) उसमें (अहं) मैं (गर्भंदधामि) गर्भको धारण कराता हूं, हे भारत (सर्वभूतानां) सब प्राणियोंकी (ततः) इसी से (संभवः भवति) उत्पत्ति होतीहै ॥

भाष्य—"महद्ब्रह्म" यहां प्रकृति का नाम है, वह इस प्रकार कि सब कार्य्य समूह से प्रकृति बड़ी है इसलिये महत् कही गई है, और कार्य्यों की वृद्धि का हेतु है इसलिये ब्रह्मकही गई है, अथवा महत्नाम महत्तत्व का है उसकी वृद्धिका हेतु होने से प्रकृति

को महद्ब्रह्म कहा है। मायावादियों के मतमें यहां महद्ब्रह्म माया का नाम है, इनके मत में माया से ही ईश्वर में कर्तृत्व है वास्तव में कर्त्तापन नहीं, पर वह माया इनके मत में ब्रह्मका अज्ञान ही है कोई भिन्न वस्तु नहीं, और यहां महद्ब्रह्म रूपी प्रकृति ब्रह्मसे वास्तव में भिन्न कथन की है। इसलिये महद्ब्रह्म के अर्थ यहां प्रकृति के ही हैं ब्रह्म के नहीं॥

सं०—अब उस प्रकृति रूपी उपादानकारण से निमित्तकारण रूप परमात्मा भिन्न कथन कियाजाताहै :—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवंति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं वीजप्रदः पिता॥ ४

पद०—सर्वयोनिषु। कौन्तेय। मूर्त्तयः। संभवंति। याः। तासां। ब्रह्ममहत्। योनिः। अहं। वीजप्रदः। पिता॥

पदार्थ—हे कौन्तेय (सर्वयोनिषु) सबयोनियों में (याः मूर्त्तयः) जो मूर्त्तियें (संभवंति) उत्पन्न होती हैं (तांसा) उनका (ब्रह्म महत् योनिः) प्रकृति उपादान कारण है और (अहं) मैं (वीजप्रदः पिता) बीज देने वाला पिता हूं॥

भाष्य—इस श्लोक में इस बातको स्पष्ट कर दियाकि अकेली प्रकृति ही कारण नहीं किन्तु उसके साथ निमित्तकारणपरमात्मा से संसार की उत्पत्ति होती है, यह वैदिक सांख्य शास्त्रवालोंका मत है॥

ननु—"ईश्वरासिद्धेः" सां० १।९२ इत्यादि सूत्रोंमें सांख्य शास्त्रकार ने ईश्वर को नहीं माना, फिर कैसे कहा कि सांख्य शास्त्र में ईश्वर को निमित्त कारण माना है? उत्तर—सांख्यशास्त्र कार ईश्वर को मानता है, यदि यह शास्त्र ईश्वर को न मानता तो

"समाधि सुषुप्ति मोक्षेषुब्रह्मरूपता" सां० ५। ११६ में समाधि, सुषुप्ति और मूर्च्छा में जीव की ब्रह्मरूपता क्यों कथन करता और "स हि सर्ववित्सर्वकर्त्ता" सां० ३।५६ इत्यादि सूत्रों में सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता ईश्वर को क्यों मानता? और जो "ईश्वरासिद्धेः" इस सूत्र में ईश्वर की असिद्धि दिखलाई है वह अवैदिक लोगों के ईश्वर की दिखलाई है, क्योंकि प्रत्यक्ष के इस लक्षण में कि सम्बन्ध होने पर जो तदाकार प्रतीति वाला विज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। यह लक्षण ईश्वर में न घटने से पूर्वपक्षी ने इस लक्षण में अव्याप्ति दोष दिया कि तुम्हारा यह लक्षण ईश्वर में नहीं घट सकता, क्योंकि वह नित्य मुक्त है, उसका किसी पदार्थ के साथ सम्बन्ध या उसको कोई ज्ञान नहीं होता, इस बातको सिद्धान्ती ने यों काटा है "ईश्वरासिद्धेः" कि ऐसे ईश्वर की हमारे मत में असिद्धि है जो नाम मात्र का नित्यमुक्त हो, और जिसका किसी पदार्थ के साथ सम्बन्ध न हो, ऐसा पाषाण कल्प ईश्वर अवैदिक लोग मानते हैं। यह तात्पर्य "ईश्वरासिद्धेः" में सूत्रकार का है, इसलिये सांख्यदर्शन पर कोई निरीश्वरवाद का दोष नहीं लगा सकता। वैदिक समय से सांख्य ईश्वर को मानता ही चला आता है, इस लिये गीता में ईश्वर मानने वाले सांख्य के सिद्धान्तों का लेख है जैसाकि उक्त श्लोक में प्रकृति = उपादान कारण और निमित्त कारण परमात्मा को माना है॥

सं०—अब इस उपादान कारण प्रकृति के गुण जिस प्रकार जीव के बंधन का हेतु होते हैं वह प्रकार वर्णन करते हैं:—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निवध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥५॥

पद०—सत्त्वं। रजः। तमः। इति। गुणाः। प्रकृतिसम्भवाः। निवध्नन्ति। महाबाहो। देहे। देहिनं। अव्ययं॥

पदार्थ—(महाबाहो) हे विशालबाहुवाले अर्जुन (सत्त्वं) सत्त्वगुण (रजः) रजोगुण (तमः) तमोगुण (इतिगुणाः) यह गुण (प्रकृति सम्भवाः) प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और (अव्ययं देहिनं) विकार रहित जीवात्मा को (देहेनिवध्नन्ति) देह में बांध देते हैं॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥६॥

पद०—तत्र। सत्त्वं। निर्मलत्वात्। प्रकाशकं। अनामयं। सुखसङ्गेन। बध्नाति। ज्ञानसङ्गेन। च। अनघ॥

पदार्थ—(तत्र) उक्ततीनों गुणों में से (सत्त्वं) जो सत्त्वगुण है वह (निर्मलत्वात्) निर्मल होने से (प्रकाशकं) प्रकाशक है (अनामयं) दुःख से रहित है (सुखसङ्गेन) सुख के संग से (बध्नाति) जीव को बांध देता है (च) और (अनघ) हे निष्पाप अर्जुन (ज्ञानसंङ्गेन) ज्ञान के सङ्ग से भी वह जीवात्मा को बांधता है॥

भाष्य—यद्यपि सत्त्वगुण निर्मल है और प्रकाश करने वाला है तथापि सुख और ज्ञानके संग से जीव के बन्धन का हेतु है अर्थात् सत्त्वगुण की अधिकता होने से दिव्य और अधिक ज्ञान वाला शरीर मिलता है॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥७

पद०— रजः । रागात्मकं । विद्धि । तृष्णासंगसमुद्भवं । तव । निबध्नाति । कौन्तेय । कर्मसंगेन । देहिनं ॥

पदार्थ—हे कौन्तेय (रजः) रजोगुणको (रागात्मकंविद्धि) रागवाला जानो (तृष्णासंगसमुद्भवं) यह तृष्णाके संग से उत्पन्न होता है और (तव) वह (कर्मसंगेन) कर्म के संगसे (देहिनं) जीवात्मा को (निबध्नन्ति) बांधता है ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नातिभारत ८

पद०—तमः । तु । अज्ञानजं । विद्धि । मोहनं । सर्वदेहिनां । प्रमादालस्यनिद्राभिः । तव । निबध्नाति । भारत ॥

पदार्थ—हे भारत (तमः) तमोगुण को (तु) निश्चय करके (अज्ञानजं) अज्ञान से उत्पन्न होने वाला (विद्धि) जान (सर्वदेहिनां) यह सब प्राणियों को (मोहनं) मोहलेनेवाला है और (प्रमादालस्यनिद्राभिः) प्रमाद=अविवेक, आलस्य तथा निद्रा से (तव) यह (निबध्नाति) बांधता है ॥

भाष्य—इस प्रकार सत्त्व, रज, तम, यह तीनों गुण जीव के प्राकृत बंधन का हेतु हैं ॥

सं०—अब जिस २ विषय में मुख्य २ बन्धनका हेतु जो गुण हैं उनको वर्णन करते हैं :—

सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९

पद०—सत्त्वं । सुखे । संजयति । रजः । कर्माणि । भारत । ज्ञानं । आवृत्य । तु । तमः । प्रमादे । संजयति । उत ॥

पदार्थ—हे भारत (सत्त्वं) सत्त्वगुण (सुखेसंजयति) सुखमें लगादेता है (रजः) रजोगुण (कर्माणि) कर्म में, और (तमः) तमोगुण (तु) निश्चय करके (ज्ञानं आवृत्य) ज्ञानकोढ़ककर (प्रमादे संजयति) प्रमाद में लगा देता है, उत शब्द यहां अपि के अर्थों में है अर्थात् प्रमाद में भी लगादेता है और निद्रा आलस्यादिकों में भी ॥

सं०—ननु, प्राणीमात्रका शरीर तीनों गुणों का होता है, फिर एक २ गुण उसको उक्त विषयों में कैसे लगादेताहै? उत्तर

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १०

पद०—रजः । तमः । च । अभिभूय । सत्त्वं । भवति । भारत । रजः । सत्वं । तमः । च । एव । तमः । सत्त्वं । रजः । तथा ॥

पदार्थ—हे भारत (सत्त्वं) सत्त्वगुण (रजः) रजोगुण (च) और (तमः) तमोगुणको (अभिभूय) दवाकर (भवति) प्रधान होजाता है (च) और (रजः) रजोगुण (सत्त्वं) सत्त्व और (तमः) तमोगुणको दवाकर अधिक होजाता है (तथा) इसीप्रकार (तमः) तमोगुण सत्त्व और रजोगुण को दवाकर अधिक होता है ॥

भाष्य—जिस पुरुष की प्रकृति में सत्त्वगुण की अधिकता होजाती है वह दूसरे दोनों गुणों को दवाकर सत्त्वगुण प्रधानहो जाता है, और जिसमें तमोगुणकी अधिकता होजाती है वह दूसरे दोनों को दवाकर तमोगुण प्रधान होजाता है, इसीप्रकार जिसमें रजोगुण की विशेषता होजाती है वह रजोगुण प्रधान कहलाताहै ॥

सं०—अब उक्तगुणों की जिस २ पुरुष में अधिकता होती है उसके पहचानने के चिन्ह वर्णन करते हैं :—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११

पद०—सर्वद्वारेषु । देहे । अस्मिन् । प्रकाशः । उपजायते । ज्ञानं । यदा । तदा । विद्यात् । विवृद्धं । सत्त्वं । इति । उत ॥

पदार्थ—(अस्मिन्देहे) इस देह में (सर्वद्वारेषु) सब इन्द्रियों में (यदा) जिस समय (प्रकाशः ज्ञानं) प्रकाशरूप ज्ञान (उपजायते) उत्पन्न होता है (तदा) तब (सत्त्वंविवृद्धं) सत्त्वगुण को बढ़ाहुआ (विद्यात्) जानो ॥

लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायंते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२

पद०—लोभः । प्रवृत्तिः । आरंभः । कर्मणां । अशमः । स्पृहा । रजसि । एतानि । जायंते । विवृद्धे । भरतर्षभ ॥

पदार्थ—(भरतर्षभ) हे भरतकुल में श्रेष्ठ (रजसिविवृद्धे) रजोगुणके अधिक होने पर (लोभः) लोभ (प्रवृत्तिः) यत्नवाला होना (कर्मणां आरंभः) कर्मों का आरंभ करना (अशमः) मनको न रोक सकना (स्पृहा) इच्छा रहना, रजोगुण प्रधान पुरुष के ये चिन्ह होते हैं ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३

पद०—अप्रकाशः । अप्रवृत्तिः । च । प्रमादः । मोहः । एव । च । तमसि । एतानि । जायन्ते । विवृद्धे । कुरुनन्दन ॥

पदार्थ—(कुरुनन्दन) हे कुरुवंश के वृद्धि करने वाले अर्जुन (तमसि विवृद्धे) तमोगुण के अधिक होनेपर (अप्रकाशः) ज्ञान का न होना (अप्रवृत्तिः) आलसी बनजाना (प्रमादः) अज्ञानी होना, मोह में फस जाना (एव) निश्चय करके (एतानि जायन्ते) ये चिन्ह होते हैं ॥

भाष्य—सत्त्वगुण प्रधानपुरुष के यह चिन्ह होते हैं कि वह सत्यासत्य वस्तु के विवेक की ओर जाताहै और रजोगुण प्रधान कर्मों के आरम्भ की ओर झुकता है तथा तमोगुण प्रधान, अज्ञान, आलस्य, मिथ्याभिमान मोहादि अवनतिकारक बातों में लग जाता है ॥

सं०—अब इस बातको वर्णन करते हैं कि पुरुष शरीर छोड़ने पर किन२ गुणों के अधिक होने से उत्तम योनियों को प्राप्त होता है:—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥१४

पद०—यदा । सत्त्वे । प्रवृद्धे । तु । प्रलयं । याति । देहभृत् । तदा । उत्तम । विदां । लोकान् । अमलान् । प्रतिपद्यते ॥

पदार्थ—(देहभृत्) प्राणधारीजीव (तु) निश्चय करके (सत्त्वेप्रवृद्धे) सत्त्वगुण के अधिक होनेपर (यदा) जब (प्रलयं-याति) देहको त्यागता है (तदा) तब (उत्तम विदां) ज्ञानीलोगों के (अमलान् लोकान्) निर्मल जन्मों को (प्रतिपद्यते) प्राप्तहोता है।

भाष्य—लोक शब्द के अर्थ यहां लोकृ=दर्शने से दशाविशेष रूपी जन्म के हैं और अग्रिम श्लोक में जन्मों की प्राप्ति मूढयोनि शब्द से कथन कीगई है ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।

तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५

पद०—रजसि । प्रलयं । गत्वा । कर्मसंगिषु । जायते । तथा । प्रलीनः । तमसि । मूढयोनिषु । जायते ॥

पदार्थ—(रजसि) रजोगुण के अधिक होनेपर (प्रलयंगत्वा) प्राणत्याग कर (कर्मसङ्गिषु जायते) कर्मप्रधान जन्मों को पाता है (तथा) तैसेही (तमसि) तमोगुण के अधिक होने पर (प्रलीनः) प्राणत्यागता हुआ (मूढयोनिषुजायते) मूढ़जन्मों को प्राप्त होता है।

भाष्य—"मूढयोनि" शब्द के अर्थ यहां पशुआदि योनियों के हैं और "कर्मसङ्गि" के अर्थ कर्मप्रधान मनुष्य जन्म के हैं, और जो सत्त्वप्रधान होने से दिव्य जन्म अर्थात् ऋषियों के जन्मों को पाते हैं उनके निर्मल जन्म कथन किये गए हैं ॥

सं०—अब तीनों गुणों के सुख, दुःख, अज्ञान, यह तीनोंफल वर्णन करते हैं:—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६

पद०—कर्मणः । सुकृतस्य । आहुः । सात्त्विकं । निर्मलं । फलं । रजसः । तु । फलं । दुःखं । अज्ञानं । तमसः । फलं ॥

पदार्थ—ऋषिलोग (सुकृतस्य कर्मणः) अच्छे कर्मों का (सात्त्विकं) सात्त्विक और निर्मल (फलं) फल (आहुः) कथन करते हैं (रजसः) रजोगुण का (तु) निश्चय करके (दुःखंफलं) दुःखफल कथन करते हैं (तमसः) तमोगुण का (अज्ञानं फलं) अज्ञान फल कथन करते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि सत्त्वप्रधान लोग उत्तम जन्मों को पाकर जो शुभकर्म करते हैं उसका फल सुख

होता है और रजोगुणप्रधान कर्मयोनियों में राजस कर्म करके दुःखरूपी फल को पाते हैं, और तमोगुण प्रधान तामस योनियों में अज्ञानरूपी फल को पाते हैं ॥

सं०—अब उक्त बातों को पुनः दृढ़ता के लिये प्रकारान्तर से कथन करते हैंः—

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७

पद०—सत्त्वात् । संजायते । ज्ञानं । रजसः । लोभः । एव । च । प्रमादमोहौ । तमसः । भवतः । अज्ञानं । एव । च ॥

पदार्थ—(सत्त्वात्) सत्त्वगुण से (ज्ञानं संजायते) ज्ञान उत्पन्न होता है (च) और (रजसः) रजोगुण से (लोभः एव) लोभ ही उत्पन्न होता है (तमसः) तमोगुण से (प्रमाद मोहौ) प्रमाद तथा मोह (भवतः) होते हैं (च) और (अज्ञानं) अज्ञान होता है ॥

सं०—अब तीनों गुणों के फलों को उत्तम, मध्यम, अधम, कथन करते हैंः—

ऊर्द्धंगच्छन्तिसत्त्वस्थामध्येतिष्ठंतिराजसाः
जघन्यगुणवृत्तिस्थाअधोगच्छंतितामसाः१८

पद०—ऊर्ध्वं । गच्छन्ति । सत्त्वस्थाः । मध्ये । तिष्ठन्ति । राजसाः । जघन्यगुणवृत्तिस्थाः । अधः । गच्छन्ति । तामसाः ॥

पदार्थ—(सत्त्वस्थाः) जो लोग सत्त्वगुण में स्थिर हैं वे (ऊर्ध्वं गच्छन्ति) ऊंचे जाते हैं, और (राजसाः) रजोगुणवाले लोग (मध्ये तिष्ठन्ति) मध्य में रहते हैं और (तामसाः) तमोगुण

वाले (जघन्यगुणवृत्तिस्थाः) जो इस नीच गुण में स्थिर हैं वे (अधः गच्छन्ति) नीचे जाते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में ऊंच नीचादिभाव किसी लोक विशेष के आशय से कथन नहीं किये, किन्तु दशा विशेष के अभिप्राय से कथन किये हैं अर्थात् सत्त्वप्रधान ऋषिमुनियों की उच्चदशा को पाते हैं और राजसगुण वाले राज्यादि मध्यम सुखों को भोगते हैं, और तामस लोग निन्दित दुःखप्रधान नीच योनियों को प्राप्त होते हैं। मधुसूदन स्वामी पौराणिकभाव को लेकर "ऊर्ध्वंगच्छन्ति" इत्यादि शब्दों के अर्थ यहां ब्रह्मलोकादि लोक विशेषों की प्राप्ति कथन करते हैं, यदि ऐसा होता तो व्यास वशिष्ठादि सत्त्वप्रधानलोग इसलोक में जन्म कदापि न लेते और नाही कृष्णजी जैसे पुरुष निखिल भू भार के दूर करने के लिये मनुष्य योनि में जन्म लेते, फिर तो किसी ब्रह्मलोक वा देवलोक में हीं जा जन्मते ॥

सं०—अब प्रकृति के गुणों के वन्धन से रहित होने का उपाय वर्णन करते हैं:—

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति १९

पद०—न । अन्यं । गुणेभ्यः । कर्त्तारं । यदा । द्रष्टा । अनुपश्यति । गुणेभ्यः । च । परं । वेत्ति । मद्भावं । सः । अधिगच्छति ॥

पदार्थ—(यदा) जिस समय (द्रष्टा) जीव (गुणेभ्यः) गुणों से (अन्यं कर्त्तारं) अन्यकर्त्ता को (न अनुपश्यति) नहीं देखता (च) और (गुणेभ्यः परं वेत्ति) गुणों से परे जो परमात्माहै उस को जानता है (सः) वह पुरुष (मद्भावं) मेरे तात्पर्य्यको (अधिगच्छति) जान लेता है ॥

भाष्य—"मद्भाव" के अर्थ यहां कृष्णजी के तात्पर्य्य के हैं। मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जब प्रकृति के गुणों को जीव कर्त्ता समझ लेता है तब ब्रह्म बन जाता है। इस शब्द के अर्थ यदि यहां जीवके ब्रह्म बनने के होते तो गी० ४।१० और गी० १३।१८ तथा गी० १०।६ में भी मद्भावके अर्थ जीवको ब्रह्म बननेके होने चाहियेथे पर ऐसा नहीं। देखो :—गी०४।१० में स्वामी शं० चा० मद्भावके अर्थ मुक्ति के करते हैं और गी० १३।१८ में भी मुक्ति के करते हैं और गी० १०।६ में विष्णु के भक्त के करते हैं। इस प्रकार जब किसी स्थल में भी मद्भाव के अर्थ जीव के ब्रह्म बनने के नहीं तो यहां इसके अर्थ जीव के ब्रह्म बनने के कैसे हो सकते हैं और जो मधुसूदनस्वामी ने यह लिखा है कि "**मद्भावंमद्रूपतां स द्रष्टाधिगच्छति**" मेरे स्वरूप को जीव प्राप्त हो जाता है। यह अर्थ करना उक्त स्वामी की खेंच है, इसलिये मद्भाव के अर्थ यहां कृष्ण जी के तात्पर्य्य के ही हैं अर्थात् जो प्रकृति के गुणों के कारण जीव को वन्धन मानता है और उन प्रकृति के गुणों से परमात्मा को परे मानता है, ऐसा जिज्ञासु उक्त तीनों गुणों के वन्धनों से छूटकर कृष्णजी के कर्मयोग और ज्ञानयोगरूपीभाव को प्राप्त होता है, इसी वातको आगे के श्लोक में वर्णन करते हैं:—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।२०

पद०—गुणान्।एतान्। अतीत्य।त्रीन्। देही। देहसमुद्भवान्। जन्ममृत्युजरादुःखैः। विमुक्तः। अमृतं। अश्नुते॥

पदार्थ—(देहसमुद्भवान्) शरीर से उत्पन्न होने वाले (एतान् त्रीन् गुणान्) इन तीन गुणों को (अतीत्य) उल्लङ्घन करके (जन्ममृत्युजरादुःखैः) जन्म=उत्पत्ति, मृत्यु=मरण, जरा = वृद्धाऽवस्था के दुःखैः = इन दुखों से (विमुक्तः) मुक्त होकर (देही) जीवात्मा (अमृतं अश्नुते) मुक्ति को भोगता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में इस बातको स्पष्ट करादिया कि प्राकृत गुणों के बन्धनों से रहित पुरुष मुक्ति को पाता है न कि मायावादियों के सिद्धान्तानुकूल ब्रह्म बनकर मुक्ति को पाता है। ब्रह्म तो प्रथम ही नित्य मुक्त है फिर ब्रह्म बनकर मुक्तिको पाना क्या ? और अद्वैतवादियों के मतमें मुक्ति के अर्थ अविद्या की निवृत्ति और ब्रह्म भाव की प्राप्ति है, अविद्या की निवृत्ति के अर्थ इनके मतमें यह हैं कि इस सम्पूर्ण प्राकृत ब्रह्माण्ड को रज्जु सर्प के समान कल्पित समझना अर्थात् इसके अधिष्ठान भूत ब्रह्मज्ञान से चराचर जगत् का मिथ्या होजाना। यदि इनका यह आशय गीता में होता तो आगे के श्लोकों में तीन गुणों से छूटने का निम्न लिखित प्रकार न वर्णन किया जाता किन्तु तीन गुण और तीन गुणों वाली प्रकृति के अधिष्ठानभूत ब्रह्मज्ञान से प्रकृति को मिथ्या सिद्ध करादिया जाता, पर ऐसा नहीं, प्रत्युत इससे सर्वथा उलटा है, जैसा कि क्षेत्रज्ञाध्याय के अंत में प्रकृति पुरुष का तात्त्विक भेद वर्णन किया गया है, यह अर्थ निम्न लिखित श्लोकों से प्रकट होता है :—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्त्तते २१

पद०—कैः। लिङ्गैः। त्रीन्। गुणान्। एतान्। अतीतः।

भवति । प्रभो । किमाचारः । कथं । च । एतान् । त्रीन् । गुणान् । अतिवर्त्तते ॥

पदार्थ—(प्रभो) हे स्वामिन् (कैःलिङ्गैः) किन हेतुओं से (एतान् त्रीन् गुणान्) इन तीनों गुणों से (अतीतः भवति) छूट जाता है (च) और (किमाचारः) किस अनुष्ठान से (कथं) किस प्रकार (एतान् त्रीन् गुणान्) इन तीनों गुणों को (अतिवर्त्तते) उल्लङ्घन कर जाता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में तीन गुणों से छूटने के आचार अर्थात् अनुष्ठान का प्रश्न करना इस बात को सिद्ध करता है कि गीता के सिद्धान्त में प्रकृति के बन्धन से छूटने का उपाय सदाचार ही है, मायावादियों के मतानुकूल इस सम्पूर्ण जगत् को मिथ्या समझना नहीं । देखो यही उत्तर कृष्ण जी निम्नलिखित श्लोकों में देते हैं :—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति २२

पद०—प्रकाशं । च । प्रवृत्तिं । च । मोहं । एव । च । पाण्डव । न । द्वेष्टि । संप्रवृत्तानि । कांक्षति ॥

पदार्थ—(पाण्डव) हे पाण्डु के पुत्र अर्जुन (प्रकाशं) सत्त्वगुण (प्रवृत्तिं) रजोगुण (मोहं) तमोगुण (संप्रवृत्तानि) इनके प्रवृत्त होने पर (न द्वेष्टि) द्वेष नहीं करता (निवृत्तानि) निवृत्त होने पर (न कांक्षति) इच्छा नहीं करता । फिर वह पुरुष कैसा है :—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३

पद०—उदासीनवत् । आसीनः । गुणैः । यः । न । विचाल्यते । गुणाः । वर्त्तन्ते । इति । एव । यः । अवतिष्ठति । न । इङ्गते ॥

पदार्थ—(उदासीनवत्) उदासीन पुरुषके समान (आसीनः) ठहरा हुआ है (गुणैः यः न विचाल्यते) और गुणों से जोचलाया नहीं जासकता (गुणाः वर्त्तन्ते) गुण वर्त्तते हैं (इतिएव) इसप्रकार (यः अवतिष्ठति) जो स्थिर रहता है (न इङ्गते) गुणों के आधीन होकर चेष्टा नहीं करता, वह पुरुष गुणातीत कहलाता है । फिर वह कैसा है :—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियोधीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः

पद०—समदुःखसुखः । स्वस्थः । समलोष्टाश्मकांचनः । तुल्यप्रियाप्रियः । धीरः । तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

पदार्थ—(समदुःखसुखः) सुख दुख दोनों को सम जानता है (स्वस्थः) सदैवप्रसन्न रहता है (समलोष्टाश्मकांचनः)मिट्टी,पत्थर, सोने, को सम जानता है और (तुल्यप्रियाप्रियः) शत्रु मित्र जिस को तुल्य हैं (धीरः) धैर्य्य वाला है (तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः) अपनी निन्दा और स्तुति में एक रस रहता है, वह गुणातीत कहलाता है । फिर वह कैसा है :—

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्योमित्रारिपक्षयोः
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतःसउच्यते।२५

पद०—मानापमानयोः । तुल्यः । तुल्यः । मित्रारिपक्षयोः । सर्वारम्भपरित्यागी । गुणातीतः । सः । उच्यते ॥

पदार्थ—(मानापमानयोः तुल्यः) मान अपमान में एक रस रहता है (मित्रारिपक्षयोः) मित्र और शत्रुके पक्षमें (तुल्यः) एक जैसा रहता है (सर्वारम्भपरित्यागी) सब सकाम कर्मोंके आरम्भों का जिसने त्याग किया है उसको गुणातीत कहते हैं ॥

सं०—अब कृष्णजी गुणातीत के कर्तव्यों में परमात्मा की अनन्यभक्ति को विधान करते हुए इस अध्याय की समाप्ति करते हैं:-

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयायकल्पते।२६

पद०—मां । च । यः । अव्यभिचारेण । भक्तियोगेन । सेवते । सः । गुणान् । समतीत्य । एतान् । ब्रह्मभूयाय । कल्पते ॥

पदार्थ—(मां च) परमात्मा को (यः) जो पुरुष (अव्यभिचारेण भक्तियोगेन) अनन्यभक्तियोग से (सेवते) सेवन करता है (सः) वह (एतान् गुणान् समतीत्य) इन गुणों को उल्लङ्घन करके (ब्रह्मभूयाय) ब्रह्मभाव मुक्ति के (कल्पते) योग्य होजाता है ।

भाष्य—**मां** = शब्द के अर्थ यहां परमेश्वर के हैं जैसाकि हम पूर्वके अध्यायों में निरूपण कर आए हैं "**अव्यभिचारी-भक्तियोग**" वह कहलाता है जिस में परमात्मा को छोड़कर अन्य की भक्ति न हो "**ब्रह्मभूयाय**" के अर्थ ब्रह्मभाव के हैं जैसाकि स्वामी रामानुज लिखते हैं कि:—"**ब्रह्मभावयोग्यो भवति**" ब्रह्म के भाव जो सत्य संकल्पादिक हैं, गुणातीत पुरुष उन भावों के योग्य होजाता है अर्थात् उन भावों के धारण करनेयोग्य होजाता है । अद्वैतवादियों के मत में यहां "**ब्रह्म-भूयाय**" के अर्थ निर्गुण ब्रह्म बन जाने के हैं । प्रथम तो यह अर्थ इनके सिद्धान्त से इस प्रकार विरुद्ध है कि यह गी० १३।९

में जो यह प्रतिपादन कर आए हैं कि निर्गुणब्रह्म के उपासकों को अधिक कष्ट होता है इसलिये कृष्णजी यह कहते हैं कि मुझ सगुण ब्रह्म की उपासना कर। जब इस प्रकार सगुण ब्रह्म की उपासना ही कृष्णजी को इष्ट थी तो यहां गुणातीत के लिये निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति क्यों कथन की ? और "मां" शब्द से यदि कृष्णजी का ही ग्रहण होता है तो आगे के श्लोक में अपने आपको ब्रह्म की प्रतिष्ठा क्यों कथन किया है ? क्या साकार वादियों के मत में साकार ब्रह्म निराकार से भी बड़ा है ?

"एतेचांशकलाःपुंसःकृष्णस्तुभगवान्स्वयं" श्री भाग० १। ३। २८ इत्यादि पौराणिकों के वाक्यों में कृष्णजी को स्वयं ब्रह्म तो सुना था, पर ब्रह्म की प्रतिष्ठा अर्थात् ब्रह्म का सहारा यहां ही आकर साकार वादियों ने कृष्ण जी को बनाया है। हमारे विचार में कृष्णजी ब्रह्मकी प्रतिष्ठा कदापि नहीं बन सकते क्योंकि कृष्णजी उत्पत्ति विनाशवाले हैं या यों कहिये कि साकारवादियों के मत में सोपाधिक हैं, और ब्रह्म उत्पत्ति विनाश से रहित और निरुपाधिक है। यहां ब्रह्म की प्रतिष्ठा कहने से यह बात स्पष्ट होगई कि अहं शब्द के अर्थ यहां कृष्णजी अपने नहीं मानते किन्तु अहं शब्द का वाच्य ईश्वर को मानते हैं इसलिये उस ईश्वर को वेदरूपी ब्रह्म की प्रतिष्ठा कह सकते हैं जैसाकि "जन्माद्यस्ययतः" ब्र० सू० १। १। २ में वेदरूपी ब्रह्म की प्रतिष्ठा ईश्वर को माना है। माया वादी इसके यह अर्थ करते हैं कि ब्रह्म की प्रतिष्ठा यहां कृष्णजी ने अपने आपको इस अभिप्राय से कहा है कि जितना यह कार्य्य रूप संसार है सब उपाधिवाले ब्रह्म में स्थित है। जैसे सुवर्ण के भूषण सुवर्ण से भिन्न नहीं, और मिट्टी के विकार मिट्टी से भिन्न

नहीं, तथा रज्जु का सर्प रज्जुरूप अधिष्ठान से भिन्न नहीं, इसी प्रकार यह सम्पूर्ण साकार जगत् उस उपाधि वाले साकार ब्रह्म से भिन्न नहीं। और वह सोपाधिक साकार ब्रह्म निरुपाधिक अर्थात् निर्गुण ब्रह्म में कल्पित है। और कृष्णजी निर्गुण ब्रह्म हैं, इसलिये कृष्णरूपी निर्गुण ब्रह्म में साकार ब्रह्म कल्पित होने से कृष्णजी ने अपने आपको कहाकि मैं ब्रह्म की भी प्रतिष्ठा हूं। यहां फिर वही घट्टकुटीप्रभातन्याय आगया कि जिस बात से भयभीत होकर साकारवादी अहं शब्द के अर्थ निराकार ब्रह्म के नहीं मानते थे उसी बात को फिर यहां आकर मानना पड़ा कि अहं शब्द के अर्थ निराकार ब्रह्म के हैं। और जो यहां इन्हों ने कल्पित की कहानी निकाली है उसका गन्धमात्र भी इस श्लोक में नहीं। देखोः—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याऽव्ययस्य च।
शाश्वतस्यचधर्मस्यसुखस्यैकांतिकस्यच २७

पद०—ब्रह्मणः। हि। प्रतिष्ठा। अहं। अमृतस्य। अव्ययस्य। च। शाश्वतस्य। च। धर्मस्य। सुखस्य। ऐकान्तिकस्य। च॥

पदार्थ—(अहं) मैं (हि) निश्चय करके (ब्रह्मणः) वेद की (प्रतिष्ठा) आश्रय हूं, वह वेद कैसा है (अमृतस्य) जो मुक्ति का प्रतिपादक होने से अमृत है उसकी और (अव्ययस्य) जो ईश्वर के ज्ञानरूप से नित्य होने से अव्यय है उसकी मैं प्रतिष्ठा हूं (च) और (शाश्वतस्य) नाश न होने वाले वैदिकधर्म की मैं प्रतिष्ठा हूं (च) और (ऐकान्तिकस्य सुखस्यच) ईश्वरीयनियमानुकूल चलने से जो जीव को सुख होता है उसकी भी प्रतिष्ठा हूं॥

भाष्य—इस श्लोक में कृष्णजीने वेद और वैदिक धर्म की अपने आपको प्रतिष्ठा कथन की है। इसमें सन्देह ही क्या है मर्य्यादा पुरुषोत्तम पुरुष वेद और वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा कहलाते हैं, और अहंशब्दका वाच्य यहां ईश्वर मानने से इस प्रकार व्यवस्था है कि "सर्ववेदायत्पदमामनन्ति" इत्यादि वाक्यों में परमात्मा को वेदरूपी ब्रह्म की प्रतिष्ठा वर्णनकी है। और वह परमात्मा वैदिक धर्म का प्रवर्त्तक होने से वैदिक धर्म की भी प्रतिष्ठा है। इस प्रकार इस श्लोक में अहं शब्दके अर्थ कृष्ण वा ईश्वर मानकर भी दोनों प्रकार से वैदिक अर्थ में कोई दोष नहीं॥

इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये, गुणत्रयविभागयोगोनाम चतुर्दशोऽध्यायः॥
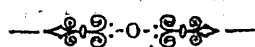
अथ

॥ पंचदशोऽध्यायः ॥

सङ्गति—पूर्व के प्रकृतिपुरुषविवेकयोगनामाध्याय में और गुणत्रयविभागयोगाध्याय में प्रकृति पुरुष का भेद और प्रकृति के गुणों से अतीत रहने का प्रकार वर्णन किया गया। अब इस अध्याय में परमात्मा से जीवका योग करनेके लिये संसाररूपी वृक्षका असङ्गता रूपी शास्त्रद्वारा छेदन कथन करते हैं॥

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तंवेद स वेदवित्॥ १

पद०—ऊर्ध्वमूलं । अधःशाखं । अश्वत्थं । प्राहुः । अव्ययं । छन्दांसि । यस्य । पर्णानि । यः । तं । वेद । सः । वेदवित् ॥

पदार्थ—(ऊर्ध्वमूलं) ऊर्ध्व है मूलकारणजिसका और (अधः शाखं) नीचे हैं शाखें जिसकी, ऐसे (अश्वत्थं) संसाररूपीवृक्षको (अव्ययंप्राहुः) अव्यय कहते हैं, और (छन्दांसि) वेद (यस्यपर्णानि) जिसके पत्ते हैं (यः) जो पुरुष (तं) उस संसाररूपी वृक्षको (वेद) जानता है (सः) वह (वेदवित्) वेदके जानने वाला है ॥

भाष्य—सबका अधिष्ठान और सर्वोपरि कारण होनेसे यहां परमात्मा का नाम ऊर्ध्व है, वह ऊर्ध्व हो मूल नाम आश्रय जिसका उसका नाम ऊर्ध्वमूल है, "अधःशाखं" संसार को इस लिये कहागया है कि प्रकृति के कार्य्य हिमालय समुद्रादि नाना प्रकार का कार्य्य समूह भूगोल की रचना के अनन्तर शाखारूपी पीछे से बनते रहते हैं "अश्वत्थ" वृक्ष का रूपक बांधकर संसार को इसलिये वर्णन किया है कि अश्वत्थ = पीपल का वृक्ष जैसे अतिमनोहर होता है इसी प्रकार यह संसार अतिमनोहर है, श्वस्तिष्ठतीतिश्वस्थः, नश्वस्तिष्ठतीति = अश्वत्थः = जो भविष्यत् काल में न रहे उसका नाम अश्वत्थ है, इस कथन से संसार को अनित्य सिद्ध किया है कि यह संसाररूपी वृक्ष सदा नहीं रहता किन्तु अपनी आयु भोगकर नाश होजाता है "सनातनः" यह विशेषण इसलिये दिया है कि प्रवाहरूप से यह संसार अनादि है अर्थात् इसकी उत्पत्ति प्रलय की धारा सदैव से चली

आती है जैसाकिः—"सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथा पूर्व मकल्पयत्" ऋ० ८।८।४८।२ इस मन्त्र में वर्णन किया है। इस श्लोक का मूल कठोपनिषद् में है, वहां इस प्रकार है "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थःसनातनः" कठ० ६।१. यहां सनातन शब्द के स्थान में गीता में अव्ययशब्द है जिसके अर्थ प्रवाहरूप से अनादि अनन्त होने से नित्य के हैं। और वेदों को संसाररूपी वृक्ष के पत्ते इसलिये कहा है कि जिस प्रकार मध्यान्ह की धूप से संतप्त लोगों के लिये पत्ते छाया देने वाले होते हैं इसी प्रकार संसारानल से संतप्त लोगों के लिये शान्ति प्रद और वृक्ष की शोभारूप होने से वेदों को पत्तेस्थानीय वर्णन कियागया है। जो इस प्रकार इस वृक्ष को जानता है उसको वेदवेत्ता इसलिये कहा है कि संसार को यथावस्थित जानना ही वेद का उपदेश है और जो इसको अन्यथा जानता है वह वेद को नहीं जानता जैसाकि मायावादीलोग इसको रज्जुसर्प के समान मिथ्या मानते हैं वह वेदवित् नहीं कहलासक्ते। यदि वास्तव में संसार रज्जुसर्प के समान कल्पित होता तो उपनिषद्कार इसको सनातन न कहते और गीता का कर्त्ता इसको अव्यय शब्द से कथन न करता। अव्यय शब्द के अर्थ यहां विकार रहित के नहीं किन्तु प्रवाहरूप से नित्य होने के हैं। मायावादियों के मत में उक्त दोनों विशेषण संसार में इस लिये नहीं घटसकते कि इनके मत में मरुस्थल के जल के समान यह संसार भ्रममात्र है। और युक्ति यह है कि यदि यह संसार भ्रममात्र होता तो इसको अश्वत्थ के अलङ्कार से वर्णन न किया जाता? अश्वत्थ के अर्थ वही हैं जो ऊपर कर आए हैं अर्थात् जो भविष्यत् काल में न रहे, इससे पायागया कि भविष्यत् काल में वही वस्तु नहीं रहती जो

अनित्य होती है, अपनी आयु भोगकर जो नष्ट होजाय उसको अनित्य कहते हैं। और मायावादियों के मत में मिथ्या के यह अर्थ हैं कि जो जिस देश और जिसकाल में जहां प्रतीत हो उसी देश और उसी काल में वहां न हो, जैसेकि मरुस्थल के जलादि जिस देशकाल में प्रतीत होते हैं उसी देशकाल में वहां नहीं होते। ऐसा मिथ्यापन संसार में नहीं, क्योंकि महर्षिव्यास ने इस श्लोक में संसार को अपने देशकाल में भावपदार्थ सिद्ध किया है और इसीलिये इस बात पर बलदिया है कि जो इस प्रकार इसकी सच्चाई को जानता है वही वेदका जाननेवाला है, विशेषकर मायावादियों के मिथ्यार्थों की निर्मूलता इस से भी पाई जाती है कि वे मिथ्या का नाश केवल ज्ञान से मानते हैं, इसलिये उनके मत में मिथ्या का लक्षण यह भी है कि जिस वस्तु का उसके अधिष्ठान ज्ञान से नाश हो उसको मिथ्या कहते हैं जैसेकि रज्जुरूप अधिष्ठान के जानने से सर्परूपी मिथ्याभ्रान्ति नाश होजाती है, यदि इसी अर्थ के अभिप्राय से गीता में संसार को अश्वत्थ कहा जाता तो असङ्गतारूपीशस्त्र से इसका छेदन तृतीय श्लोक में न बतलाया जाता किन्तु ज्ञानरूपी शस्त्र से इसका छेदन बतलाया जाता जैसाकि मिथ्याभूत वस्तुओं का ज्ञान से नाश होता है। अधिक क्या इस मनोरथमात्र के मिथ्या प्रवाह में पड़कर आधुनिक वेदान्तियों ने सहस्रोंवर्षों से संसार के मिथ्यार्थ की माला फेरते २ भारत भूमि को मरुस्थल जल के समान भारत सन्तान के लिये मिथ्याभूमि बनादिया और वैदिक धर्म का उपदेश यहांतक उठादिया कि "यस्तंवेद स वेदवित्" इत्यादि वाक्यों के अर्थाभास करके भारत सन्तान को संसार के धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी फल चतुष्टय से सर्वथा

वञ्चित करदिया। देखो अग्रिम श्लोक में यह फल गीता में किस अपूर्वता के साथ प्रतिपादन किये थेः—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा-
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि-
कर्मानुवंधीनि मनुष्यलोके॥ २॥

पद०—अधः। च। ऊर्ध्वं। प्रसृताः। तस्य। शाखाः। गुण प्रवृद्धाः। विषयप्रवालाः। अधः। च। मूलानि। अनुसंततानि। कर्मानुबंधीनि। मनुष्यलोके॥

पदार्थ—(तस्यशाखाः) उस संसाररूपी वृक्षकी शाखा (अधः) नीचे (ऊर्ध्वं) ऊपर (प्रसृताः) फैली हुई हैं, फिर वह शाखें कैसी हैं (गुणप्रवृद्धाः) प्रकृति के सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों से प्रवृद्धाः = पुष्ट हैं, शाखों में तो पत्ते भी होते हैं इनके पत्ते क्या हैं (विषयप्रवालाः) शब्द, स्पर्श, रूपादि विषय, प्रवालाः = पत्ते हैं, वृक्षमें तो नीचे छोटी २ जड़ें भी होती हैं जिनके सहारे वृक्ष स्थिर रहता है वह जड़ें इस संसाररूपी वृक्षकी क्या हैं (मनुष्यलोके) मनुष्यरूपी जो यह संसार है उसमें (कर्मानुवन्धिनि) वासनारूप कर्म (अधः च मूलानि) नीचे की जड़ें हैं जो (अनुसंततानि) इतस्ततः फैल रही हैं॥

भाष्य—ननु, इस संसाररूपी वृक्षका मूलतो ब्रह्मको कथन किया गया है फिर यहां कर्मों को मूल क्यों कथन किया? उत्तर—सम्पूर्ण संसाररूपी वृक्षका सर्वाधार ब्रह्मही आदि मूल है। यहां केवल मनुष्यलोक का मूल उसके वासनारूपी कर्मों को कथनकियागया है। इस कथनसे यह बात स्पष्ट होगई कि मूलशब्द

के अर्थ यहां उपादान कारण के नहीं किन्तु निमित्त कारण के हैं जैसा कि जीवके कर्म जीवके जन्म में निमित्तकारण हैं, और यदि मूलशब्दके अर्थ यहां उपादान कारण के लिये जायं तो "अहंबीजप्रदःपिता" इत्यादि निमित्त कारण प्रतिपादक वाक्यों के साथ विरोध आवेगा। इस प्रकार इस संसाररूपीवृक्ष को शाखापल्लवादिकों से पूर्ण कथन करके अब चतुर्थाश्रमी के लिये उसकी असङ्गता का उपाय कथन करते हैं:—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते-
नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
असंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा ॥ ३ ॥

पद०—न। रूपं। अस्य। इह। तथा। उपलभ्यते। न। अंतः। न। च। आदिः। न। च। संप्रतिष्ठा। अश्वत्थं। एनं। सुविरूढमूलं। असङ्गशस्त्रेण। दृढ़ेन। छित्वा॥

पदार्थ—(अस्य) इस संसाररूपी वृक्षका (इह) इस लोक में (तथारूपं न उपलभ्यते) वैसा रूप नहीं पाया जाता (न अंतः) न अंत पाया जाता है (न च आदिः) और न आदिपन पाया जाता है (न च) और न (संप्रतिष्ठा) इसकी स्थिति की जड़ मिलती है (एनं अश्वत्थं) इस संसाररूपी वृक्षको (सुविरूढमूलं) जिसका मूल दृढ़ है इसको (दृढ़ेनअसङ्गशस्त्रेण) दृढ़ वैराग्यरूपी असङ्गशस्त्रसे (छित्वा) छेदन करके, उस परमात्मारूपी परमपद को ढूंढ़ना चाहिये॥

भाष्य—इस श्लोक में इस संसाररूपी वृक्षको अप्रमेय वर्णन किया है अर्थात् इसके आदि अंतका वास्तव में पता मिलना

दुर्विज्ञेय है, इस अभिप्राय से कहा है कि इसका रूप नहीं, और न आदि मिलता है, न अंत मिलता है, और न इसकी ठीक २ जड़ मिलती है कि यह कबसे है। इस कथन से इस बातको सिद्ध किया कि उस परमैश्वर्य्य वाले परमात्मा की यह संसाररूपी विभूति अति गहन है, इस का मूल बड़ा दृढ़ है, केवल असङ्गता रूपी शस्त्रसे ही इसका छेदन होसकता है अन्य कोई प्रकार इस के छेदनका नहीं। मायावादी इस श्लोक से इस संसारको अनिर्वचनीय सिद्ध करते हैं जिसके अर्थ मिथ्या के हैं। इसपर स्वामी शं० चा० यह लिखते हैं कि :-"**स्वप्नमरीच्युदकमाया गंधर्वनगर समत्वात् दृष्टनष्टस्वरूपः**" अर्थ-यह संसार कैसा है स्वप्न और मरुस्थल के जलके समान है, और मिथ्या-कल्पित गंधर्वनगर के समान दृष्ट नष्ट स्वरूप है अर्थात् जिससमय में दीखता है उसी समयमें नहीं है। यदि यह अर्थ उक्तश्लोक के होते तो संसार को आदि अन्तरहित वर्णन न किया जाता और नाही असङ्गशस्त्र से अर्थात् वैराग्य से उसका त्याग कथन किया जाता, फिर तो मनोरथ मात्रकी मनोमयि कल्पना मिटादेने से घर ही बन बनजाता, फिर पुत्रैष्णा, वित्तैष्णा, लोकैष्णा, इस तीन प्रकारकी इच्छा को छोड़कर चतुर्थाश्रमी लोगोंको भिक्षा मांगने की क्या आवश्यकता थी! सारांश यह है कि यति और विरक्त लोगों को यहां संसारका त्याग कथन किया है, और अन्य आश्रमियों को संसार की शोभा वर्णन की है॥

सं०—ननु, वह चतुर्थाश्रमी असङ्गशस्त्र द्वारा इस संसाररूपी वृक्षका छेदन करके क्या करें? उत्तर

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं-

यस्मिन्गता न निवर्त्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये-
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

पद०—ततः । पदं । तत् । परिमार्गितव्यं । यस्मिन् । गताः । न । निवर्त्तन्ति । भूयः । तं । एव । च । आद्यं । पुरुषं । प्रपद्ये । यतः । प्रवृत्तिः । प्रसृता । पुराणी ॥

पदार्थ—(ततः) इसके अनन्तर (तत्पदं) वहपद (परिमार्गितव्यं) ढूंढ़ना चाहिये (यस्मिन्गताः) जिसको प्राप्त हुए २ (भूयः) फिर (न निवर्त्तन्ति) आवृत्ति नहीं करते (एव) निश्चय करके (तंआद्यं पुरुषं) उस सबके आदि मूल पुरुष को (प्रपद्ये) मैं प्राप्त होऊं (यतः) जिससे इस संसाररूपी वृक्षकी (पुराणी) प्राचीन (प्रवृत्तिः) विस्ताररूप रचना (प्रसृता) फैली हुई है ॥

भाष्य—यह वह पद है जिसपदको "तद्विष्णोःपरमंपदं" इत्यादि मंत्रों में निराकारका पद कथन कियागया है । यहां मायावादी इस अर्थ को स्वीकार करते हैं कि यह निर्गुण ब्रह्मका पद है,पर अपने मायावाद के अर्थकी इतनी झलक अवश्य डाल देते हैं कि जिससे उनके मतमें मायाके कारण संसाररूपी वृक्षकी प्रवृत्ति होती है । जब इस परमपद में निर्गुण ब्रह्मका स्वीकार है तो फिर माया की कथा क्या ! और आगे ६वें श्लोकमें जाकर यह कथन करना है कि वह स्वतः प्रकाश है, फिर ऐसे शुद्ध ब्रह्म में माया का परदा क्यों ?

सं०—अब इस बात को कथन करते हैं कि ईश्वर के पदको कौन लोग प्राप्त होते हैं:—

निर्मानमोहा: जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

पद०—निर्मानमोहाः । जितसङ्गदोषाः । अध्यात्मनित्याः । विनिवृत्तकामाः । द्वन्द्वैः । विमुक्ताः । सुखदुःखसंज्ञैः । गच्छन्ति । अमूढाः । पदं । अव्ययं । तत् ॥

पदार्थ—(निर्मानमोहाः) जिनका मान और मोह निवृत्त होगया है (जितसङ्गदोषाः) जिन्हों ने सङ्ग के दोष को जीत लिया है (अध्यात्मनित्याः) और परमात्मा में तत्पर हैं (विनिवृत्तकामाः) निवृत्त होगई हैं कामनाएं जिनकी (सुखदुःख संज्ञैः) सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि (द्वन्द्वैः) द्वन्द्वों से (विमुक्ताः) जो छुटे हुए हैं (अमूढाः) मोह से रहित पुरुष (तत् अव्ययं पदं) उस निर्विकार पद को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं ॥

सं०—जिसको पूर्वोक्त गुणोंवाले पुरुष प्राप्त होते हैं उस निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं:—

न तद्भासयते सूर्य्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

पद०—न । तत् । भासयते । सूर्य्यः । न । शशांकः । न । पावकः । यत् । गत्वा । न । निवर्त्तन्ते । तत् । धाम । परमं । मम ॥

पदार्थ—(तत्) उसको (सूर्य्यः) सूर्य्य (न भासयते) प्रकाश नहीं करसक्ता (न शशांकः) और न चन्द्रमा प्रकाश कर सक्ता है (न पावकः) और न अग्नि प्रकाश कर सक्ती है (यत् गत्वा)

जिसको प्राप्त होकर (न निवर्त्तन्ते) फिर आवृत्तिरूप भक्ति नहीं करनी पड़ती (तद्) वह (मम) मेरा (परमं) सब से बड़ा (धाम) स्थान है ॥

भाष्य—" न तत्र सूर्य्योभाति न चन्द्रतारकं " मुं० २ । २ । १० इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से यह श्लोक लिया गया है, " न चक्षुषा गृह्यते नापिवाचा" मुं० ३ । १ । ८ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में इसको इन्द्रियागोचर कथन किया गया है और इसी को गी० अ० १२ में अक्षर ब्रह्म कथन किया गया है, जिसकी प्राप्ति साकारवादी टीकाकारों ने देहधारी लोगों के लिये दुर्घट मानी थी, उसको यहां कृष्णजी ने "तद्धामपरमंमम" यह वाक्य कहकर अपना भी उपास्यदेव मानलिया । मायावादी लोग इसके यह अर्थ करते हैं कि यहां षष्ठी के अर्थ भेद के नहीं किन्तु " राहोः शिरः " इस वाक्य के समान राहु का शिर है यह बात नहीं प्रत्युत राहु ही शिर है यह अर्थ लाभ होता है अर्थात् मेराधाम नहीं, मैं हीधाम हूं, यह अर्थ हैं । इस अर्थके मानने पर भी निर्गुण की प्राप्ति साकारवादी लोगों को अवश्य माननी पड़ती है अर्थात् फिर यह नहीं कहसकते कि देहधारी लोग निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त नहीं होसकते । सार यह निकला कि अहं शब्दका वाच्यार्थ यदि यहां निर्गुण ब्रह्म माना जाय तब भी कृष्ण जी का महत्व इससे सिद्ध नहीं होता क्योंकि कृष्ण जी उनके मतमें सगुण ब्रह्म हैं, और यहां कृष्ण जी ने निर्गुणब्रह्मको आत्मत्वेन उपासना के अभिप्राय से वर्णन किया है । मधुसूदन स्वामी ने तो यहां भी इस पदकी प्राप्ति " अहंब्रह्मास्मि " इस वाक्यद्वारा मानी है जिसका गंध मात्र भी इस श्लोक मेंनहीं,

वह इसलिये मानी है कि इनके मतमें जब जीव ब्रह्म बन जाता है तो फिर पुनरावृत्ति नहीं होती । और जीवको ब्रह्म बनाने का यह प्रकार है कि इनके मतमें अन्तःकरण व अविद्या में जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है वही जीव है । इस पक्षमें जैसे जलरूप उपाधिके मिटने से सूर्य्य का प्रतिविम्ब बिम्बरूप हो जाता है इसी प्रकार अन्तःकरणादि उपाधियों के मिटने से जीव ब्रह्मकी एकता हो जाती है । और जिस पक्षमें बुद्धि के साथ मिला हुआ जो ब्रह्म का भाग है उसका नाम जीव है, इस पक्षमें घटाकाशकी घटरूप उपाधि के फूटने से जैसे घटाकाश महाकाशरूप हो जाता है इसी प्रकार बुद्ध्यवच्छिन्न जीवरूपी भाग बुद्धिरूपी उपाधि के मिटने से ब्रह्मरूप हो जाता है । एवं प्रतिविम्ववाद, अवच्छेदवाद आभासवाद, इनके कई एकवाद हैं. इन वादों से हमें विवाद क्या ! यहां विचार योग्य बात तो यह है कि जीवका स्वरूप क्या है? यदि जीव वास्तव में घटाकाश के समान ही ब्रह्म से भिन्न है और स्वयं उसका कोई स्वरूप नहीं तो इनका यह दावा कि जीव ब्रह्म हो जाता है सच्चा होसकता है, पर जब जीव नित्य है जैसा कि :—"नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्चताभ्यः" ब्र॰ सू॰ २।३। १७। में जीवको उत्पत्तिशून्य कथन किया है और श्रुतियें भी उसको नित्य कथन करती हैं तो फिर उसका ब्रह्मसे जीव बनना तथा जीवभाव नाश होकर ब्रह्म बन जाना कैसे सिद्ध हो सकता है ॥

ननु, अंशाअंशीभाव से जीव ब्रह्मका अंश होसकता है इसमें क्या दोष है ? उत्तर—अंशाअंशी भावसे जीवब्रह्म का खण्ड कहीं भी प्रतिपादन नहीं किया गया, किन्तु "पादोऽस्य वि-

इवाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि" यजु० ३१ । ३ इस वेद मंत्र में ब्रह्मका एक देशी होने से जीवको अंश कथन कियागया है, वास्तव में जीव ब्रह्मका अंश नहीं । स्वामी शं० चा० भी इस पर यह लिखते हैं कि :—"अंशइवांशोनहि निरवयवस्यमुख्योंशः सम्भवति" ब्र० सू० २ । ३ । ४३ शं० भा० अर्थ—अंशके समान है वास्तव में निरवयवका अंश नहीं हो सकता, जब उसका खण्ड होकर जीव अंशही नहीं हो सकता तो फिर जीवका ब्रह्म बनना क्या ! देखो :—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ७

पद०—मम । एव । अंशः । जीवलोके । जीवभूतः । सनातनः । मनःषष्ठानि । इन्द्रियाणि । प्रकृतिस्थानि । कर्षति ॥

पदार्थ—(जीवलोके) इस संसार में (जीवभूतः सनातनः) सनातन जो यह जीव है वह (मम एव अंशः) उस परमात्मा का अंश है । यह जीव (मनः षष्ठानि) मन है छठा जिसमें ऐसी (प्रकृतिस्थानि) प्रकृति की बनी हुई (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (कर्षति) गमनागमन में अपने साथ लेजाता है ॥

भाष्य—सनातन शब्दके कथन से यहां यह बात सिद्ध होगई कि जीव घटाकाश वा अग्नि के चिङ्गारे के समान ब्रह्मका अंश नहीं किन्तु आदि कालसे प्रकृति से भिन्न ब्रह्मकी विभूतिरूप है, यदि ब्रह्म ही जीवभावको प्राप्त हुआ २ होता तो इसीअध्याय के १७ वें श्लोक में जीव ईश्वर का भेद क्यों कथन किया जाता और गी० १३ । १९ में जीव को अनादि क्यों माना जाता !

एवं गीता के पूर्वोत्तर विचार करने से यहां अंशशब्दके अर्थ ईश्वर की विभूति के हैं, महाकाश से घटाकाश तथा अग्निके विकारे के समान अंशके नहीं ॥

सं०—अब जीवके गमनागमन का कथन करते हैं :—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गंधानिवाशयात् ८

पद०—शरीरं । यत् । अवाप्नोति । यत् । च । अपि । उत्क्रामति । ईश्वरः । गृहीत्वा । एतानि । संयाति । वायुः । गंधान् । इव । आशयात् ॥

पदार्थ—(यत्) जिसकाल में (ईश्वरः) यह जीव (शरीरं) शरीर को (अवाप्नोति) प्राप्त होता है (यत् च अपि उत्क्रामति) और जिस समय छोड़ता है, उस समय जिस प्रकार वायु (आशयात्) पुष्पों से (गंधान् इव) गंधों को ग्रहण करके ले जाता है इस प्रकार (एतानि) पूर्वोक्त इन्द्रियों को (गृहीत्वा) ग्रहण करके (संयाति) जीवात्मा जाता है ॥

श्रोत्रं चक्षु स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

पद०—श्रोत्रं । चक्षुः । स्पर्शनं । च । रसनं । घ्राणं । एव । च । अधिष्ठाय । मनः । च । अयं । विषयान् । उपसेवते ॥

पद०—(श्रोत्रं) कान (चक्षुः) नेत्र (स्पर्शनं) त्वचा (रसनं) रसना (घ्राणं) नासिका (च) और (मनः) मनको (अधिष्ठाय) आश्रय करके (अयं) यह जीवात्मा (विषयान्) विषयों को (उपसेवते) भोगता है ॥

सं०—अब इस बात को कथन करते हैं कि इस प्रकार इन्द्रियों के सहित गमनागमन वाले जीवात्मा को मूढ़ नहीं जान सक्ते ज्ञानी ही जानते हैं:—

उत्क्रामन्तंस्थितंवापिभुञ्जानंवागुणान्वितं।
विमूढानानुपश्यन्तिपश्यन्तिज्ञानचक्षुषः १०

पद०—उत्क्रामन्तं। स्थितं। वा। अपि। भुञ्जानं। वा। गुणान्वितं। विमूढाः। न। अनुपश्यन्ति। पश्यन्ति। ज्ञानचक्षुषः॥

पदार्थ—(उत्क्रामन्तं) शरीर छोड़ते हुए को (स्थितं वा अपि) अथवा शरीर में स्थिर को (भुंजानं) भोगते हुए को (वा गुणान्वितं) अथवा गुणों के साथ मिले हुए को (विमूढाः) मूढ़पुरुष (न अनुपश्यन्ति) नहीं देखते (ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति) ज्ञान चक्षु वाले देखते हैं॥

सं०—अब जीवात्मा विषयक अनुभव ज्ञान को प्रतिपादन करते हैं:—

यतंतोयोगिनश्चैनंपश्यन्त्यात्मन्यवस्थितं।
यतंतोऽप्यकृतात्मानोनैनंपश्यंत्यचेतसः ११

पद०—यतन्तः। योगिनः। च। एनं। पश्यन्ति। आत्मनि। अवस्थितं। यतन्तः। अपि। अकृतात्मानः। न। एनं। पश्यन्ति। अचेतसः॥

पदार्थ—(यतन्तः) यत्न करते हुए (योगिनः) योगीलोग (एनं) इस जीवात्मा को (आत्मनि अवस्थितं) अपने शरीर में स्थिर को (पश्यन्ति) देखते हैं, और (अकृतात्मानः) मलिन अन्तःकरणवाले (अचेतसः) अविवेकी लोग (यतन्तः) यत्न करते हुए भी (एनं) इस जीवात्मा को (न पश्यन्ति) नहीं देखते॥

सं०—इस प्रकार जीवात्मा का भेद प्रतिपादन करके अब कृष्ण जी विभूतियोग से परमात्मा की विभूति को फिर वर्णन करते हैं:—

यदादित्यगतं तेजोजगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसियच्चाग्नौतत्तेजोविद्धिमामकम् ॥ १२

पद०—यत् । आदित्यगतं । तेजः । जगत् । भासयते । अखिलं । यत् । चन्द्रमसि । यत् । च । अग्नौ । तत् । तेजः । विद्धि । मामकं ॥

पदार्थ—(यत्) जो (आदित्यगतं तेजः) सूर्य्य में तेज है और जो (अखिलं जगत् भासयते) सारे जगत् का प्रकाश करता है (च) और (यत्) जो (चन्द्रमसि) चन्द्रमा में है और जो (अग्नौ) अग्नि में है (तत् तेजः) वह तेज (मामकं विद्धि) मेरा समझो ॥

भाष्य—"तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा-सर्वमिदंविभाति" मुं० २।२।१० इत्यादि उपनिषद्वाक्यों से यह श्लोक लियागया है। इसके अर्थ यह हैं कि उस परमात्मा के प्रकाश से ही यह सम्पूर्ण विश्ववर्ग प्रकाशित होता है ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामीचौषधिः सर्वाःसोमोभूत्वारसात्मकः

पद०—गां । आविश्य । च । भूतानि । धारयामि । अहं । ओजसा । पुष्णामि । च । औषधिः । सर्वाः । सोमः । भूत्वा । रसात्मकः ॥

पदार्थ—(गां) पृथिवी को (आविश्य) प्रवेश करके (अहं)

मैं (ओजसा) अपने बल से (भूतानि धारयामि) सब प्राणियों को धारण कररहा हूं और (रसात्मकः सोमः भूत्वा) रसरूपसोम होकर (सर्वाः औषधिः) सब औषधियों को (पुष्णामि) पुष्ट कर रहा हूं ॥

भाष्य—"येनद्यौरुग्राप्टथिवीचदृढ़ा" यजु० ३२ । ६ इत्यादि वैदिक मन्त्रों से यह भाव लियागया है जिनमें पृथिवी आदिकों का आधार परमात्मा को ही वर्णन कियागया है पूर्वोक्त प्रकार से अहं शब्द का वाच्य यहां परमात्मा है, तद्धर्मतापत्ति के भाव से कृष्णजी ने आत्मत्वेन प्रयोग किया है जैसाकि "वैश्वानरःसाधारणशब्दविशेषात्" ब्र०सू०१।२।२४ इत्यादि सूत्रों में महर्षिव्यास ने वैश्वानर के अर्थ परमात्मा के किये हैं किसी देव विशेष के नहीं, उस वैश्वानर को कृष्णजी यहां आत्मत्वेन कथन करते हैं:—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तःपचाम्यन्नंचतुर्विधम् । १४

पद०—अहं । वैश्वानरः । भूत्वा । प्राणिनां । देहं । आश्रितः । प्राणापानसमायुक्तः । पचामि । अन्नं । चतुर्विधं ॥

पदार्थ—(अहं) मैं (वैश्वानरः भूत्वा) वैश्वानर अग्नि होकर (प्राणिनां) जीवों के (देहं) देह को (आश्रितः) आश्रयकिया हुआ हूं और मैं ही (प्राणापान समायुक्तः) प्राण तथा अपान वायु के साथ मिला हुआ (चतुर्विधं अन्नं) चार प्रकार के अन्न को (पचामि) पचाता हूं ॥

भाष्य—चार प्रकार का अन्न यह है:—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, (१) जो दातों से चबाकर खायाजाय वह

भक्ष्य है (२) जो दांतों से विना भी खाया जासके वह भोज्य है (३) जो जिह्वा से चाटकर खायाजाय उसको लेह्य कहते हैं (४) जो इक्षुदण्ड के समान चूसाजाय उसको चोष्य कहते हैं ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो-
मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो-
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

पद०—सर्वस्य । च । अहं । हृदि । सन्निविष्टः । मत्तः । स्मृतिः । ज्ञानं । अपोहनं । च । वेदैः । च । सर्वैः । अहं । एव । वेद्यः । वेदान्तकृत् । वेदवित् । एव । च । अहं ॥

पदार्थ—(सर्वस्य) सब मनुष्यों के (हृदि) हृदय में (अहं-सन्निविष्टः) मैं स्थिर हूं (मत्तः) मेरे से स्मृति और ज्ञान होता है (अपोहनं च) और इन दोनों का ढ़क जाना भी मेरे से ही होता है (वेदैः च सर्वैः) सब वेदों को (वेद्यः) जानने योग्य (अहंएव) मैं ही हूं (वेदान्तकृत्) वेदान्त की सम्प्रदाय का करने वाला और (वेदवित्) वेदका जानने वाला (अहं एव) मैं ही हूं ॥

भाष्य—इन श्लोकों में परमात्मा को अंतर्यामीरूप से कथन किया है जैसाकि बृहदारण्यक के अंतर्यामी ब्राह्मण में परमात्मा को सबका अन्तर्यामी रूपसे कथन किया गया है, और जो यह कहा है कि "स्मृति और ज्ञानका होना भी मेरे से ही होता है और इनका न होना भी मेरे से ही होता है" यह निमित्त कारण के अभिप्राय से कथन कियागया है कि पूर्वकृत कर्मों के कारण परमात्मा ही सबको स्मृति आदिके देने और हर लेने वाला है जैसा कि ब्र०सू० ३ । ३ । ४२ में पूर्वकृत

कर्मों की अपेक्षा से परमात्मा को फल प्रदाता कथन किया है, यदि इसके अर्थ यही माने जायं कि भला बुरा सब ज्ञान कृष्ण ही देता है तो फिर कृष्णजी ने " सर्वधर्मान् परित्यज्य-मामेकं शरणं व्रज " गी० १८।६६ में यह क्यों कहा ! क्योंकि जब सबके ज्ञान और अज्ञान का कारण कृष्ण ही है तो सब धर्म कृष्णही की ओर से हैं फिर उनका निषेध क्यों ? और गी० १६। १९ में जो यह कहा है कि जो लोग अहंकारादिकों से अपने या पर देहों में मेरे से द्वेष करते हैं उनको मैं आसुरी योनि में फेंक देता हूं, फिर उन विचारों का क्या अपराध ! क्योंकि स्मृति ज्ञानादिक तो सब कृष्ण ही की ओर से मिलते हैं। यदि यह माना जाय कि इस श्लोकके यही अर्थ हैं तो पूर्वोक्त सहस्रों तर्क गीता को परस्पर विरुद्ध सिद्ध करते हैं और उपनिषदों के साथ संगत करने से इसके यह अर्थ लाभ होता हैं कि अंतर्यामी रूपसे परमात्मा सबके हृदय में स्थिर है, वह पूर्वकृत कर्मों की अपेक्षा से ज्ञान और स्मृति देता है और वही मंद कर्मों के कारण ज्ञान और स्मृति को हर लेता है, वही वेदान्तकृत वैदिक सिद्धान्तों का स्थिर करनेवाला है और वही वेदका वेत्ता है । मायावादी लोग इस श्लोक के अर्थों को अपनी ओर इस प्रकार खेंचते हैं कि जब सबके हृदय में वह स्थिर है तो यह अर्थलाभ हुए कि जीवरूप वही बनगया है। यदि इस श्लोकका यह तात्पर्य्य होता तो १७ वें श्लोक में जाकर कृष्णजी अपने आपको जीव से भिन्न क्यों वर्णन करते ? इसलिये इस श्लोकका आशय परमात्मा को सर्वान्तर्यामी और सबसे श्रेष्ठ प्रतिपादन करने का है जैसाकि निम्नलिखित श्लोकमें वर्णन किया जाता है :—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरःसर्वाणिभूतानिकूटस्थोऽक्षरउच्यते।१६

पद०—द्वौ । इमौ । पुरुषौ । लोके । क्षरः । च । अक्षरः । एव । च । क्षरः । सर्वाणि । भूतानि । कूटस्थः । अक्षरः।उच्यते॥

पदार्थ—(द्वौ इमौ पुरुषौ लोके) लोक में यह दो पुरुष हैं (क्षरः) एक क्षर है (च) और (अक्षरः एव च) दूसरा अक्षर है (क्षरः सर्वाणि भूतानि) सब भूत क्षर हैं और (कूटस्थः अक्षरः उच्यते) अक्षर कूटस्थ कहा जाता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में क्षर शब्द से प्रकृति और प्रकृति के कार्य्य मात्रको कथन किया है, और कूटस्थ तथा अक्षर शब्द से जीवात्मा को कथन किया है । कूट नाम लोह पिण्ड का है उस के समान जो निश्चल हो उसको कूटस्थ कहा है । और मायावादियों के मतमें कूट नाम माया का है, उस मायाकी आवरण और विक्षेप शक्ति से जो स्थिर हो उसका नाम कूटस्थ है अर्थात् मायाकी आवरण और विक्षेपशक्ति से जो ब्रह्म जीवरूप होगया है उसके अर्थ यहां कूटस्थ के हैं, यह अर्थ यदि ठीक होते तो कृष्णजी अपने आपको इस औपाधिकरूप से भिन्न क्यों कथन करते क्योंकि जब इनके मतमें कृष्णका रूप भी उपाधि वाला है फिर विचारे जीवरूप ब्रह्म ने उपाधि में फसकर क्या अपराध किया जो उसको तुच्छ समझकर कृष्णजी अपने आपको बड़ा सिद्ध करते हैं, इस प्रकार विवेचन करने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि कूटस्थ के अर्थ यहां निर्विकार होने के अभिप्राय से जीव के हैं ॥

सं०—अब उस जीव से परमात्मा का भेद सिद्ध करते हैं:—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्त्यव्यय ईश्वरः १७

पद०—उत्तमः । पुरुषः । तु । अन्यः । परमात्मा । इति । उदाहृतः । यः । लोकत्रयं । आविश्य । बिभर्त्ति । अव्ययः । ईश्वरः ॥

पदार्थ—(यः) जो (लोकत्रयं आविश्य) तीनो लोकों में प्रवेश करके (बिभर्त्ति) इस सम्पूर्ण संसार को धारण कर रहा है, फिर कैसा है, अव्यय है, ईश्वर है, (उत्तमः पुरुषः) उत्तम पुरुष है, पूर्वोक्त प्रकृति और जीव से (अन्यः) भिन्न है (परमात्मा इति उदाहृतः) वह परमात्मा नाम से कथन किया गया है ॥

सं०—अब उस परमात्मा पुरुषको कृष्णजी अहंग्रह उपासना के भावसे आत्मवाची शब्द से कथन करते हैं :—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मिलोकेवेदेचप्रथितःपुरुषोत्तमः॥१८

पद०—यस्मात् । क्षरं । अतीतः । अहं । अक्षरात् । अपि । च । उत्तमः । अतः । अस्मि । लोके । वेदे । च । प्रथितः । पुरुषोत्तमः ॥

पदार्थ—(यस्मात्) जिसलिये (क्षरं) क्षर प्रकृति से (अहं-अतीतः) मैं परे हूं (अक्षरात् अपि च) और अक्षररूपी जीव से (उत्तमः) श्रेष्ठ हूं (अतः) इसलिये (लोके) लोक में (वेदे) वेद में (पुरुषोत्तमः प्रथितः) उत्तम पुरुष प्रसिद्ध हूं ॥

सं०—अब उस पुरुषोत्तम परमात्मा के ज्ञानका फल कथन करते हैं:—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १६

पद०—यः । मां । एवं । असंमूढः । जानाति । पुरुषोत्तमं । सः । सर्ववित् । भजति । मां । सर्वभावेन । भारत ॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (मां) मुझको (एवं) इस प्रकार (असंमूढः) मोह से रहित हुआ (पुरुषोत्तमं जानाति) पुरुषोत्तम जानता है (सः) वह (सर्ववित्) सबकुछ जानता है, हे भारत (सर्व भावेन) सर्व प्रकार से (मां) मेरा (भजति) भजन करता है ॥

सं०—अब इस निर्गुण ब्रह्म प्रतिपादक शास्त्र की स्तुति करते हुए इस अध्याय को समाप्त करते हैं:—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुध्वाबुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्चभारत२०

पद०—इति । गुह्यतमं । शास्त्रं । इदं । उक्तं । मया । अनघ । एतत् । बुध्वा । बुद्धिमान् । स्यात् । कृतकृत्यः । च । भारत ॥

पदार्थ—(अनघ) हे निष्पाप अर्जुन (इदं) यह (इति गुह्यतमं शास्त्रं) अतिगोपनीयशास्त्र (मया उक्तं) मैंने कथन किया (एतत् बुध्वा) इसको जानकर (बुद्धिमान् स्यात्) पुरुष बुद्धिमान् होता है और हे भारत (कृतकृत्यः) कृतकृत्य होता है ॥

भाष्य—कृष्णजी ने इस उत्तम पुरुष का आत्मत्वेन प्रतिपादन आत्मत्वोपासना के अभिप्राय से किया है जैसाकि:— "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्" गी० १४ । २७ में अपने को परमात्मत्वेन कथन किया है । यदि यहां वास्तव में कृष्ण अपने

आपको परमात्मारूप से कथन करते तो ब्रह्मकी प्रतिष्ठा के क्या अर्थ होते, और "ईश्वरःसर्वभूतानांहृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति" गी० १८।६१ इत्यादि कृष्ण से भिन्न ईश्वर प्रतिपादक श्लोकों के क्या अर्थ होते ? एवं पूर्वोत्तर विचार करने से यह सिद्ध होता है कि इस अध्याय में कृष्णजी ने परमात्मा से जीव का तद्धर्मतापत्तिद्वारा योग कथन किया है ॥

इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिवद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये पुरुषोत्तमयोगोनाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥
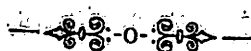
अथ

॥ षोड़शोऽध्यायः ॥

सङ्गति—पूर्व के १५वें अध्याय में वासनारूपी कर्मों को जीव के जन्म का कारण कथन किया, और वे वासनाएं जीवों की प्रकृति कहलाती हैं अर्थात् शुभ वासनाओं से मनुष्यकी दैवी प्रकृति बनती है और अशुभ वासनाओं से आसुरी प्रकृति बनती है, इसलिये दैवी प्रकृति और आसुरी प्रकृति का विवेक करने के लिये इस अध्याय में सात्त्विकी शुभवासना वालों के गुणों को वर्णन कियाजाता है ॥

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानंदमश्चयज्ञश्चस्वाध्यायस्तपआर्जवम् १

पद०—अभयं। सत्त्वसंशुद्धिः। ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं। दमः। च। यज्ञः। च। स्वाध्यायः। तपः। आर्जवं॥

पदार्थ—(अभयं) सन्मार्ग में किसी से न डरना (सत्त्वसंशुद्धिः) मनको शुद्ध रखना (ज्ञानयोगव्यवस्थितिः) ज्ञान = सत्यासत्य का विचार, योग = वैदिक कर्मों का अनुष्ठान, अवस्थितिः = इनमें अपनी दृढ़ता रखना (दानं) पात्रको दान करना (दमः) इन्द्रियों को रोकना (च) और (यज्ञः) निष्काम कर्म करना (च) और (स्वाध्यायः) अर्थ सहित वेदका विचार करना (तपः) ब्रह्मचर्यादि व्रतों से शरीरादिकों को वशमें रखना (आर्जवं) निष्कपट रहना॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।२

पद०—अहिंसा। सत्यं। अक्रोधः। त्यागः। शान्तिः। अपैशुनं। दया। भूतेषु। अलोलुप्त्वं। मार्दवं। ह्रीः। अचापलं॥

पदार्थ—(अहिंसा) किसी प्राणी को दुःख न देना (सत्यं) जैसा हृदय में हो वैसा ही प्रकाश करना (अक्रोधः) क्रोध न करना (त्यागः) उदारता रखना (शान्तिः) सहनशील रहना (अपैशुनं) अपरोक्ष में किसी पुरुषके दोष प्रकट न करना (भूतेषु दया) दुःखी प्राणियों पर कृपा करना (अलोलुप्त्वं) विषयों का सम्बन्ध होने पर भी इन्द्रियों को अविकारी रखना (मार्दवं) क्रूर स्वभाव न रखना (ह्रीः) मन्द कर्मों में लोक लाज से डरना (अचापलं) व्यर्थ चपलता से हाथ पैर आदि को न हिलाना,

यह सब दैवी सम्पत्ति वालों के गुण हैं ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

पद०—तेजः । क्षमा । धृतिः । शौचं । अद्रोहः । नातिमानिता । भवन्ति । सम्पदं । दैवीं । अभिजातस्य । भारत ॥

पदार्थ—(तेजः) अपने गुण गौरव से तेजस्वी रहना (क्षमा) स्वसामर्थ्य के होने पर भी किसी के अनुपकार करने पर उससे द्वेष न करना (धृतिः) आपत्ति आपड़ने पर दृढ़ता से रहना (शौचं) शरीर, मन, वाणी से पवित्र रहना (अद्रोहः) किसी से द्वेष न करना (नातिमानिता) अभिमान न करना, हे भारत (दैवीं-सम्पदं अभिजातस्य) दैवीसम्पद् = सात्त्विकी वासनाको आश्रय करके जो पुरुष उत्पन्न हुआ है उसके यह पूर्वोक्त गुण (भवन्ति) होते हैं ॥

भाष्य—योग्यता के अनुकूल इनके यह अर्थ करलेने कि तेज, धृति, क्षमा, दैवीसम्पत्ति वाले क्षत्री के ही मुख्यधर्म हैं, और शौच, अद्रोह, यह वैश्यके मुख्य धर्म हैं, अभिमान न करना यह शूद्रका मुख्य धर्म है ॥

सं०—अब आसुरी सम्पत्तिवाले के भावों को कथन करतेहैं:—

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ४

पद०—दंभः । दर्पः । अभिमानः । च । क्रोधः । पारुष्यं । एव । च । अज्ञानं । च । अभिजातस्य । पार्थ । सम्पदं । आसुरीं ॥

पदार्थ—(दंभः) अपने अपगुणों को छिपाकर लोभके लिये

अपने महात्मापन को प्रकट करना (दर्पः) श्रेष्ठ पुरुषों का अपमान करने के लिये जो गर्व है उसको दर्प कहते हैं (अभिमानः) अपने में पूज्य बुद्धि रखना (क्रोधः) द्वेषाग्नि से अन्तःकरण में दाहरूपी वुद्धि का उत्पन्न होना (पारुष्यं) किसी को दुखाने के लिये कटुवचन वोलना (अज्ञानं) उलटी बुद्धि रखना, चकार से अधृति आदि सब दोषों का ग्रहण करलेना (आसुरीं सम्पदं-अभिजातस्य) आसुरी सम्पत्ति की वासनाओं को लेकर जो पुरुष उत्पन्न हुए हैं उनमें पूर्वोक्त दोष होते हैं ॥

सं०—अब दैवीसम्पद् और आसुरीसम्पद् का फल कथन करते हैं:—

दैवीसंपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
माशुचःसम्पदंदैवीमभिजातोऽसिपाण्डव॥५

पद०—दैवीसम्पद् । विमोक्षाय । निबन्धाय । आसुरी । मता । मा । शुचः । सम्पदं । दैवीं । अभिजातः । असि । पाण्डव ॥

पदार्थ—(दैवीसम्पद् विमोक्षाय) मुक्ति के लिये दैवीसम्पद् है और (निबन्धाय) बन्धन के लिये (आसुरीमता) आसुरी सम्पद् मानीगई है, हे पाण्डव (मा शुचः) तु शोक मतकर (दैवीं-सम्पदं अभिजातः असि) तु पुण्यरूपी वासना को आश्रय करके उत्पन्न हुआ है ॥

भाष्य—इस श्लोक में कृष्णजी ने यह वोधन किया है कि तेरी वासनारूप पूर्व प्रकृति दैवी थी इसलिये तु दैवी सम्पद् के गुणों वाला है अतएव शोक मतकर ॥

सं०—ननु, देव, असुर, तो अलौकिक माने गए हैं मैं तो मनुष्य हूं मैं देव कैसे कहला सक्ता हूं ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये कृष्णजी कहते हैं कि:—

**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६**

पद०—द्वौ । भूतसर्गौ । लोके । अस्मिन् । दैवः । आसुरः । एव । च । दैवः । विस्तरशः । प्रोक्तः । आसुरं । पार्थ । मे । शृणु ॥

पदार्थ—(अस्मिन् लोके) इसलोक में (द्वौ भूतसर्गौ) दो प्रकार के मनुष्यों की सृष्टि है (दैवः) जो पूर्वोक्त दैवीसम्पत्ति के गुणोंवाले हैं वह देव हैं, और जो दम्भादि आसुरी सम्पत्ति के भावोंवाले हैं वे (आसुरः) असुर हैं (दैवः विस्तरशः प्रोक्तः) दैव विस्तार पूर्वक कथन किये गए, हे पार्थ (आसुरं मे शृणु) आसुर प्राणीवर्ग का मेरे से श्रवण कर ॥

भाष्य—इस श्लोक से कृष्णजी ने स्पष्ट सिद्ध कर दिया कि देवता और असुर कोई विशेष योनि नहीं, किन्तु इन्हीं देहधारी मनुष्यों में से दिव्यगुणोंवाले देवता कहलाते हैं और दम्भादि अपगुणों वाले असुर वा राक्षस कहलाते हैं ॥

सं०—अब असुरों के भावों को ७ वें से लेकर २० वें श्लोक तक वर्णन करते हैं:—

**प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७**

पद०—प्रवृत्तिं । च । निवृत्तिं । च । जनाः । न । विदुः । आसुराः । न । शौचं । न । आपि । च । आचारः । न । सत्यं । तेषु । विद्यते ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (आसुराः जनाः) असुर स्वभाव वाले लोग (प्रवृत्तिं) प्रवृत्ति (च) और (निवृत्तिं) निवृत्ति को (न विदुः) नहीं जानते (न शौचं) न पवित्रता को (न अपि च आ-

चारः) और न आचार को (न सत्यं तेषु विद्यते) न उन में सत्य होता है ॥

भाष्य—प्रवृत्ति, निवृत्ति के अर्थ यहां धर्म में प्रवृत्ति और अधर्म से निवृत्ति के हैं ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्पर संभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

पद०—असत्यं । अप्रतिष्ठं । ते । जगत् । आहुः । अनीश्वरं । अपरस्परसम्भूतं । किं । अन्यत् । कामहैतुकं ॥

पदार्थ—(ते) वे असुरलोग (जगत् अनीश्वरं आहुः) जगत् को ईश्वर का बनाया हुआ नहीं मानते (असत्यं) असत्य मानते हैं (अप्रतिष्ठं) धर्माधर्म की व्यवस्था से रहित मानते हैं (अपरस्पर सम्भूतं) अपरश्चपरश्चेति, अपरस्परम् = अन्योऽन्य से जिसकी उत्पत्ति हो अर्थात् आपस में स्त्रीपुरुष के कारण से ही मनुष्यादि योनियों को मानते हैं (कामहैतुकं) स्त्रीपुरुष की कामना से मनुष्यवर्ग को बना हुआ मानते हैं (किंअन्यत्) अदृष्टादि और कारण किं = क्या हैं अर्थात् और कुछ नहीं ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

पद०—एतां । दृष्टिं । अवष्टभ्य । नष्टात्मानः । अल्पबुद्धयः । प्रभवान्ति । उग्रकर्माणः । क्षयाय । जगतः । अहिताः ॥

पदार्थ—(एतां दृष्टिं अवष्टभ्य) इस पूर्वोक्त नास्तिक भावकी दृष्टि को लेकर (नष्टात्मानः) वे नष्ट आत्मावाले हैं (अल्पबुद्धयः) तुच्छ बुद्धि वाले हैं (उग्रकर्माणः) क्रूर कर्मों वाले हैं (अहिताः)

ऐसे अनुपकारी लोग (जगतः क्षयाय प्रभवन्ति) संसार के नाशके लिये होते हैं। फिर वे कैसे हैं :—

काममाश्रित्यदुष्पूरं दंभमानमदान्विताः।मो-हाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः

पद०—कामं। आश्रित्य। दुष्पूरं। दंभमानमदान्विताः। मोहात्। गृहीत्वा। असद्ग्राहान्। प्रवर्त्तन्ते। अशुचिव्रताः॥

पदार्थ—(दुष्पूरं कामं आश्रित्य) पूर्ण न होने वाली कामनाओं को लेकर (दंभमानमदान्विताः) दंभ, मान, और मदसे सदा लिपटे रहते हैं (असद्ग्राहान्) झूठी बातों को (मोहात् गृहीत्वा) मोह से ग्रहण करके (प्रवर्त्तन्ते) वर्त्तते हैं, फिर वह कैसे हैं (अशुचिव्रताः) अपवित्र वस्तुओं की प्रतिज्ञायें करते हैं॥

भाष्य—**असद्ग्रह** के अर्थ यह हैं कि मिथ्या विश्वास से अपूज्य वस्तुओं को पूज्य समझते रहते हैं और अनेक प्रकार के मिथ्या व्रत करके देवी देवताओं को वशीभूत करने के यत्न में लगे रहते हैं। फिर कैसे हैं :—

चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः। कामोपभोगपरमा एतावदितिनिश्चिताः११

पद०—चिंतां। अपरिमेयां। च। प्रलयांतां। उपाश्रिताः। कामोपभोगपरमाः। एतावत्। इति। निश्चिताः॥

पदार्थ—(अपरिमेयां चिंतां) असीमचिंता को (उपाश्रिताः) आश्रय किये हुए रहते हैं, वह कैसी चिंता है (प्रलयांतां) जो मरण तक बनी रहती है, फिर वह कैसे हैं (कामोपभोगपरमाः) कामका भोग करना है परमउद्देश्य जिनका (एतावत् इति निश्चिताः) विषय जन्य सुखही सुख है, इस निश्चयवाले हैं। फिर कैसे हैं:—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहंते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ।१२

पद०—आशापाशशतैः । वद्धाः । कामक्रोधपरायणाः । ईहंते । कामभोगार्थं । अन्यायेन । अर्थसंचयान् ॥

पदार्थ—(आशापाशशतैः) आशा=अप्राप्त पदार्थों की इच्छारूपी पाशशतैः =सैकड़ों जालों में (वद्धाः) वंधे हुए हैं, और (कामक्रोधपरायणाः) काम तथा क्रोध को आश्रय किये हुए हैं (कामभोगार्थं) कामके भोगके लिये (अन्यायेन) अन्यायसे (अर्थसंचयान्) धनके संचयकी (ईहंते) इच्छा करते हैं ॥

सं०—अब इस वातको वर्णन करते हैं कि वह किस प्रकार अन्याय से धन संचयकी इच्छा करते हैं :—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।१३

पद०—इदं । अद्य । मया । लब्धं । इमं । प्राप्से । मनोरथं । इदं । अस्ति । इदं । अपि । मे । भविष्यति । पुनः । धनं ॥

पदार्थ—(इदं अद्य मया लब्धं) यह आज मुझे प्राप्त होगया है (इमं मनोरथं प्राप्से) और इस मनोरथ को प्राप्त होऊंगा (इदं अस्ति) यह धन मेरे घर में है (इदं धनं पुनः भविष्यति)और यह धन भावी काल में और होजायगा, इस प्रकार के मनोरथ अन्याय से धन संचय के करते रहते हैं ॥

सं०—अब उन आसुरी सम्पत्ति वाले पुरुषों के क्रोध और अभिमान का वर्णन करते हैं :—

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।

ईश्वरोऽहमहंभोगीसिद्धोऽहंबलवान्सुखी १४

पद०—असौ । मया । हतः । शत्रुः । हनिष्ये । च । अपरान् । अपि । ईश्वरः । अहं । अहं । भोगी । सिद्धः । अहं । बलवान् । सुखी ॥

पदार्थ—(असौ शत्रुः मया हतः) यह शत्रु तो मैंने मारलिया (च) और (अपरान् अपि हनिष्ये) औरों को भी मारूंगा (अहं ईश्वरः) मैं ईश्वर हूं (अहंभोगी) मैं भोगों वाला हूं (अहंसिद्धः) मैं सिद्ध हूं, मैं बलवान् हूं, मैं सुखी हूं, इत्यादि अभिमान की बातें करते रहते हैं ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति-
सदृशो मया । यक्ष्ये दास्यामि-
मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

पद०—आढ्यः । अभिजनवान् । अस्मि । कः । अन्यः । अस्ति । सदृशः । मया । यक्ष्ये । दास्यामि । मोदिष्ये । इति । अज्ञानविमोहिताः ॥

पदार्थ—(आढ्यः अस्मि) मैं धनवान् हूं (अभिजनवान्) बहुत मनुष्यों वाला हूं (अन्यः) और (कः) कौन (मया सदृशः अस्ति) हमारे बराबर है (यक्ष्ये) मैं यज्ञ करूंगा (दास्यामि) दान दूंगा (मोदिष्ये) प्रसन्न होऊंगा (इति अज्ञान विमोहिताः) अज्ञान से मोहको प्राप्त हुए २ असुर लोग ऐसी मनोरथमात्र की सरित में बहे चले जाते हैं ॥

भाष्य—आसुरीसम्पत्ति में यज्ञ करना इस अभिप्राय से है कि असुरलोग देवी देवताओं को प्रसन्न करने के लिये मनोरथ मात्रके यज्ञोंको मानते हैं, जैसाकि १०वें श्लोकमें "असद्ग्रह"

शब्द से मनोरथ मात्रके देवी देवताओं का उपासक होना आसुरी सम्पत्ति में कथन किया गया है, इसी प्रकार मिथ्या भूत देवताओं के प्रसन्न करने के लिये जो यज्ञ हैं वह भी आसुरी सम्पत्ति का ही भाव है। और वैदिक यज्ञ दैवी सम्पत्तिका भाव है जैसाकि "नायं लोकोस्ति अयज्ञस्य" गी० ४। ३१, जो यज्ञ नहीं करता उसका यह लोक भी नहीं सुधर सकता, परलोक की तो कथा ही क्या! इत्यादि वाक्यों में वैदिक यज्ञ का वर्णन है॥

सं०—यह अवैदिक यज्ञ करने वाले असुरलोग फिर कैसे हैं:—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताःकामभोगेषुपतन्तिनरकेऽशुचौ।१६

पद०—अनेकचित्तविभ्रान्ताः। मोहजालसमावृताः। प्रसक्ताः। कामभोगेषु। पतन्ति। नरके। अशुचौ॥

पदार्थ—(अनेकचित्तविभ्रान्ताः) अनेक उपास्य देवों में जिनका चित्त भ्रम को प्राप्त होरहा है (मोहजालसमावृताः) अज्ञानरूपी जो जाल है उससे बन्धे हुए हैं (कामभोगेषुप्रसक्ताः) विषयभोग में फसे हुए हैं (अशुचौ नरके पतन्ति) वह घोर नरक में पड़ते हैं॥

भाष्य—नरक, शब्द के अर्थ यहां किसी लोक विशेष के नहीं किन्तु विषय परायण होने से स्वशरीर ही उनके लिये घोर नरक का आगार होजाता है, जैसाकि आगे २१वें श्लोक में जाकर यह कथन करेंगे कि कामक्रोधादि ही नरक के द्वार हैं॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धाधनमानमदान्वि-
ताः। यजन्तेनामयज्ञैस्तेदंभेनाविधिपूर्वकम्।

पद०—आत्मसम्भाविताः । स्तब्धाः । धनमानमदान्विताः । यजन्ते । नामयज्ञैः । ते । दम्भेन । अविधिपूर्वकं ॥

पदार्थ—(आत्मसम्भाविताः) अपनी प्रशंसा करते रहते हैं, (स्तब्धाः) ढीठ होते हैं (धनमानमदान्विताः) धन के कारण जो मान और मद हैं उनसे ग्रस्त रहते हैं (ते) वे असुर (नामयज्ञैः) नाममात्र के यज्ञों से (दम्भेन) दम्भ से (अविधिपूर्वकं) अविधिपूर्वक (यजन्ते) यजन करते हैं ॥

भाष्य—अवैदिक होने से इनके यज्ञको अविधिपूर्वक कहा गया है अर्थात् "यज्ञोवैविष्णुः" इत्यादि वाक्यों से एकमात्र परमात्मा का पूजन नहीं करते किन्तु अनेक उपास्य मानकर मोहजाल में फसे रहते हैं, इस अभिप्राय से इनके यज्ञको अविधि पूर्वक कहा है ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८

पद०—अहंकारं । बलं । दर्पं । कामं । क्रोधं । च । संश्रिताः । मां । आत्मपरदेहेषु । प्रद्विषन्तः । अभ्यसूयकाः ॥

पदार्थ—अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध को (संश्रिताः) आश्रय किये हुए हैं (आत्मपरदेहेषु) अपने देह में और परपुरुषों के देह में (मां प्रद्विषन्तः) मुझ से द्वेष करते हैं, फिर कैसे हैं (अभ्यसूयकाः) निन्दक हैं ॥

भाष्य—अहंकार शब्द के अर्थ यहां मिथ्या अहंकार के हैं अर्थात् जो गुण अपने में न हों उनको मानलेना, और यही अर्थ बल शब्द के हैं । श्रेष्ठों की अवज्ञा करने के लिये जो मद है उसका नाम दर्प है मां=शब्द के अर्थ यहां परमात्मा के हैं

अर्थात् वे लोग परमात्मा को अपने और परदेहों में व्यापक नहीं मानते जैसाकि ८वें श्लोक में यह कथन कर आए हैं कि वह जगत् को ईश्वर का कार्य्य नहीं मानते। यहां अस्मच्छब्द का प्रयोग कृष्णजी ने इसलिये दिया है कि अग्रिम श्लोक में ईश्वर ने उनको आसुरीय योनियों में डालने का वर्णन करना है, मां=शब्द के ईश्वरवाची होने की और युक्ति यह है कि आत्मा से द्वेष करने के अर्थ यहां शास्त्रीय मर्यादा को उल्लङ्घन करने के हैं। और शास्त्र शब्द का मुख्यार्थ वेद है जैसाकि "शास्त्रयोनित्वात्" ब्र० सू० १। १। ३ में व्यासजी ने निरूपण किया है। इससे पायागया कि वैदिक ईश्वर से द्वेष करना यहां आसुरीय भाव कथन किया गया है नाकि कृष्ण से द्वेष करना॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु १६

पद०—तान्। अहं। द्विषतः। क्रूरान्। संसारेषु। नराधमान्। क्षिपामि। अजस्रं। अशुभान्। आसुरीषु। एव। योनिषु॥

पदार्थ—(तान्) उन (द्विषतः क्रूरान्) द्वेष करनेवाले क्रूरस्वभावयुक्त असुरों को (नराधमान् अशुभान्) जो अशुभ काम करने वाले नीच पुरुष हैं उनको (अजस्रं) निरन्तर (संसारेषु) इस संसाररूपी रचना में (आसुरीषु एव योनिषु) आसुरी योनियों में ही (अहं क्षिपामि) मैं डालता हूं॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनिजन्मनि।
मामप्राप्यैवकौन्तेयततोयांत्यधमांगतिम् २०

पद०—आसुरीं। योनिं। आपन्नाः। मूढाः। जन्मनि।

जन्मनि । मां । अप्राप्य । एव । कौन्तेय । ततः । यान्ति । अधमां । गतिं ॥

पदार्थ—हे कौन्तेय (आसुरीं योनिं आपन्नाः) आसुरीय जन्म को प्राप्त हुए २ (मूढाः) मोह को प्राप्त वे असुरलोग (जन्मनि-जन्मनि) जन्म २ में (मां अप्राप्य) मुझ को प्राप्त न होकर (ततः) इस से भी (अधमांगतिं) नीचगति को (यान्ति) प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य—**मां**=शब्द के अर्थ यहां मधुसूदनस्वामीआदि टीकाकारों ने भी कृष्ण के नहीं किये किन्तु वेदमार्ग के किये हैं, कि वे असुर लोग वेदमार्ग को प्राप्त न होकर नीचगति को प्राप्त होते हैं । न केवल मधुसूदनादिकों ने यह अर्थ किये हैं प्रत्युत स्वामी शं० चा० यह लिखते हैं कि:—"**मच्छिष्ट साधुमार्गमप्राप्येत्यर्थः**" अर्थ—मेरे उपदेश किये हुए साधुमार्ग को प्राप्त न होकर वे नीचगति को प्राप्त होते हैं ॥

साकारवादियों का मैं और मेरे शब्द से जो साकार कृष्ण का ग्रहण करना दृढ़व्रत था वह यहां आकर भंग होगया अर्थात् स्वामी शं० चा० आदि आचार्य्यों ने भी इस बात को मान लिया कि मैं और मेरे शब्द से जहां कृष्ण ने कथन किया है वहां सब स्थानों में कृष्ण का ग्रहण नहीं, किन्तु योग्यता के अनुसार अर्थ का ग्रहण किया जाता है । इस कथन से "**मन्मनाभव मद्भक्तोमद्याजी मां नमस्कुरु**" गी० ९ । ३४ इत्यादि सब मार्ग स्पष्ट होगए कि इन स्थानों में भी योग्यता के अनुसार वैदिक अर्थ का ही ग्रहण है कृष्ण का नहीं ॥

सं०—ननु, उक्त आसुरीयभावों का मूल क्या है, जिस मूल

के त्याग से पुरुष इस आसुरीय सम्पत्ति के मोह जाल से अपने आपको बचावे ? उत्तर

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।२१

पद०—त्रिविधं । नरकस्य । इदं । द्वारं । नाशनं । आत्मनः । कामः । क्रोधः । तथा । लोभः । तस्मात् । एतत् । त्रयं । त्यजेत् ॥

पदार्थ—(आत्मनः नाशनं) अपने आत्मा को नष्ट करनेवाला (नरकस्य द्वारं इदं त्रिविधं) यह नरकका द्वार तीन प्रकार का है (कामः) काम (क्रोधः) क्रोध, तथा (लोभः) लोभ (तस्मात्) इसालिये (एतत्त्रयं) इन तीनों के समूहको (त्यजेत्) छोड़दे ॥

सं०—अब इन तीनों के त्याग का फल वर्णन करते हैं:—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः। आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२

पद०—एतैः । विमुक्तः । कौन्तेय । तमोद्वारैः । त्रिभिः । नरः । आचरति । आत्मनः । श्रेयः । ततः । याति । परां । गतिं ॥

पदार्थ—हे कौन्तेय (एतैः त्रिभिः तमोद्वारैः) उक्त तीन प्रकार के नरक के द्वार से (विमुक्तः नरः) छुटा हुआ पुरुष (आत्मनः श्रेयः आचरति) अपने हित का आचरण करता है (ततः) इससे (परां गतिं याति) मुक्ति को प्राप्त होता है ॥

सं०—उक्त कल्याण का मार्ग परमात्मा की वेदरूपी आज्ञाके पालन करने से ही मिलता है अन्यथा नहीं, इस बातको अग्रिम श्लोकमें प्रतिपादन करते हैं :—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम् ॥२३॥

पद०—यः । शास्त्रविधिं । उत्सृज्य । वर्त्तते । कामकारतः । न । सः । सिद्धिं । अवाप्नोति । न । सुखं । न । परां । गतिं ॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (शास्त्रविधिं) वेदकी आज्ञाको (उत्सृज्य) छोड़कर (कामकारतः) अपनी इच्छा से (वर्त्तते) चलता है (सः) वह पुरुष (न सिद्धिं अवाप्नोति) सिद्ध को प्राप्त नहीं होता (न सुखं) न सुखको (न परांगति) न मुक्ति को ॥

भाष्य—सिद्धि शब्दके अर्थ यहां मनुष्य जन्म के धर्मादि फलों के हैं, इसीलिये स्वामी शं० चा० जी ने यह अर्थ किये हैं "**पुरुषार्थयोग्यतां न आप्नोति**" कि वह पुरुष पुरुष की अर्थरूपी योग्यता को प्राप्त नहीं होता, और शास्त्र शब्द के अर्थ यहां वेद के हैं जैसाकि पीछे वर्णन कर आए हैं ॥

सं०—वैदिकमार्ग को सर्वोपरि कथन करके अब कृष्ण जी इस अर्थ का उपसंहार यों करते हैं:—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्या-
कार्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्र-
विधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥२४॥

पद०—तस्मात् । शास्त्रं । प्रमाणं । ते । कार्याकार्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वा । शास्त्रविधानोक्तं । कर्म । कर्त्तुं । इह । अर्हसि ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (कार्याकार्यव्यवस्थितौ) यह काम करने योग्य है, यह करने योग्य नहीं, इस व्यवस्था में (ते शास्त्रप्रमाणं) तुम्हारे लिये शास्त्र प्रमाण है (तस्मात्) इसलिये (शास्त्रविधानोक्तं) शास्त्र की विधि से कथन किया हुआ कर्म (इह) इस संसार में

(कर्त्तुं अर्हसि) तुम्हारे करने योग्य है ॥

भाष्य—इस श्लोक में अर्जुन की वृत्तियों को सब ओर से हटाकर कृष्णजी एकमात्र वैदिकमार्ग पर ले आए ॥

इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये दैवासुरसम्पद्विभागयोगोनाम षोड़शोऽध्यायः॥

—:o:—
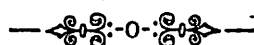
अथ

॥ सप्तदशोऽध्यायः ॥

सङ्गति—पूर्व के १६वें अध्याय में दैवी और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन किया गया, जिसमें सर्वोपरि इस बात को सिद्ध किया गया कि जो शास्त्रीय मर्य्यादा छोड़कर अपना स्वेच्छाचार करते हैं वह इस संसार में मनुष्य जन्म के फल चतुष्टय को उपलब्ध नहीं कर सकते, इसी प्रसङ्ग में शास्त्रीय श्रद्धा को सर्वोपरि कथन करने के लिये और शास्त्रीय सत्त्व प्रधान लोगों के यज्ञ, दान, तपादि सत्कर्मों के वर्णन करने के लिये इस अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है ॥

अर्जुनउवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्ययजंतेश्रद्धयाऽन्विताः ।

तेषां निष्ठातु का कृष्ण सत्त्वमाहोरजस्तमः १

पद०—ये। शास्त्रविधिं। उत्सृज्य। यजन्ते। श्रद्धया। अन्विताः। तेषां। निष्ठा। तु। का। कृष्ण। सत्त्वं। आहो। रजः। तमः॥

पदार्थ—हे कृष्ण (ये) जो लोग (शास्त्रविधिं) शास्त्र की आज्ञा को (उत्सृज्य) छोड़कर (श्रद्धया अन्विताः) श्रद्धा पूर्वक (यजन्ते) उपासनारूपी कर्म करते हैं (तेषां) उनकी (का निष्ठा) कैसी श्रद्धा है (सत्त्वं) सात्त्विकी श्रद्धा है (आहो) अथवा (रजः) राजसी है, वा (तमः) तामसी है? तु शब्द के अर्थ यहां पक्षान्तर के हैं॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि जो लोग असुर नहीं और शास्त्र विधि को छोड़कर श्रद्धापूर्वक अपने उपास्यदेव की उपासना करते हैं उनकी श्रद्धा तीनों गुणों में से किस गुण वाली कही जायगी? इस पक्ष में तु शब्द है। इसका कृष्ण जी यह उत्तर देते हैं कि:—

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेतितांशृणु।२

पद०—त्रिविधा। भवति। श्रद्धा। देहिनां। सा। स्वभावजा। सात्त्विकी। राजसी। च। एव। तामसी। च। इति। तां। शृणु॥

पदार्थ—(देहिनां श्रद्धा त्रिविधा भवति) मनुष्यों की श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी, तामसी, तीन प्रकार की होती है (सा स्वभावजा) और वह अपने स्वाभाविक सात्त्विकादि गुणों से उत्पन्न होती है (तां) उसको (शृणु) सुन॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।३

पद०—सत्त्वानुरूपा । सर्वस्य । श्रद्धा । भवति । भारत । श्रद्धामयः । अयं । पुरुषः । यः । यच्छ्रद्धः । सः । एव । सः ॥

पदार्थ—हे भारत (सर्वस्य) सब प्राणियों की (सत्त्वानुरूपा-श्रद्धाभवति) अपने अन्तःकरण के अनुकूल ही श्रद्धा होती है (अयं पुरुषः श्रद्धामयः) यह पुरुष श्रद्धा वाला है (यः) जो पुरुष (यच्छ्रद्धः) जैसी श्रद्धा वाला होता है (सः एव सः) वह वैसा ही होता है ॥

भाष्य—इस श्लोक से इस बात को स्पष्ट कर दिया कि पूर्व कृत कर्मों की वासना से जैसा अन्तःकरण बनता है वैसी ही श्रद्धा होती है, शास्त्रीय मनुष्य शास्त्र जन्य विवेक से रजोगुण और तमोगुण का तिरस्कारकरके सत्त्वप्रधान होजाते हैं इसलिये उनकी श्रद्धा सात्त्विकी होती है, और राजस, तामस, लोग जप तपादि साधन विहीन होने से अपनी राजसी, तामसी श्रद्धा का परिवर्त्तन नहीं कर सकते इसलिये वे राजसी और तामसी श्रद्धा वाले होते हैं । जैसा कि :—

यजंते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः ४

पद०—यजन्ते । सात्त्विकाः । देवान् । यक्षरक्षांसि । राजसाः । प्रेतान् । भूतगणान् । च । अन्ये । यजन्ते । तामसाः । जनाः ॥

पदार्थ—(सात्त्विकाः देवान् यजन्ते) सात्त्विक लोग देव= विद्वानों का सत्कार करते हैं और (राजसाः) राजसलोग (यक्ष-रक्षांसि) यक्ष=बलसे प्रतिष्ठित, रक्षांसि=पापी लोगों का सत्कार करते हैं (अन्ये तामसाः जनाः) और तामस लोग (भूत-

गणान्) अग्न्यादि भूत पदार्थों की और (प्रेतान्) मृत लोगों की (यजन्ते) पूजा करते हैं॥

भाष्य—इस श्लोक में राजस लोगों के पूज्य यक्ष, राक्षस, इस अभिप्राय से कथन किये गए हैं कि वे अपने राजसभाव के मद से यक्ष राक्षसों को ही पूज्य समझते हैं सत्त्व प्रधान विद्वान् देवों का उनको विवेक नहीं होता॥

ननु—गी० १०।२३ में यक्षके अर्थ देवके किये हैं और यहां यक्ष के अर्थ और किये हैं, यह परस्पर विरोध क्यों? उत्तर—वहां यक्ष शब्द मनुष्य जाति को देवासुर विभाग में बांट देने के लिये आया था इसलिये राक्षसों की अपेक्षा पूज्य होने से वहां यक्ष शब्द के अर्थ देवके किए गए और यहां सात्त्विक लोगों के पूज्य होने के अभिप्राय से देव, यक्ष, राक्षसादि भिन्न २ भावों वाले पुरुषों का वर्णन किया गया है, इसलिये देव शब्द के अर्थ यहां विद्वान् के हैं और यक्ष शब्द के अर्थ केवल बलसे प्रतिष्ठित शारीरिक बलधारी के ही हैं, जिस प्रकार यक्ष शब्द के अर्थ केनोपनिषद् में ईश्वर विषयक हैं और पौराणिक परिभाषा में भूतआदि योनियों के माने जाते हैं, इसी प्रकार यहां भी प्रकरण भेद से यक्ष शब्द के अर्थ भिन्न हैं, इसलिये कोई दोष नहीं। पौराणिक टीका कारों ने यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, यह योनि विशेष मानी हैं, वह लोग यह मानते हैं कि वायुमय देह विशेष को प्राप्त होकर जो अग्न्याकार मुखों वाले हैं वे प्रेत हैं, एवं कई एक प्रकार के अलौकिक, भयानक शरीर धारी भूतों को वे लोग यक्ष, राक्षस मानते हैं। उनकी यह कल्पना गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि गी० १६।६ में दो प्रकार के मनुष्यों की सृष्टि के भीतर देव और असुरों को गिना है, इससे पाया जाता है कि

गीता के कर्त्ता महर्षि व्यास के मतमें भूत प्रेत पिशाचादि कोई योनि विशेष नहीं ॥

सं०—ननु, तामस भावों वाले लोग भी कई प्रकारके तपस्वी देखे जाते हैं फिर उनकी श्रद्धा तामसी कैसे रही ? उत्तर

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताःकामरागबलान्विताः।५

पद०—अशास्त्रविहितं । घोरं । तप्यन्ते । ये । तपः । जनाः । दम्भाहंकारसंयुक्ताः । कामरागबलान्विताः ॥

पदार्थ—(अशास्त्रविहितं) जिसका वेद ने विधान नहीं किया और (घोरं) जो अत्यन्त पीड़ा देने वाला है (ये जनाः) जो पुरुष (तपः तप्यन्ते) ऐसे तपको करते हैं (दम्भाहंकारसंयुक्ताः) वे दम्भ और अहंकार से संयुक्त हैं (कामरागबलान्विताः) काम = शब्दस्पर्शादि विषय, राग = उनकी कामना और बल = उनमें आग्रह, इनतीनों बातों से अन्विता = युक्त हैं । फिर वह कैसे हैं:—

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः । मां-
चैवान्तःशरीरस्थंतान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्६

पद०—कर्षयन्तः । शरीरस्थं । भूतग्रामं । अचेतसः । मां । च । एव । अन्तः । शरीरस्थं । तान् । विद्धि । आसुरनिश्चयान् ।

पदार्थ—(शरीरस्थं) उनके शरीर में स्थिर (भूतग्रामं) जो भूतों का समुदाय है उसको (कर्षयन्तः) क्षीण करते हैं (अचेतसः) अज्ञानी हैं, (अन्तः शरीरस्थं मां च) और उनके शरीर में व्यापकरूप से जो परमात्मा स्थिर है उसको भी अपनी अज्ञानता से दूषित करते हैं (तान्) उनको (आसुरनिश्चयान्विद्धि) असुरों के निश्चयवाले जानो ॥

भाष्य—५वें श्लोक में जो शास्त्र शब्द आया है उसके अर्थ मधुसूदन स्वामी भी वेद ही के करते हैं कि जो वैदिक आज्ञा से विरुद्ध तप करते हैं वे असुरों के निश्चय वाले हैं। और उक्त श्लोक में जो कृष्णजी ने अस्मच्छब्द से उनके शरीरों में परमात्मा के व्यापकभाव को उनके दोषों से दूषित बतलाया है उसके अर्थ यह हैं कि वे परमात्मा के व्याप्य व्यापक भाव को जानकर भी काम, रागादि पापपिशाचों से नहीं भागते अर्थात् "ईशावास्यमिदꣳसर्वं" यजु० ४०। १ इत्यादि वैदिक मन्त्रों को लक्ष्य रखकर वे परधनापहरणादि दोषों से दूर नहीं होते, इस अभिप्राय से उनको ईश्वरीयभाव से द्वेष करने वाले कहा गया है ॥

सं०—अब सात्त्विक, राजस, तामस, लोगों की पहचान के चिन्हभूत आहार, यज्ञ, तप, दान, इन चार पदार्थों को वर्णन करते हैं:—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमंशृणु ॥७॥

पद०—आहारः। तु। अपि। सर्वस्य। त्रिविधः। भवति। प्रियः। यज्ञः। तपः। तथा। दानं। तेषां। भेदं। इमं। शृणु ॥

पदार्थ—(आहारः तु अपि सर्वस्य) सब लोगों को भोजन भी (त्रिविधः प्रियः भवति) तीन प्रकार का प्यारा होता है और इसी प्रकार यज्ञ, दान, तप, ये भी तीन २ प्रकार के होते हैं (तेषां) उनके (इमं भेदं) इसभेद को (शृणु) सुनो ॥

आयुः सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिवि-

वर्द्धनाः । रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विक प्रियाः ॥ ८ ॥

पद०—आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः । रस्याः । स्निग्धाः । स्थिराः । हृद्याः । आहाराः । सात्त्विकप्रियाः ॥

पदार्थ—(आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः) आयुः = उमर, सत्त्व = उत्साह, बल = शरीरका सामर्थ्य, आरोग्य = रोगों का न होना, सुख = चित्तकी प्रसन्नता, प्रीति = रुचि, विवर्द्धना = उक्त बातों को बढ़ाने वाले (आहाराः) भोजन (सात्त्विकप्रियाः) सात्त्विक लोगों को प्यारे होतेहैं, फिर वह भोजन कैसे हैं (रस्याः) रसों वाले (स्निग्धाः) चिकने (स्थिराः) चिरस्थायी फल वाले (हृद्याः) हृदय को प्रसन्न रखने वाले अर्थात् दुर्गन्धादि दोषों से रहित ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः । आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः । आहाराः । राजसस्य । इष्टा । दुःखशोकामयप्रदाः ॥

पदार्थ—(कट्वम्लत्रणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः) कटु = अतिकड़वे, अम्ल = आंवले के रसके समान रसवाले, लवण = अतिखारे, उष्ण = अति गरम, तीक्ष्ण = मिरचादि, रूक्ष = चिकनेपन से रहित, विदाहिनः = दाह उत्पन्न करने वाले (आहाराः) भोजन (राजसस्य) रजोगुण प्रधान पुरुषको (इष्टा) प्यारे होते हैं, वह (दुखशोकामयप्रदाः) दुःख = तत्काल दुःख, शोक = पीछे से पश्चात्ताप, आमय = राजयक्ष्मादि रोगों के प्रदाः = देने वाले हैं ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपिचामेध्यं भोजनंतामसप्रियम् १०

पद०—यातयामं । गतरसं । पूति । पर्युषितं । च । यत् । उच्छिष्टं । अपि । च । अमेध्यं । भोजनं । तामसप्रियं ॥

पदार्थ—(यातयामं) जो शीतल होगयाहो (गतरसं) जिसका रस निकाल लिया गया हो, जैसे मक्खन निकाले हुए दुग्धादि (पूति) दुर्गन्धिवाला (पर्युषितं च यत्) जो वहुत वासा होगयाहो (उच्छिष्टं) जो जूठा हो (च) और (अमेध्यं) अपवित्रहो (भोजनं) यह उक्त प्रकार का भोजन (तामसप्रियं) तामस लोगों को प्रिय होता है ॥

सं०—यह तीन प्रकार के भोजन कथन करनेके अनन्तर अब सात्विकादि भेद से यज्ञों को तीन प्रकार के कथन करते हैं:—

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनःसमाधाय स सात्त्विकः ११

पद०—अफलाकांक्षिभिः । यज्ञः । विधिदृष्टः । यः । इज्यते । यष्टव्यं । एव । इति । मनः । समाधाय । सः । सात्त्विकः ॥

पदार्थ—(यः यज्ञः) जो यज्ञ (विधिदृष्टः) शास्त्रविहित हो (यष्टव्यं एव इति मनः समाधाय) अवश्य करना चाहिये ऐसा मन का संकल्प करके (अफलाकांक्षिभिः) निष्काम कर्मी लोगों से (इज्यते) कियाजाता है (सः सात्त्विकः) वह सात्त्विक होता है ॥

अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२

पद०—अभिसंधाय । तु । फलं । दंभार्थं । अपि । च । एव ।

यत् । इज्यते । भरतश्रेष्ठ । तं । यज्ञं । विद्धि । राजसं ॥

पदार्थ—(भरतश्रेष्ठ) हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन (अभिसंधाय तु फलं) फलकी इच्छा करके (इज्यते) जो यज्ञ किया जाता है (तं यज्ञं) उस यज्ञ को (राजसंविद्धि) राजस जानो (अपि च) और (दंभार्थं) दिखलावट के लिये जो यज्ञ किया जाता है उसको भी राजस समझो ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

पद०—विधिहीनं । असृष्टान्नं । मन्त्रहीनं । अदक्षिणं । श्रद्धाविरहितं । यज्ञं । तामसं । परिचक्षते ॥

पदार्थ—(विधिहीनं) जिसका वेदादि शास्त्रों में विधान न हो (असृष्टान्नं) जिस यज्ञ में पात्रों को अन्नादि न दिया जाता हो (मन्त्रहीनं) मन्त्रों से हीन हो अर्थात् जो वैदिक मन्त्रों से न किया जाता हो (अदक्षिणं) जिसमें विद्वानों को दक्षिणा न दी जाती हो (श्रद्धाविरहितं) जो श्रद्धा से रहित हो (यज्ञं तामसंपरिचक्षते) ऐसे यज्ञ को तामस कहते हैं ॥

सं०—अब तप तीन प्रकार का कथन करते हैंः—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

पद०—देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं । शौच । आर्जवं । ब्रह्मचर्य्य । अहिंसा । च । शारीरं । तपः । उच्यते ॥

पदार्थ—(देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं) देव = परमात्मा का पूजन, द्विज = ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इस वर्ण त्रय का सत्कार, गुरु =

आचार्य्य, और प्राज्ञ = विद्वान् इनका पूजन (शौचं) पवित्र रहना (आर्जवं) सरल प्रकृति रखना (ब्रह्मचर्यं) शम दम सम्पन्न होकर वेदाध्ययन करना (अहिंसा) किसी के प्राण वियुक्त न करना (शारीरं तपः उच्यते) यह शरीर का तप कहलाता है ॥

भाष्य—पौराणिक टीकाकारों ने देवशब्द के अर्थ यहां सूर्य, अग्नि, दुर्गा, आदि की पूजा के किये हैं जो गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं। देवशब्द के अर्थ "एषो ह देवःप्रदिशोऽनुसर्वाः" यजु० ३२ । ४ और " एकोदेवः सर्वभूतेषुगूढः" श्वे० ६ । ११ इत्यादि वेदोपनिषदों के वाक्यों से यहां परमात्मा के हैं, इस लिये देवशब्द यहां अग्न्यादिकों का वाचक नहीं ॥

ननु—तुम्हारे मत में देवशब्द सूर्य्यादिकों का भी वाचक है फिर उसके सूर्य्यादि अर्थ यहां क्यों नहीं लिये जाते ? उत्तर—देवपूजा से जड़ पदार्थों की पूजा वैदिकमत में कहीं भी नहीं मानीगई, हां आचार्य्यादिकों की पूजा भी देवपूजा कहलाती है। सो आचार्य्यादिकों का यहां गुरुशब्द द्वारा पृथक् ग्रहण है, इसलिये देवशब्द के अर्थ यहां आचार्य्यादिकों के नहीं, और प्राज्ञशब्द से यहां विद्वानों का पृथक् ग्रहण है इसलिये विद्वानों के अर्थ में भी यहां देवशब्द नहीं। अतएव योग्यता के बल से देवशब्द के अर्थ यहां परमात्मा के ही होते हैं। इसलिये देवशब्द अनेकार्थवाची होने पर भी यहां ईश्वरार्थवाची होने में कोई दोष नहीं ॥

ननु—पूजा तो तुम्हारे मत में परमात्मा की ही होसक्ती है फिर और देहधारियों को पूज्य क्यों कहा ? उत्तर—

ईश्वरत्वेनभक्तिरूपीपूजन हमारे मत में केवल परमात्मा का ही है और सत्काररूपपूजन इतर प्राणियों का भी होसक्ता है इसलिये कोई दोष नहीं ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।१५

अनुद्वेगकरं । वाक्यं । सत्यं । प्रियहितं । च । यत् । स्वाध्यायाभ्यसनं । च । एव । वाङ्मयं । तपः । उच्यते ॥

पदार्थ—(यत् वाक्यं अनुद्वेगकरं) जो वाक्य किसी को दुःख नहीं देता (सत्यं) सत्य है (प्रियहितं च) सुनने में प्यारा और आगे को हितकर है (वाङ्मयं तपः उच्यते) यह वाणी का तप कहलाता है । (स्वाध्यायाभ्यसनं च एव) वेदों का पढ़ना और अभ्यास करना यह भी वाणी का तप कहलाता है ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।१६

पद०—मनःप्रसादः । सौम्यत्वं । मौनं । आत्मविनिग्रहः । भावसंशुद्धिः । इति । एतत् । तपः । मानसं । उच्यते ॥

पदार्थ—(मनःप्रसादः) मनका प्रसन्न रखना अर्थात् किसी विषय से व्याकुल न रहना (सौम्यत्वं) सबका हितैषी होना (मौनं) एकाग्रवृत्ति से परमात्मा का चिन्तन करना (आत्मविनिग्रहः) असंप्रज्ञात समाधि द्वारा मनको सर्वथा रोकलेना (भावसंशुद्धिः) अन्तःकरण को शुद्ध रखना अर्थात् व्यवहार काल में कपट रहित होना (इति एतत्) ये (मानसं तपः उच्यते) मनका तप कहाजाता है ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥१७

पद०—श्रद्धया। परया। तप्तं। तपः। तत्। त्रिविधं। नरैः। अफलाकांक्षिभिः। युक्तैः। सात्त्विकं। परिचक्षते॥

पदार्थ—(त्रिविधं तपः) मन, वाणी और शरीर द्वारा जो तीन प्रकार का तप वर्णन कियागया है (परया श्रद्धया) अत्यन्त श्रद्धा से (अफलाकांक्षिभिः युक्तैः नरैः तप्तं) फल की इच्छा न करते हुए योग्यपुरुषों से किये हुए उस तपको (सात्त्विकंपरिचक्षते) सात्त्विक कहते हैं॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥१८

पद०—सत्कारमानपूजार्थं। तपः। दंभेन। च। एव। यत्। क्रियते। तत्। इह। प्रोक्तं। राजसं। चलं। अध्रुवं॥

पदार्थ—(सत्कारमानपूजार्थं) सत्कार = अपनी स्तुति, मान = अपना सन्मान, पूजा = अपने शरीर की सेवादि, अर्थं = इन प्रयोजनों के लिये किया हुआ तप (दंभेन च एव यत् क्रियते) और जो दंभसे किया जाता है (तत्) वह तप (राजसं इह प्रोक्तं) राजस कहा गया है, वह कैसा है (चलं) तुच्छ फल वाला है और (अध्रुवं) अदृढ़ है॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥१९

पद०—मूढग्राहेण। आत्मनः। यत्। पीडया। क्रियते। तपः। परस्य। उत्सादनार्थं। वा। तत्। तामसं। उदाहृतं॥

पदार्थ—(मूढग्राहेण यत् तपः क्रियते) अपनी अविवेकता से जो तप किया जाता है और (आत्मनः) शरीर इन्द्रियादिकों को (पीड़या) कष्ट देकर जो तप किया जाता है (परस्य उत्सादनार्थं वा) अथवा पर पुरुषों को पीड़ा देने के लिये जो तप किया जाता है (तत् तामसं उदाहृतं) उसको तामस तप कहते हैं ॥

सं०—अब दान के सात्त्विकादि भेद वर्णन करते हैं :—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशेकालेचपात्रेचतद्दानंसात्त्विकंस्मृतम्॥२०

पद०—दातव्यं । इति । यत् । दानं । दीयते । अनुपकारिणे । देशे । काले । च । पात्रे । च । तत् । दानं । सात्त्विकं । स्मृतं ॥

पदार्थ—(यत् दानं दातव्यं) जो दान देने योग्य हो (इति) इस प्रकार का निश्चय करके (अनुपकारिणे दीयते) विना पलटा देने वाले मनुष्यके लिये जो दिया गया हो अर्थात् अपने भृत्या-दिकों को न दिया गया हो जो उसका उपकार कर रहे हैं (तत् दानं) ऐसा दान (देशे काले च पात्रे च) देश काल और पात्र में दिया हुआ (सात्त्विकं स्मृतं) सात्त्विक कहा जाता है । और :—

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥२१

पद०—यत् । तु । प्रत्युपकारार्थं । फलं । उद्दिश्य । वा । पुनः । दीयते । च । परिक्लिष्टं । तत् । दानं । राजसं । स्मृतं ॥

पदार्थ—(यत् तु) जो तो (प्रत्युपकारार्थं) अपना उपकार करने के पलटे में दियागया हो (वा) अथवा (फलं उद्दिश्य) किसी

लाभ को उद्देश्य रखकर (दीयते) दियागया हो (च) और (परिक्लिष्टं) पश्चात्ताप युक्त हो अर्थात् जिसके देने से पीछे से पश्चात्ताप उत्पन्न हुआ हो (तत् दानं) वह दान (राजसं स्मृतं) राजस कहलाता है ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

पद०—अदेशकाले । यत् । दानं । अपात्रेभ्यः । च । दीयते । असत्कृतं । अवज्ञातं । तत् । तामसं । उदाहृतं ॥

पदार्थ—(यत् दानं) जो दान (अदेशकाले) अच्छे देश और अच्छे कालमें न दियागया हो (अपात्रेभ्यः च दीयते) और अपात्रों के लिये दिया गया हो (असत्कृतं) सत्कार पूर्वक न दिया गया हो (अवज्ञातं) अवज्ञा पूर्वक अर्थात् ले जा इस प्रकार अवज्ञा पूर्वक दियागया हो (तत् तामसं दानं उदाहृतं) उसको तामस दान कहा गया है ॥

सं०—अब इस अध्याय में वेदोपनिषदों के श्रद्धालु लोगों के यज्ञादि कर्म जिन ईश्वरीय नामों से प्रारम्भ किये जाते हैं उन ईश्वरीय नामों का वर्णन करते हैं:—

ओंतत्सदितिनिर्देशोब्रह्मणस्त्रिविधःस्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेनवेदाश्चयज्ञाश्चविहिताः पुरा ।२३

पद०—ओंतत्सत् । इति । निर्देशः । ब्रह्मणः । त्रिविधः । स्मृतः । ब्राह्मणाः । तेन । वेदाः । च । यज्ञाः । च । विहिताः । पुरा ॥

पदार्थ—(ब्रह्मणः) ब्रह्म परमात्मा का (निर्देशः) नाम ओंतत्सत् (इति) ये (त्रिविधः स्मृतः) तीन प्रकार का कथन

किया गया है। जिस ब्रह्म के यह तीन प्रकार के नाम हैं (तेन) उसने (पुरा) पूर्वकाल में (ब्राह्मणाः) वेदवेत्तालोग (वेदाः) वेद (च) और (यज्ञाः) यज्ञ (विहिताः) बनाए॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्तेविधानोक्ताःसततंब्रह्मवादिनाम्२४

पद०—तस्मात्। ओं। इति। उदाहृत्य। यज्ञदानतपःक्रियाः। प्रवर्त्तन्ते। विधानोक्ताः। सततं। ब्रह्मवादिनां॥

पदार्थ—(तस्मात्) इसलिये (ओं इति उदाहृत्य) ओंकारका उच्चारण करके यज्ञ, दान, तपः, (क्रियाः) यह क्रियाएं (ब्रह्मवादिनां) वैदिक लोगों के मध्य में (सततं) निरंतर (प्रवर्त्तन्ते) प्रवृत्त होती हैं, फिर वह यज्ञादि क्रियाएं कैसी हैं (विधानोक्ताः) जो वैदिक हैं॥

तदित्यनभिसंधाय फलंयज्ञतपःक्रियाःदान-
क्रियाश्चविविधाःक्रियंतेमोक्षकांक्षिभिः२५

पद०—तत्। इति। अनभिसंधाय। फलं। यज्ञतपः। क्रियाः। दानक्रियाः। च। विविधाः। क्रियन्ते। मोक्षकांक्षिभिः॥

पदार्थ—हे अर्जुन (मोक्षकांक्षिभिः) मोक्षकी इच्छा करनेवाले (फलं अनभिसंधाय) फलकी इच्छा न करके (यज्ञतपःक्रियाः) यज्ञ तपकी क्रिया (दानक्रियाः च विविधाः) और दानकी नाना प्रकार की क्रियायें (तत् इति) इस शब्दका उच्चारण करके करते हैं॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणितथासच्छब्दःपार्थयुज्यते।२६

पद०—सद्भावे । साधुभावे । च । सत् । इति । एतत् । प्रयुज्यते । प्रशस्ते । कर्मणि । तथा । सच्छब्दः । पार्थ । युज्यते ॥

पदार्थ—हे पार्थ (सद्भावे) सत्यमें (च) और (साधुभावे) सच्चाई में (सत्इतिएतत्) सत् शब्द (प्रयुज्यते) प्रयोग किया जाता है (तथा) इसी प्रकार (प्रशस्ते कर्मणि) मंगलकार्यों में (सच्छब्दः युज्यते) सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है ॥

भाष्य—जैसा कि "तद्विष्णोपरमंपदं" और "यत्तत्पदमनुत्तमम्" इत्यादि वाक्यों में ब्रह्मवाची तत् शब्द का कथन करके परमात्मा के ज्ञानरूपी यज्ञका करना कथन किया गया है और "सदेवसोम्येदमग्रआसीत्" इसमें सच्छब्द से परमात्मा रूपी यज्ञका वर्णन किया गया है तथा ओं शब्दतो प्रायः वैदिक मंत्रों में आता ही है इसलिये इसके उदाहरण की आवश्यकता नहीं । और जो यहां मायावादियों ने तत् शब्द के प्रयोग के लिये "तत्त्वमसि" दिया है यह ठीक नहीं, क्योंकि तत्त्वमसि में तत् शब्द जीवके लिये आया है ब्रह्मके लिये नहीं । यदि तत् शब्द सर्वत्र ब्रह्म के लिये ही आता है तो "तस्यतावदेवचिरं" छा० ६ । १४ । २ "तत्किंकर्मणिघोरेमांनियोजयासिकेशव" गी० ३ । १ "तस्यकार्य्यं न विद्यते" गी० ३ । १७ "तस्मात्युद्धयस्वभारत" गी० २ । १ इत्यादि स्थलों में तत् शब्द का प्रयोग ब्रह्म में क्यों नहीं !

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्मचैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

पद०—यज्ञे । तपसि । दाने । च । स्थितिः । सत् । इति । च । उच्यते । कर्म । च । एव । तदर्थीयं । सत् । इति । एव । अभिधीयते ॥

पदार्थ—(यज्ञे) यज्ञ में (तपसि) तप में (दाने च) दाने में (स्थितिः) जो निष्ठा है (सत् इति च उच्यते) वह सत् शब्द से कही जाती है (कर्म च एव तदर्थीयं) अथवा यज्ञ,दान और तप केलिये जो कर्म किया जाता है (सत् इति एव अभिधीयते) उसको भी सत् कहते हैं ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यतेपार्थ न च तत्प्रेत्यनो इह ॥२८

पद०—अश्रद्धया । हुतं । दत्तं । तपः । तप्तं । कृतं । च । यत् । असत् । इति । उच्यते । पार्थ । न । च । तत् । प्रेत्य । नः । इह ॥

पदार्थ—हे पार्थ (अश्रद्धया हुतं) अश्रद्धा से हवन किया हुआ और (दत्तं) दान दिया हुआ (तपः तप्तं) तप किया हुआ (कृतं च यत्) और जो कुछ कर्म अश्रद्धा से किया जाता है (असत् इति उच्यते) उसको असत् कहते हैं (तत्) वह कर्म (न च प्रेत्य) न परलोक में (नः इह) न इस लोक में फलता है, इसलिये उसको असत् कहाजाता है ॥

भाष्य—जिस प्रकार सत् शब्द का प्रयोग ब्रह्म में भी आता है और अन्य सत् पदार्थों में भी आता है, इसी प्रकार तत् शब्द का प्रयोग भी ब्रह्म और इतर पदार्थों में आता है । इसलिये मायावादियों का तत्त्वमसि और तत्त्वदर्शी इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म विषयक ही तत् शब्द का आग्रह करना सर्वथा निर्मूल है । महर्षिव्यास का तो इस नाम त्रय से यह तात्पर्य्य है कि प्रायः

वैदिक लोगों में शुभ कामों के प्रारम्भ में और सदसद्वस्तु विवेक में उक्तनाम ब्रह्म विषयक आते हैं। यों संज्ञामात्र से कोई अपने पुत्र का नाम अथवा अक्षर का नाम ओं० तत्सत् रखले तो क्या उसका बोध नहीं होता, इससे सार यह निकला कि इस श्रद्धा-त्रय विभागयोगनामाध्याय में वैदिक श्रद्धालु लोगों के कर्मों में सत् आदि सच्छब्द वाच्य ब्रह्म की सत्ता होने से उनके कर्म सत् होते हैं॥

इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्री-
मद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये
श्रद्धात्रयविभागयोगोनाम
सप्तदशोऽध्यायः॥

—o—
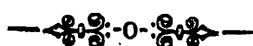
अथ

॥ अष्टादशोऽध्यायः ॥

सङ्गति—सम्पूर्ण गीताशास्त्र के उपसंहाररूप इस अध्याय में कृष्णजी अर्जुन को वैदिक कर्मों में दृढ़ करने के लिये त्याग के तत्त्वको और वर्ण चतुष्टय के धर्मों को प्रतिपादन करके

"**मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वांनियोक्ष्यति**"

गी० १८। ५९ इत्यादि श्लोकों में मुख्य प्रयोजन युद्धरूप अर्थ

का निगमन करते हैं अर्थात् मनुष्य जन्म के धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप फल चतुष्टय को वर्णन करके इस फल चतुष्टय के आदि मूल क्षात्रधर्म में गीता शास्त्र का उपसंहार करते हैं ॥

अर्जुनउवाच

संन्यासस्यमहाबाहोतत्त्वमिच्छामिवेदितुम्।
त्यागस्यचहृषीकेश पृथक्केशिनिसूदन॥ १ ॥

पद०—संन्यासस्य । महाबाहो । तत्त्वं । इच्छामि । वेदितुं । त्यागस्य । च । हृषीकेश । पृथक् । केशिनिसूदन ॥

पदार्थ—(महाबाहो) हे विशाल भुजाओं वाले (हृषिकेश) हे इन्द्रियों के ईश्वर (केशिनिसूदन) हे केशीदैत्य के मारने वाले कृष्ण (संन्यासस्यतत्त्वं) संन्यास के तत्त्व को (च) तथा (त्यागस्य तत्त्वं) त्याग के तत्त्व को (पृथक्) भिन्न २ (वेदितुं- इच्छामि) जानने की इच्छा करता हूं ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासंकवयोविदुः।
सर्वकर्मफलत्यागंप्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥२॥

पद०—काम्यानां । कर्मणां । न्यासं । संन्यासं । कवयः । विदुः । सर्वकर्मफलत्यागं । प्राहुः । त्यागं । विचक्षणाः ।

पदार्थ—(कवयः) संन्यास के तत्त्व को जानने वाले लोग (काम्यानां)काम्यकर्मों के (न्यासं) त्याग को (संन्यासंविदुः) संन्यास कहते हैं । और (विचक्षणाः) बुद्धिमान् लोग (सर्वकर्म-फलत्यागं) सब कर्मों के फलके त्याग को (त्यागं प्राहुः) त्याग कहते हैं ॥

भाष्य—मिथ्या विश्वास से सकाम कर्म करने का नाम काम्य कर्म है, उन काम्यकर्मों के त्याग का नाम यहां संन्यास है। और कर्ममात्र को निष्काम करने का नाम त्याग है, इस प्रकार त्याग और संन्यास का भेद है। इस कथन से यह स्पष्ट होगया कि वैदिक यज्ञादि कर्मों के त्याग को जो आधुनिक लोग संन्यास कहते हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि वैदिक कर्मों का त्याग किसी आर्ष ग्रन्थ में कथन नहीं कियागया, इसीलिये ७वें श्लोक में यह कहा है कि "नियतस्यतुसंन्यासःकर्मणोनोपपद्यते" अर्थात् नियत वेदविहित कर्मों का त्याग नहीं होसक्ता॥

सं०—अब कृष्णजी यज्ञादि कर्मों के त्याग में पूर्वपक्ष द्वारा मतभेद दिखलाकर स्वयं सिद्धान्त करते हैं:—

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३

पद०—त्याज्यं। दोषवत्। इति। एके। कर्म। प्राहुः। मनीषिणः। यज्ञदानतपःकर्म। न। त्याज्यं। इति। च। अपरे॥

पदार्थ—(एकेमनीषिणः) कई एक मनन शील लोग (दोषवत्-कर्म) दोषवाले कर्मों को (त्याज्यं) त्यागने योग्य (प्राहुः) कथन करते हैं, और (यज्ञदानतपः कर्म) यज्ञ, दान, तप, इन कर्मों को (न त्याज्यं) नहीं त्यागना चाहिये (इति च) इस बातको (अपरे-प्राहुः) और लोग कथन करते हैं॥

भाष्य—इस श्लोकमें यह कथन किया है कि प्रवृत्तिरूप दोष से यज्ञादि कर्म भी दोषवाले ही हैं अर्थात् उनके करने में भी बड़ा आडम्बर करना पड़ता है इसलिये यज्ञादिकर्म भी नहीं करने चाहियें। और कई एक लोग यह कहते हैं कि यज्ञ, दान

और तप इन कर्मों को कदापि नहीं छोड़नाचाहिये क्योंकि यह कर्म मनुष्य को पवित्र करने वाले हैं। इस विषय में कृष्णजी अपना निश्चय कथन करते हैं :—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः॥४

पद०—निश्चयं। शृणु मे। तत्र। त्यागे। भरतसत्तम। त्यागः। हि। पुरुषव्याघ्र। त्रिविधः। संप्रकीर्त्तितः॥

पदार्थ—(भरतसत्तम) हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन (तत्रत्यागे) पूर्वोक्त त्याग के विषय में (मे निश्चयं शृणु) मेरे निश्चय को सुन (पुरुषव्याघ्र) हे सब पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन (हि) निश्चय करके (त्यागः) त्याग (त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः) तीन प्रकार का कथन कियागया है॥

सं०—अब सात्त्विक, राजस, तामस, इस भेद से त्याग तीन प्रकार का वर्णन करते हैं, इनमें से प्रथम तामस त्यागका स्वरूप दिखलाने के लिये कृष्णजी यज्ञादि कर्मों की अवश्य कर्त्तव्यता वर्णन करते हैं :—

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥५

पद०—यज्ञदानतपःकर्म। न। त्याज्यं। कार्यं। एव। तत्। यज्ञः। दानं। तपः। च। एव। पावनानि। मनीषिणां॥

पदार्थ—(यज्ञदानतपः कर्म) यज्ञ दान और तपरूपी कर्मों का (नत्याज्यं) त्याग योग्य नहीं (तत्कार्यं एव) यह करने ही योग्य हैं, क्योंकि (यज्ञः) यज्ञ (दानं) दान (तपः च एव) और तप (मनीषिणां) मनुष्यों को (पावनानि) पवित्र करते हैं॥

सं०—ननु, जब यह यज्ञादिकर्म अवश्य कर्तव्य हैं तो इनको यदि कोई फलकी इच्छा करके भी करे तो क्या दोष है? उत्तर—

एतान्यपि तु कर्माणि संगंत्यक्त्वाफलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितंमतमुत्तमम्॥६॥

पद०—एतानि। अपि। तु। कर्माणि। संगं। सक्त्वा। फलानि। च। कर्त्तव्यानि। इति। मे। पार्थ। निश्चितं। मतं। उत्तमं॥

पदार्थ—(एतानि अपि तु कर्माणि) ये कर्म भी (संगंसक्त्वा) संगको छोड़कर (फलानि च) और फलको छोड़कर (कर्त्तव्यानि) करने योग्य हैं (इति मे) यह मेरा (निश्चितं) निश्चय किया हुआ (उत्तमं मतं) उत्तम मत है॥

सं०—अब उक्त वैदिक कर्मों के त्याग को तामस कथन करते हैं:—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्यपरित्यागस्तामसःपरिकीर्त्तितः॥७॥

पद०—नियतस्य। तु। संन्यासः। कर्मणः। न॥ उपपद्यते मोहात्। तस्य। परित्यागः। त मसः। परिकीर्त्तितः॥

पदार्थ—(नियतस्य तु कर्मणः) नियत वैदिक कर्मोंका (संन्यासः) त्याग (न उपपद्यते) नहीं हो सकता (मोहात्) मोहसे (तस्यपरित्यागः) उक्तयज्ञादि कर्मों का त्याग (तामसः परिकीर्त्तितः) तामस कथन कियागया है॥

भाष्य—प्रथमतो यज्ञादि कर्मों का त्याग ही नहीं हो सकता, क्योंकि "**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः**"

यजु० ४०। २ इत्यादि वेद मंत्रों द्वारा यह कर्म मनुष्य के लिये नियत किये गए हैं। यदि कोई (मोह) अज्ञान से इनका त्याग करदे तो वह त्याग तामस कहलायेगा॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
सकृत्वाराजसंत्यागंनैवत्यागफलंलभेत् ॥८॥

पद०—दुःखं। इति। एव। यत्। कर्म। कायक्लेशभयात्। त्यजेत्। सः। कृत्वा। राजसं। त्यागं। न। एव। त्यागफलं। लभेत्॥

पदार्थ—(कायक्लेशभयात्) शरीर के परिश्रमरूपी क्लेश के भय से (यत् कर्म) जो कर्म (दुःखं एव) दुख ही है (इति) ऐसा जानकर (त्यजेत्) उस कर्म को छोड़दे (सः) वह पुरुष (राजसंत्यागं) राजसत्याग को (कृत्वा) करके (एव) कभी भी (त्यागफलं) त्याग के फलको (न लभेत्) नहीं पावेगा॥

कार्यमित्येवयत्कर्म नियतंक्रियतेऽर्जुन। संगं-
त्यक्त्वाफलंचैवसत्यागःसात्त्विकोमतः ॥९॥

पद०—कार्यं। इति। एव। यत्। कर्म। नियतं। क्रियते। अर्जुन। संगंत्यक्त्वा। फलं। च। एव। सः। त्यागः। सात्त्विकः। मतः॥

पदार्थ—हे अर्जुन (यत् कर्म) जो कर्म (संगंत्यक्त्वा) संगको छोड़कर (च) और (फलं एव) फल की इच्छा को छोड़कर (कार्यंइतिएव) अवश्य कर्त्तव्य समझकर (नियतंक्रियते) नियम पूर्वक किया जाता है (सः त्यागः) वह त्याग (सात्त्विकः मतः) सात्त्विक मानागया है॥

सं०—ननु, कर्म करता हुआ संग से रहित कैसे होसकता है?

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।

त्यागीसत्त्वसमाविष्टो मेधावीछिन्नसंशयः १०

पद०—न । द्वेष्टि । अकुशलं । कर्म । कुशले । न । अनुषज्जते । त्यागी । सत्त्वसमाविष्टः । मेधावी । छिन्नसंशयः ॥

पदार्थ—(अकुशलं कर्म) अशुभ कर्मों में (न द्वेष्टि) द्वेष नहीं करता और (कुशले) शुभ कर्मों में (न अनुषज्जते) अत्यन्त रागी नहीं होता (मेधावी) बुद्धिमान् पुरुष (सत्त्वसमाविष्टः) जो सत्त्व गुण प्रधान है (त्यागी) ऐसा त्याग करने वाला (छिन्नसंशयः) सब संशयों से रहित होजाता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में इस बातको कथन किया है कि कर्म करता हुआ भी वह पुरुष असङ्ग रह सकताहै जोनिन्दित कर्मोंकी सदैव निन्दा ही नहीं करता और शुभ कर्मों में ऐसा रागवाला नहीं हो जाता कि उन्हीं में फसा रहे । ऐसा पुरुष कर्म करता हुआ भी कर्मों के सङ्ग से रहित हो सकता है ॥

सं०—संन्यास धर्म में तो सब कर्मों के त्यागका कथन किया गया है फिर तुम कैसे कहते हो कि कर्म करता हुआ ही त्यागी हो सकता है ?

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तुकर्मफलत्यागीस त्यागीत्यभिधीयते ११

पद०—न । हि । देहभृता । शक्यं । त्यक्तुं । कर्माणि । अशेषतः । यः । तु । कर्मफलत्यागी । सः । त्यागी । इति । अभिधीयते ॥

पदार्थ—(हि) जिस लिये (देहभृता) देहधारी पुरुष से (अशेषतः कर्माणि) सारे कर्म (त्यक्तुं न शक्यं) त्यागे नहीं जा सकते, इसलिये (यः) जो (कर्मफलत्यागी) कर्म के फलको

त्यागता है (सःत्यागी) वहत्यागी (इतिअभिधीयते) कथन किया जाता है ॥

भाष्य—इन श्लोकों में यह स्पष्ट रीति से सिद्ध कर दिया कि कोई देहधारी ऐसा त्यागी नहीं हो सकता जो सब कर्मों को त्यागदे, त्याग इतने ही अंशमें कहलाता है कि जो पुरुष निष्काम कर्म करता है और उन कर्मों के संग में निमग्न नहीं होता वह त्यागी कहलाता है, इन दोनों श्लोकों को मायावादियों ने अपने मतमें इस प्रकार लगाया है कि मैं ब्रह्म हूं, इस भावसे जिसके संशय दूर हो गए हैं उसको छिन्नसंशय कहते हैं, और देहभृत के अर्थ इन्होंने यह किये हैं कि जिसने अज्ञानसे देहधारण किया है वह सब कर्मों को नहीं छोड़ सकता और जिसको ज्ञान हो जाता है वह सब कर्मों को छोड़ सकता है। ग्रन्थकर्त्ता महर्षि व्यासका भाव यहां छिन्नसंशयसे अहं ब्रह्मास्मि का और देहभृत से अविद्या से अपने आपको कर्त्ता भोक्ता मानकर जो देह धारण कर रहा है उसका नहीं, किन्तु देहभृतके अर्थ भौतिक शरीर धारी के हैं, इसलिये काल्पित शरीर धारी के अर्थ करके जो इस श्लोक को अज्ञानी पुरुष के विषय में लगाया है कि अज्ञानी पुरुष सब कर्मों को नहीं छोड़ सकता और ज्ञानी छोड़ सकता है। यह व्याख्यान गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि यदि गीता में यह आशय होता कि अज्ञान से मैं ब्राह्मण हूं, मैं क्षत्रिय हूं इत्यादि अभिमान से देहभृत के अर्थ देहधारी के होते तो निम्न लिखित श्लोकों में सकाम कर्मियों को तीन प्रकार के कर्म का फल कथन न किया जाता। जैसाकि:—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।

भवत्यत्यागिनांप्रेत्यनतुसंन्यासिनांक्वचित्॥

पद०—अनिष्टं । इष्टं । मिश्रं । च । त्रिविधं । कर्मणः । फलं । भवति । अत्यागिनां । प्रेत्य । न । तु । संन्यासिनां । क्वचित् ॥

पदार्थ—(अनिष्टं) प्रतिकूल (इष्टं) अनुकूल (मिश्रं) दोनों प्रकार का मिला हुआ (त्रिविधं कर्मणः फलं) यह तीन प्रकार का कर्मों का फल (प्रेत्य) मरने के अनन्तर (अत्यागिनां) सकाम कर्मियों को (भवति) होता है (संन्यासिनां) संन्यासियों को (क्वचित्) कभी (न तु) नहीं ॥

भाष्य—यहां संन्यासी के अर्थ निष्काम कर्मी के हैं जैसाकि "स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः" गी० ६ । १ में यह निरूपण किया है कि जो कर्म के फल की इच्छा छोड़कर कर्म करता है वही संन्यासी है और वही योगी है, अन्य कोई कर्मों के न करने वाला संन्यासी नहीं कहलासक्ता ॥

सं०—जिस प्रकार निष्काम कर्मी को कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते वह प्रकार नीचे के चार श्लोकों द्वारा वर्णन किया जाता है:—

पञ्चैतानिमहाबाहोकारणानिनिबोध मे । सां ख्येकृतान्तेप्रोक्तानिसिद्धयेसर्वकर्मणाम्॥१३

पद०—पंच । इमानि । महाबाहो । कारणानि । निबोध । मे । सांख्ये । कृतान्ते । प्रोक्तानि । सिद्धये । सर्वकर्मणा ॥

पदार्थ—हे महाबाहो (सर्वकर्मणांसिद्धये) सब कर्मों की सिद्धि के लिये (इमानि) ये (पञ्चकारणानि) पांचकारण (मे-निबोध) मेरे से सुन, वे पांच कारण कैसे हैं जो (सांख्ये) ज्ञान

प्रधानशास्त्र में (प्रोक्तानि) कथन किये गए हैं, वह शास्त्र कैसा है (कृतान्ते) किया है सत्यासत्य वस्तु का अन्त नाम निर्णय जिस में ॥

सं०—अब उन पांच कारणों का कथन करते हैं:—

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् १४

पद०—अधिष्ठानं। तथा। कर्त्ता। करणं। च। पृथग्विधं। विविधाः। च। पृथक्। चेष्टाः। दैवं। च। एव। अत्र। पंचमं ॥

पदार्थ—(अधिष्ठानं) शरीर (कर्त्ता) शरीर के साथ सम्बन्ध रखनेवाला जीव (करणं च पृथग्विधं) और भिन्न २ प्रकार के इन्द्रियरूपी करण (विविधाः च पृथक् चेष्टाः) और कई प्रकार से पूर्वकृत कर्म (च) और (दैवं एव अत्र पंचमं) पांचवां परमात्मा, यह पांच कर्म के करण हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन किया है कि जो २ कर्म किये जाते हैं उनका कर्त्ता केवल जीव ही नहीं किन्तु शरीर, इन्द्रिय, प्रारब्धकर्म, जीव और परमात्मा, यह पांच कारण कर्मों के करने में होते हैं। कर्म विषय में यह पांच कारण इस अभिप्राय से प्रतिपादन किये हैं कि आगे १७वें श्लोक में जाकर इस बातको वर्णन करना है कि जो कर्मों के उक्त पांच हेतुओं को जानता है उसका कर्म करने में अहंकार का भाव नहीं होता और अहंकार का भाव न होने से वह उस कर्म में लम्पट नहीं होता, इस लिये वह कर्म के बन्धन में नहीं आता जैसाकिः— "न कर्मलिप्यतेनरे" यजु० ४० । २ में यह वर्णन किया है कि अहंकार के भावको छोड़कर जो निष्कामता से

कर्म करता है वह अशुभ कर्म के बन्धन में नहीं आता। इसी बात को वर्णन करने के लिये नीचे के श्लोकों में केवल जीवको कर्त्ता नहीं माना॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥१५॥

पद०—शरीरवाङ्मनोभिः। यत्। कर्म। प्रारभते। नरः। न्याय्यं। वा। विपरीतं। वा। पंच। एते। तस्य। हेतवः॥

पदार्थ—(शरीरवाङ्मनोभिः) शरीर, वाणी और मन से (नरः) पुरुष (यत् कर्म प्रारभते) जिस कर्म को प्रारम्भ करता है (न्याय्यं वा विपरीतं वा) शुभ हो अथवा अशुभ हो (पंच एते तस्य हेतवः) उस कर्म के उक्त पांच हेतु होते हैं॥

तत्रैवंसतिकर्त्तारमात्मानंकेवलन्तुयः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

पद०—तत्र। एवंसति। कर्त्तारं। आत्मानं। केवलं। तु। यः। पश्यति। अकृतबुद्धित्वात्। न। सः। पश्यति। दुर्मतिः॥

पदार्थ—(तत्र) कर्म विषय में (एवंसति) उक्त पांचों हेतु होने पर (केवलं आत्मानं) केवल जीवात्मा को (तु) निश्चय करके (यः) जो (कर्त्तारं) कर्त्ता (पश्यति) देखता है (अकृत बुद्धित्वात्) अज्ञानी होने से (सः दुर्मति) वह मन्दबुद्धि पुरुष (न पश्यति) ठीक नहीं देखता॥

भाष्य—अकृतबुद्धि के अर्थ मायावादी यह करते हैं कि:— "**मैं ब्रह्म हूं**" जब तक यह ज्ञान नहीं होता तब तक पुरुष अकृतबुद्धि ही रहता है। इनके मत में जीवात्मा में कर्तृत्व अविद्या

से आता है, उस अविद्या के कर्त्तापन को जब पुरुष झूठा समझ लेता है तब वह कर्त्ता नहीं रहता, इस भावसे इन्होंने इस श्लोक का व्याख्यान किया है, पर यह भाव गीता में नहीं ! यदि इसी भाव से यहां जीवात्मा को अकर्त्ता कथन किया जाता तो अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा, दैव, यह कर्म के पांच हेतु कथन न कियेजाते। इन पांच हेतुओं को कथन करनेसे यह बात स्पष्ट होगई कि केवल जीवात्मा ही कर्त्ता नहीं, किन्तु पांच मिल कर कर्म के कर्त्ता होते हैं। इसलिये केवल जीवात्मा को अकर्त्ता कहा है ॥

सं०—अब इस अकर्त्तापन का फल आगे के श्लोक में कथन करते हैंः—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हंति न निबद्ध्यते १७

पद०—यस्य। न। अहंकृतः। भावः। बुद्धिः। यस्य। न। लिप्यते। हत्वा। अपि। सः। इमान्। लोकान्। न। हंति। न। निबद्धयते ॥

पदार्थ—(यस्य) जिस पुरुष का (अहंकृतः) मैं कर्त्ता हूं (भावः) ये भाव (न) नहीं, और (यस्य) जिसकी बुद्धि (न लिप्यते) पापरूपी लेपको प्राप्त नहीं होती (सः) वह पुरुष (इमान्लोकान्) इन लोकों को (हत्वाअपि) मारकर भी (न हंति) नहीं मारता, और (न निबद्धयते) नाहीं बन्धन को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि जो पुरुष निष्काम कर्म करता है और जिसकी बुद्धि पापरूपी कर्म में लिप्त नहीं होती अर्थात् जिसके हृदय में पापकी वासना ही उत्पन्न नहीं

होती, वह पुरुष यदि उस निष्कामता के कर्त्तव्य में किसी को हनन भी कर देता है तो वह हिंसा नहीं करता और नाहीं उस हिंसारूपी दोष का वह भागी होता है, क्योंकि उसके हृदय में हिंसा की वासना नहीं है इसलिये वह पुरुष उस मंद कर्म के दोषका भागी नहीं होता, जैसे लोक में भी संकल्प पूर्वक हिंसा करने वाला पापी समझा जाता है और जिसका इरादा हिंसा करने का नहीं उससे यदि दैव इच्छा से हिंसाहो भी जाती है तो वह उस हिंसारूपी दोषका भागी नहीं समझा जाता क्योंकि उसमें उसका कर्तृत्व नहीं किन्तु दैवका कर्तृत्व समझा जाता है। इसी प्रकार निष्कामकर्मी पुरुष जो सर्वथा पापकी वासना से रहित है वह यदि युद्धादिकों में हिंसा करता है तो वह हिंसा उसको पापका भागी नहीं बनाती क्योंकि वह क्षात्रधर्म का कर्त्तव्य समझकर इस कामकोकरता है किसी इच्छासे नहीं करता इसलिये दोषका भागी नहीं। १२वें श्लोक में जो इष्ट, अनिष्ट और मिश्र, यह तीन प्रकार का कर्मों का फल वर्णन किया था वह सकाम कर्मियों के लिये था निष्कामकर्मियों के लिये नहीं उन निष्काम कर्मियों का इस श्लोक में वर्णन है कि उनमें अहंकार का अभाव होने से मंद कर्मों का दोष नहीं लगता जैसा कि "**न कर्म लिप्यते नरे**" यजु० ४०। २ इस वेद मंत्र में भी वर्णन किया है कि निष्कामकर्मी को मंदकर्म स्पर्श नहीं करते और इसीआशयको :—**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।** गी० ५। १० । इत्यादि श्लोकोंमें वर्णन किया गया है॥

ननु—यहां तो यह लिखा है कि वह सब सृष्टि को मारकर भी पापका भागी नहीं होता, ऐसा निष्कामकर्मी क्या ? उत्तर—"हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते" यह कथन निष्कामकर्मी की स्तुति के अभिप्राय से है अर्थात् वह किसी को हनन नहीं करता क्योंकि ईश्वरपरायण होने से उसमें हनन करने की कोई वासना ही नहीं रही, पर यदि वह ऐसा करता भी है तब भी दोष का भागी नहीं, इस प्रकार उसकी स्तुति की गई है। मायावादियों के मतमें यह श्लोक संन्यासी विषयक है कि वह संन्यासी जिसको ब्रह्म का साक्षात्कार होने से जिसका कर्त्तापन का भाव नहीं रहा वह यदि सम्पूर्ण लोगों को हनन भी करदे तो भी वह पापी नहीं होता, अहंकार का भाव इनके मतमें तादात्म्याध्यास कहलाता है अर्थात् जो शरीर में आत्म बुद्धि करके अपने आपको कर्त्ता भोक्ता मानकर हिंसादि पाप करता है वह पापका भागी है और जो यह समझलेता है कि यह सब शरीरादिक माया से कल्पित हैं और मैं स्वयं प्रकाश असंग चैतन्य हूं, ऐसा समझने वाला तत्त्ववेत्ता पुरुष पापका भागी नहीं होता क्योंकि वह ब्रह्म बनगया है, इसलिये उसको पाप नहीं लगता। यह ब्रह्म बनने का भाव और इस प्रकार की असङ्गता यदि पाप से बचने का साधन होती तो अग्रिम श्लोकों में कर्त्तापन के निम्न लिखित कारण कथन न किये जाते। जैसा कि :—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्म संग्रहः॥१८

पद०—ज्ञानं। ज्ञेयं। परिज्ञाता। त्रिविधा। कर्मचोदना।

करणं । कर्म । कर्त्ता । इति । त्रिविधः । कर्मसंग्रहः ॥

पदार्थ—(ज्ञानं) ज्ञान (ज्ञेयं) विषय (परिज्ञाता) जानने वाला (त्रिविधा) यह तीन प्रकार की (कर्मचोदना) कर्मों की प्रवर्त्तकता है, और (करणं) कर्मों के साधन (कर्म) यज्ञादि कर्म (कर्त्ता) काम के करनेवाला (इति) ये (त्रिविधः) तीनों (कर्मसंग्रहः) कर्मों के संग्रह करने के हेतु हैं ॥

भाष्य—इस प्रकार ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, यह तीनों कर्मों में प्रवृत्त कराने वाले हैं और करण, कर्म, कर्त्ता, यह तीनों कर्मों का संग्रह करनेवाले हैं। और यह छ पदार्थ सत्त्वादि गुणों के भेद से तीन २ प्रकार के हैं। जैसाकि :—

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः । प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ।१९

पद०—ज्ञानं । कर्म । च । कर्त्ता । च । त्रिधा । एव । गुणभेदतः । प्रोच्यते । गुणसंख्याने । यथावत् । शृणु । तानि । अपि ॥

पदार्थ—(ज्ञानं) ज्ञान (कर्म) क्रिया (च) और (कर्त्ता) करने वाला (गुणभेदतः) सत्त्वादि गुणों के भेदसे (गुणसंख्याने) सांख्यशास्त्र में (त्रिधाएव) तीन प्रकार के (प्रोच्यते) कथन किए गए हैं (तानि अपि)उनको भी तुम (यथावत् शृणु) ठीक २ सुनो॥

सं०—ननु, १४वें और १७वें अध्याय में भी सत्त्वादि गुणों का वर्णन किया है फिर यहां उनके वर्णन की पुनरुक्ति क्यों की जाती है ? उत्तर—यहां यह पुनरुक्ति नहीं, क्योंकि १४वें अध्याय में सत्त्वादि गुणों को बन्धन का हेतु वर्णन किया गया है और १७वें अध्याय में सत्त्वादि गुणों वाले पुरुषोंकी उपासनाओं का भेद कथन करके सत्त्व प्रधान लोगों को दैवी सम्पत्ति

वाले कथन किया गया है, और इस अध्याय में ज्ञानको सात्त्विक, राजस, तामस, इन भेदों से तीन प्रकार का कथन किया है इस लिये यहां यह पुनरुक्ति नहीं ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते । अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् २०

पद०—सर्वभूतेषु । येन । एकं । भावं । अव्ययं । ईक्षते । अविभक्तं । विभक्तेषु । तत् । ज्ञानं । विद्धि । सात्त्विकं ॥

पदार्थ—जो पुरुष (सर्वभूतेषु) सब भूतों में (येन) जिसज्ञान से (एकं) एक (अव्ययं) विकाररहित (भावं) भावको (ईक्षते) देखता है (तत्ज्ञानं) उस ज्ञानको (सात्त्विकंविद्धि) सात्त्विक जानो, वह भाव कैसा है (विभक्तेषु अविभक्तं) जो विभागवाले पदार्थों में अविभक्तं = बटा हुआ नहीं है ॥

भाष्य—इस श्लोक में परमात्मा की सर्व व्यापकता वर्णन की है कि जो पुरुष इन भिन्न२ पदार्थों में परमात्माको सर्वगत जानता है वह सात्त्विक ज्ञान वाला है ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् । वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

पद०—पृथक्त्वेन । तु । यत् । ज्ञानं । नानाभावान् । पृथग्विधान् । वेत्ति । सर्वेषु । भूतेषु । तत् । ज्ञानं । विद्धि । राजसं ॥

पदार्थ—(सर्वेषु भूतेषु) जो सब भूतों में (यत्ज्ञानं) जिस ज्ञानको (पृथक्त्वेन) पृथक् करके (पृथग्विधान् नानाभावान्) भिन्न २ प्रकार के नानाभावों को (वेत्ति) जानता है (तत्ज्ञानं

राजसंविद्धि) उस ज्ञानको राजस जानो ॥

भाष्य—इस श्लोक में इस बातको सिद्ध किया है कि जो परमात्मा "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं" बृ० ३। ७। ३ इत्यादि भूतों में ओतप्रोत कथन किया गया है, उसको पृथिवी तथा अग्नि आदि भूतों का अधिष्ठातृदेवतारूपसे जोभिन्न२ वर्णन करता है वह राजस ज्ञानहै। इस श्लोक में "ज्ञानंवेत्ति" यह उपचार से कथन किया गया है "ज्ञानेनवेत्ति" ऐसा होना चाहिये था, जैसा कि "एधांसिपचन्ति" लकड़ियें पकाती हैं, यह उपचार से बोला जाता है, प्रत्युत पाचक पकाता है और लकड़ियां पकाने का साधन हैं, एवं ज्ञान भी यहां जानने का साधन है ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥२२

पद०—यत्। तु। कृत्स्नवत्। एकस्मिन्। कार्ये। सक्तं। अहैतुकं। अतत्त्वार्थ।वत्। अल्पं। च। तत्। तामसं। उदाहृतं॥

पदार्थ—(एकस्मिन्कार्ये) एक कार्य में (कृत्स्नवत्) सम्पूर्ण के समान (यत्सक्तं) जो ज्ञान होता है (तत्) वह (तामसंउदाहृतं) तामस कहा जाता है, वह ज्ञान कैसा है (अतत्त्वार्थवत्) जो मिथ्या के समान है (अल्पंच) और तुच्छ है (अहैतुकं) युक्ति हीन है ॥

भाष्य—किसी एक प्रतिमादि पदार्थ में जो ईश्वरभाव मान लियागया है, ऐसे ज्ञान को इस श्लोकमें तामस ज्ञान कथन किया

है क्योंकि वह अहैतुकं नाम युक्ति हीन है। इस श्लोक के भाष्य में स्वामी शं० चा० प्रतिमापूजन को तामसज्ञान कथन करते हैं जैसाकिः—"देहपरिमाणो जीव ईश्वरो वा पाषाणदार्वादिमात्र इत्येवमेकस्मिन् कार्य्येसक्तमहेतुकं हेतुवर्जितम्" अर्थ—जीव देहमात्र है और ईश्वर पाषाण तथा लकड़ीरूप है। इस प्रकार का जो किसी एक कार्य्य में ज्ञान है उसको तामसज्ञान कहते हैं, मधुसूदनस्वामी ने भी इस श्लोक के अर्थों में प्रतिमा में ईश्वर बुद्धि को तामसज्ञान ही माना है जैसाकिः—"प्रतिमादौवा अहेतुकंहेतुप्रतिपत्तिस्तद्रहितम्" अर्थ—अथवा प्रतिमादिकों में जो ज्ञान है वह युक्ति रहित है इसलिये तामस है। एवं उक्त श्लोकों में ईश्वरीय ज्ञान के सात्त्विक, राजस, तामस, यह तीन भेद वर्णन कियेगए हैं॥

सं०—अब कर्मों के तीन भेद कथन करते हैंः—

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

पद०—नियतं। संगरहितं। अरागद्वेषतः। कृतं। अफलप्रेप्सुना। कर्म। यत्। तत्। सात्त्विकं। उच्यते॥

पदार्थ—जो कर्म (नियतं) नियम पूर्वक (संगरहितं) निष्कामता से (अरागद्वेषतः) विनारागद्वेष से (कृतं) किया जाता है, फिर वह कर्म कैसा है (अफलप्रेप्सुना) जो फलकी इच्छा न करने वाले से कियागया हो (यत् कर्म) जो कर्म ऐसा है (तत्) वह (सात्त्विकं उच्यते) सात्त्विक कथन कियागया है॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।

क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४

पद०—यत् । तु । कामेप्सुना । कर्म । साहंकारेण । वा । पुनः क्रियते । बहुलायासं । तत् । राजसं । उदाहृतं ॥

पदार्थ—(यत् तु) जो तो (कामेप्सुना) कामनावाले से कियागया हो (पुनः) फिर (साहंकारेण) अहंकार के भाव से (क्रियते) कियागया हो (बहुलायासं) जिसमें फल से अधिक परिश्रम करना पड़ता हो (तत् कर्म) वह कर्म (राजसं उदाहृतं) राजस कथन कियागया है ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५॥

पद०—अनुबन्धं । क्षयं । हिंसां । अनपेक्ष्य । च । पौरुषं ॥ मोहात् । आरभ्यते । कर्म । यत् । तत् । तामसं । उच्यते ॥

पदार्थ—(अनुबन्धं) भविष्यत काल में जिसका अशुभ फल हो (क्षयं) कर्मकर्त्ता की शक्तियों का क्षय (हिंसां) प्राणियों का हनन करना (पौरुषं) अपना सामर्थ्य (च) और (अनपेक्ष्य) उक्त चारो बातों को न विचार कर (यत् कर्म) जो कर्म (मोहात् आरभ्यते) मोह से प्रारम्भ किया जाता है (तत् तामसं उच्यते) वह तामस कहाजाता है ॥

सं०—अब तीन प्रकार के कर्त्ता का कथन करते हैं:—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

पद०—मुक्तसङ्गः । अनहंवादी । धृत्युत्साहसमन्वितः । सिद्ध्य-

सिद्ध्योः । निर्विकारः । कर्त्ता । सात्त्विकः । उच्यते ॥

पदार्थ—(मुक्तसङ्गः) संङ्ग से रहित (अनहंवादी) निरभिमानी (धृत्युत्साहसमन्वितः) धृति=धैर्य, उत्साह=दृढ़ता, इन दोनों से जो समन्वितः=युक्त हो (सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः) कार्य्य सिद्ध हो अथवा नहो इनदोनों दशाओं में चित्त में विकार उत्पन्न न हो, ऐसा कर्त्ता (सात्त्विकः उच्यते) सात्त्विक कहा जाता है ॥

रागीकर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धोहिंसात्मकोऽशुचिः । हर्षशोकान्वितःकर्त्ताराजसःपरिकीर्त्तितः२७

पद०—रागी । कर्मफलप्रेप्सुः । लुब्धः । हिंसात्मकः । अशुचिः । हर्षशोकान्वितः । कर्त्ता । राजसः । परिकीर्त्तितः ॥

पदार्थ—(रागी) जो कामादिकों की इच्छा से किसी काम का प्रारम्भ करता है (कर्मफलप्रेप्सु) कर्म के फल की इच्छा करनेवाला (लुब्धः) लोभी (हिंसात्मकः) परहित का सदैव हनन करने वाला (अशुचिः) अपवित्र रहने वाला (हर्षशोकान्वितः) कभी प्रसन्नता और कभी शोक से व्याप्त रहनेवाला (कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः) ऐसा कर्त्ता रजोगुण वाला कहाजाता है ॥

अयुक्तःप्राकृतःस्तब्धःशठोनैष्कृतिकोऽलसः विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते।२८

पद०—अयुक्तः । प्राकृतः । स्तब्धः । शठः । नैष्कृतिकः । अलसः । विषादी । दीर्घसूत्री । च । कर्त्ता । तामसः । उच्यते ॥

पदार्थ—(अयुक्तः) विषय लम्पट होने से जो उस काम के योग्य न हो (प्राकृतः) शास्त्र के संस्कारों से शून्य (स्तब्धः)

ढीठ, हठी (नैष्कृतिकः) दूसरों के ठगने वाला (अलसः) आलसी (शठः) दूसरे को हानि पहुंचाने के लिये सत्य को अन्यथा प्रकट करने वाला (विषादी) सदैव खेद उत्पन्न करने के काम करने वाला (दीर्घसूत्री) ढिलमट्ठ करने वाला (कर्त्ता-तामसः उच्यते) ऐसा कर्त्ता तमोगुणी कहा जाता है ॥

सं०—अब बुद्धि और धृति के तीन २ भेद वर्णन करते हैं:—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २६

पदार्थ—बुद्धेः। भेदं। धृतेः। च। एव। गुणतः। त्रिविधं। शृणु। प्रोच्यमानं। अशेषेण। पृथक्त्वेन। धनंजय ॥

पदार्थ—हे धनंजय (बुद्धेः भेदं) बुद्धि के भेद (च) और (धृतेः) धृति के भेद (एव) निश्चय करके (गुणतः) सत्त्वादि गुणों के भेदसे (त्रिविधं) जो तीन प्रकार के वर्णन किये गए हैं उनको (शृणु) सुनो, वह कैसे हैं जो (अशेषेण) सम्पूर्ण रीति से (पृथक्त्वेन) भिन्न २ करके (प्रोच्यमानं) वर्णन किये गए हैं ॥

भाष्य—बुद्धि के अर्थ यहां ज्ञान शक्ति के हैं, और धृति के अर्थ धारण करने वाली क्रिया शक्ति के हैं, इस प्रकार बुद्धि और धृति का भेद है ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये-
भयाभये। बंधं मोक्षं च या वेत्ति
बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

पद०—प्रवृत्तिं। च। निवृत्तिं। च। कार्याकार्ये। भयाभये। बंधं। मोक्षं। च। या। वेत्ति। बुद्धिः। सा। पार्थ। सात्त्विकी ॥

पदार्थ—हे पार्थ जो बुद्धि (प्रवृत्तिं) प्रवृत्ति को (निवृत्तिं) निवृत्ति को (कार्याकार्ये) कार्य=करने योग्य कामको और अकार्य=न करने योग्य कामको (भयाभये) भय=डरना और अभय=न डरना, इन दोनों को (बंधं मोक्षं च) और बन्धन तथा मुक्ति को (या बुद्धिः वेत्ति) जो बुद्धि जानती है (सा सात्त्विकी) वह सात्त्विकी बुद्धि है ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यंचाकार्यमेव च । अय-थावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१

पद०—यया । धर्मं । अधर्मं । च । कार्यं । च । अकार्यं । एव । च । अयथावत् । प्रजानाति । बुद्धिः । सा । पार्थ । राजसी ॥

पदार्थ—(यया) जिस बुद्धि से पुरुष (धर्मं) धर्म को और (अधर्मं) अधर्म को (कार्यं अकार्यं च) कार्य्य तथा अकार्य को (एव) निश्चय करके (अथावत् प्रजानाति) जो यथार्थ रीति से नहीं जानता, हे पार्थ (सा राजसी बुद्धिः) वह राजसी बुद्धि है ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वा-र्थान्विपरीतांश्च बुद्धिःसा पार्थतामसी। ३२

पद०—अधर्मं । धर्मं । इति । या । मन्यते । तमसा । आवृता । सर्वार्थान् । विपरीतान् । च । बुद्धिः । सा । पार्थ । तामसी ॥

पदार्थ—हे पार्थ (याबुद्धिः) जो बुद्धि (अधर्मं धर्मं इति मन्यते) अधर्म को धर्म मानती है और (सर्वार्थान् विपरीतान् मन्यते) सब अर्थों को उलटा समझती है (तमसा आवृता) वह तमोगुण से ढकी हुई तामसी कहलाती है ॥

सं०—अब धृति के भेद वर्णन करते हैं :—

धृत्यायया धारयते मनः प्राणेंद्रियाक्रियाः। योगे नाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ३३

पद०—धृत्या। यया। धारयते। मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेन। अव्यभिचारिण्या। धृतिः। सा। पार्थ। सात्त्विकी॥

पदार्थ—हे पार्थ (यया धृत्या) जिस धृति से (मनः प्राणेन्द्रिय क्रियाः) मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को (योगेन) योग से (धारयते) जो पुरुष धारण करता है (सा सात्त्विकी-धृतिः) वह सात्त्विकी धृति कहलाती है, कैसी धृति से यह धारण किये जाते हैं (अव्यभिचारिण्या) जो व्यभिचारी नहीं है अर्थात् दृढ़ता वाली है॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन। प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ३४

पद०—यया। तु। धर्मकामार्थान्। धृत्या। धारयते। अर्जुन। प्रसंगेन। फलाकांक्षी। धृतिः। सा। पार्थ। राजसी॥

पदार्थ—हे अर्जुन (यया धृत्या) जिस धृति से पुरुष (धर्मकामार्थान्) धर्म, अर्थ, काम, मनुष्य जन्म के इन तीन फलों को (धारयते) धारण करता है, वह पुरुष कैसा है (प्रसंगेन फलाकांक्षी) उन कर्मों के संगसे जो फलकी इच्छा करता है। ऐसे पुरुष की उक्त तीनों फलों के धारण का हेतु जो धृति है, हे पार्थ (सा राजसी) वह रजोगुण वाली कहलाती है॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च। न विमुंचति दुर्मेधाः धृतिः सा पार्थ तामसी। ३५

पद०—यया। स्वप्नं। भयं। शोकं। विषादं। मदं। एव।

च । न । विमुंचति । दुर्मेधाः । धृतिः । सा । पार्थ । तामसी ॥

पदार्थ—(यया दुर्मेधाः) जिस धृति से, दुष्ट बुद्धि वाला पुरुष (स्वप्नं) निद्रा में संकल्प विकल्प (भयं) डरना (शोकं) संताप (विषादं) सदैव व्याकुल रहना (मदं) विषयों के मद से उन्मत्त रहना (एव च) और इनको कभी भी (न विमुंचति) न छोड़ना, हे पार्थ (सा तामसी धृतिः) वह तमोगुण वाली धृति कहलाती है ॥

सं०—अब सुखको तीन प्रकार का वर्णन करते हैं :—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमतेयत्रदुःखांतं च निगच्छति ३६

पद०—सुखं । तु । इदानीं । त्रिविधं । शृणु । मे । भरतर्षभ । अभ्यासात् । रमते । यत्र । दुःखान्तं । च । निगच्छति ॥

पदार्थ—(भरतर्षभ) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन (इदानीं) अब (सुखं) सुखको (त्रिविधं) तीन प्रकार का (शृणु) सुन, (यत्र) जिस सुख में (अभ्यासात्) यमनियमादिकों के अभ्यास से (रमते) पुरुष लगता है (दुःखान्तं च) और दुखके अंत को (निगच्छति) प्राप्त होता है ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्। तत्सु
खं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्। ३७

पद०—यत् । तत् । अग्रे । विषं । इव । परिणामे । अमृतो-पमं । तत् । सुखं । सात्त्विकं । प्रोक्तं । आत्मबुद्धिप्रसादजं ॥

पदार्थ—(यत् तत् अग्रे) जो वह पूर्वोक्त सुख प्रारम्भ में (विषं इव) विष के समान अनिष्ट प्रतीत हो (परिणामे) अंत में (अमृतोपमं) अमृत के समान प्रतीत हो (तत्सुखं) वह सुख

(सात्त्विकं प्रोक्तं) सात्त्विक कहा गया है, और (आत्मबुद्धि-प्रसादजं) आत्मा = ईश्वर विषयक जो बुद्धि है उसकी प्रसन्नता से वह सात्त्विक सुख उत्पन्न होता है ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामेविषमिवतत्सुखं राजसं स्मृतम् ।३८

पद०—विषयेन्द्रियसंयोगात् । यत् । तत् । अग्रे । अमृतोपमं । परिणामे । विषं । इव । तत् । सुखं । राजसं । स्मृतं ॥

पदार्थ—(विषयेन्द्रियसंयोगात्) विषयऔर इन्द्रियके संयोग से (यत् तत्) जो वह सुख (अग्रे) प्रारम्भ में (अमृतोपमं) अमृत के समान प्रतीत हो (परिणामे) अंत में (विषंइव) विष के समान प्रतीत हो (तत्सुखं) वह सुख (राजसं स्मृतं) रजोगुण वाला समझा जाता है ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखंमोहनमात्मनः।निद्रा-
लस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

पद०—यत् । अग्रे । च । अनुबंधे । च । सुखं । मोहनं । आत्मनः । निद्रालस्यप्रमादोत्थं । तत् । तामसं । उदाहृतं ॥

पदार्थ—(यत्अग्रे) जो आदि में (च) और (अनुबंधे) अंतमें (आत्मनः) आत्मा के (मोहनं) मोह करने वाला हो (निद्रालस्य प्रमादोत्थं) निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ हो (तत्सुखं) वह सुख (तामसं उदाहृतं) तमोगुणवाला कहा गया है ॥

सं०—अब शेष पदार्थों को भी तीनों गुणों वाले कथन करते हैं:-

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।

सत्त्वंप्रकृतिजैर्मुक्तंयदेभिःस्यात्त्रिभिर्गुणैः।४०

पद०—न। तत्। अस्ति। पृथिव्यां। वा। दिवि। देवेषु। वा। पुनः। सत्त्वं। प्रकृतिजैः। मुक्तं। यत्। एभिः। स्यात्। त्रिभिः। गुणैः॥

पदार्थ—(पृथिव्यां) पृथिवी में (न तत् अस्ति) ऐसा कोई पदार्थ नहीं (यत्) जो (सत्त्वं) सत्त्वादि (एभिः त्रिभिः-गुणैः) इन तीन गुणों से (मुक्तं) छुटा हुआ हो, यह गुण कैसे हैं (प्रकृतिजैः) जो प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं (वा) अथवा (दिवि) दिव्यलोक के देवों में भी ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो तीनों गुणों वाला न हो॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थ तीनों गुणों वाले होते हैं केवल परमात्मा ही गुणातीत है अथवा उसके भक्त परमात्मा को पाकर गुणातीत हो सक्ते हैं, अन्य सब जीव प्रकृति के सत्त्वादि भावों से ही भिन्न २ प्रकार की आकृति को धारण कर रहे हैं॥

सं०—अब इस बात को वर्णन करते हैं कि मनुष्यों में वर्ण-चतुष्टय का भेद भी इन सत्त्वादि गुणों से ही होता है:—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणिप्रविभक्तानिस्वभावप्रभवैर्गुणैः।४१

पद०—ब्राह्मणक्षत्रियविशां। शूद्राणां। च। परंतप। कर्माणि। प्रविभक्तानि। स्वभावप्रभवैः। गुणैः॥

पदार्थ—(परंतप) हे शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन (ब्राह्मण क्षत्रिय विशां) ब्राह्मण=ब्रह्मवेत्ता, क्षत्रिय=क्षत से रक्षा करने वाले, विशां=व्यापारादि कर्मों से सारे संसार में प्रविष्ट होवें

वाले और (शूद्राणां) दास भाव करनेवाले लोगों के (कर्माणि) कर्म (स्वभावप्रभवैः गुणैः) अपने स्वाभाविक गुणों से (प्रविभक्तानि) भिन्न २ प्रकार से होते हैं ॥

भाष्य—ब्राह्मणादि लोगों के कर्म उनके स्वभाव से भिन्न २ होते हैं अर्थात् शमदमादि गुण सम्पन्न प्रकृति वाला ब्राह्मण होता है और शौर्यादि प्रकृतिवाला क्षात्रधर्म के योग्य होता है। एवं स्व २ गुणों से वैश्यादि वर्ण होते हैं ॥

सं०—अब उन गुणों को कथन करते हैं जिनसे स्वाभाविक सत्त्वादि प्रधान प्रकृति वाले ब्राह्मणादि लोगों की पहचान होती है:—

शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥४२

पद०—शमः। दमः। तपः। शौचं। क्षान्तिः। आर्जवं। एव। च। ज्ञानं। विज्ञानं। आस्तिक्यं। ब्रह्मकर्म। स्वभावजं॥

पदार्थ—(शमः) अन्तःकरण का रोकना (दमः) चक्षुरादि इन्द्रियों का निरोध करना (तपः) जो पूर्व ब्रह्मचर्यादि तप वर्णन किये गये हैं (शौचं) बाहर भीतर दोनों प्रकार की शुद्धि रखना (क्षान्तिः) शक्ति सम्पन्न होकर भी सहनशील रहना (आर्जवं) सरलता (ज्ञानं) वैदिकज्ञान (विज्ञानं) अनुष्ठानरूपज्ञान अर्थात् ईश्वर का साक्षात्काररूपज्ञान (आस्तिक्यं) वैदिकधर्म में श्रद्धा (ब्रह्मकर्म स्वभावजं) ये उक्त नव गुण सत्त्वप्रधान ब्राह्मण प्रकृति वाले पुरुष में होते हैं ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्मस्वभावजम् ॥४३॥

पद०—शौर्यं । तेजः । धृतिः । दाक्ष्यं । युद्धे । च । अपि । अपलायनं । दानं । ईश्वरभावः । च । क्षात्रं । कर्म । स्वभावजं ॥

पदार्थ—(शौर्यं) युद्धकर्म में प्रहार करने का उत्साह (तेजः) स्वरूप से तेजस्वी होना (धृतिः) विपत्ति पड़ने पर भी व्याकुल न होना (दाक्ष्यं) आपत्ति आपड़ने पर बुद्धिको स्थिर रखना (युद्धे च अपि अपलायनं) शस्त्रप्रहार समय में भी युद्ध से न भागना (दानं) दान देने का भाव रखना (ईश्वरभावःच) और ईश्वर में श्रद्धा रखना (क्षात्रकर्म स्वभावजं) यह क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

पद०—कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं । वैश्यकर्म । स्वभावजं । परिचर्य्यात्मकं । कर्म । शूद्रस्य । अपि । स्वभावजं ॥

पदार्थ—(कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं) कृषि = खेती करना, गोरक्ष्य = गौओं की रक्षा करना, वाणिज्यं = व्यापार करना, (वैश्यकर्मस्वभावजं) यह वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं (परिचर्य्यात्मकं कर्म) सेवा करनेरूपी कर्म (शूद्रस्य अपि) शूद्र का भी (स्वभावजं) स्वाभाविक है ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतःसिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

पद०—स्वे । स्वे । कर्मणि । अभिरतः । संसिद्धिं । लभते । नरः । स्वकर्म निरतः । सिद्धिं । यथा । विन्दति । तत् । शृणु ॥

पदार्थ—(स्वेस्वे) अपने २ (कर्मणि) कर्मों में (अभिरतः) लगा हुआ (नरः) पुरुष (संसिद्धिं) सिद्धिको (लभते) प्राप्त होता है (स्वकर्मनिरतः) अपने कर्मों में लगा हुआ पुरुष (यथा) जिस प्रकार (सिद्धिं) सिद्धि को (विन्दति) लाभ करता है (तत्) वह (शृणु) सुन ॥

सं०—ननु, १४वें अध्याय में सत्त्वादि गुणों को बन्धन का हेतु लिखा है और यह वर्णन किया है कि गुणातीत पुरुष ही अमृतको पाता है, फिर यहां आकर अपने२ सात्त्विक राजसादि कर्मों से सिद्धि की प्राप्ति कैसे कथन की ?

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

पद०—यतः । प्रवृत्तिः । भूतानां । येन । सर्वं । इदं । ततं । स्वकर्मणा । तं । अभ्यर्च्य । सिद्धिं । विन्दति । मानवः ॥

पदार्थ—(यतः) जिससे (भूतानां) पृथिवी आदि सब भूतों की (प्रवृत्तिः) उत्पत्ति होती है, और (येन) जिसने (सर्वइदं-ततं) इस सारे जगत् का विस्तार किया है (स्वकर्मणा) अपने कर्मों से (तं) उसकी (अभ्यर्च्य) पूजा करके (मानवः) मनुष्य (सिद्धिं) सिद्धि को (विन्दति) लाभ करता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में इस बातको सिद्ध किया है कि जो पुरुष परमात्मा परायण होकर कर्मोंको करता है वहफल चतुष्टय रूपी सिद्धि को प्राप्त होता है ॥

ननु—कर्मों को छोड़कर सिद्धि को प्राप्त होना गीता में कहीं भी नहीं लिखा और गुणातीत के अर्थ भी यही हैं कि निष्कामता से कर्मों को करता हुआ जो गुणों का अतिक्रमण कर जाता है

वह गुणातीत कहलाता है जैसाकि इसी अ० के श्लो० ५६ में यह कहा है कि सब कर्मों को करता हुआ ईश्वरपरायण पुरुष अव्ययपद को पाता है ! उत्तर—स्वकर्मों से ईश्वर को प्रसन्न करने के अर्थ यह हैं कि जो पुरुष स्व स्वभाव प्राप्त योग्यता से ईश्वर अज्ञानुकूल कर्म करता हुआ ईश्वर की आज्ञा पालनकरता है वही स्व कर्मों से ईश्वर की पूजा करता है ॥

सं०—ननु, यदि पुरुष सर्वथा कर्मों को छोड़कर एक मात्र ईश्वर परायण होकर उसी का भजन करे जैसा कि चतुर्थाश्रमी लोग ब्राह्मणादि वर्णचतुष्टय के कर्मों को छोड़कर "तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी समलोष्टाश्मकांचनः" इस प्रकार की शमविधि वाले होते हैं ऐसा करने से सिद्धि को प्राप्त क्यों नहीं होगा ? उत्तर :—

श्रेयान्स्वधर्मोविगुणःपरधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतंकर्मकुर्वन्नाप्नोतिकिल्विषम् ४७

पद०—श्रेयान् । स्वधर्मः । विगुणः । परधर्मात् । स्वनुष्ठितात् । स्वभावनियतं । कर्म । कुर्वन् । न । आप्नोति । किल्विषं ॥

पदार्थ—(परधर्मात् स्वनुष्ठितात्) दूसरे के भले प्रकार अनुष्ठान किये हुए धर्म से (श्रेयान् स्वधर्मः विगुणः) अपनागुणरहित धर्म भी श्रेष्ठ है, क्योंकि (स्वभावनियतं कर्म) स्वभाव से नियत जो स्वकर्म है उसको (कुर्वन्) करता हुआ (किल्विषं) पापको (न आप्नोति) प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य—अपने स्वभाव प्राप्त स्वधर्म की अपेक्षा से यदि दूसरे का धर्म भले प्रकार से भी सेवन कियाजाय तब भी स्वभाव प्राप्त धर्म ही श्रेष्ठ है । यह श्लोक अर्जुन के स्वाभाविक क्षात्रधर्म

को दृढ़ करता है अर्थात् जो अर्जुन युद्ध में हिंसादि दोषोंसे डर कर संन्यास धर्म की ओर जा रहाथा उससे हटाता है और यह सिद्ध करता है कि स्वभाव प्राप्त धर्म को करता हुआ ही पुरुष सिद्धि को पाता है। और गी० ३। ३५ में भी स्वधर्म के अर्थ अपनी प्रकृति से प्राप्त धर्म के ही हैं जन्म से प्राप्त धर्म के नहीं॥

सं०—अब प्रकृति से प्राप्त क्षात्रधर्म को प्रकारान्तर से दोष रहित सिद्ध करते हैं:—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ४८

पद०—सहजं। कर्म। कौन्तेय। सदोषम्। अपि। न। त्यजेत्। सर्वारंभाः। हि। दोषेण। धूमेन। अग्निः। इव। आवृताः॥

पदार्थ—(कौन्तेय) हे अर्जुन (सहजं) स्वभाव जन्य अपनी प्रकृति से जो प्राप्त कर्म हो वह (सदोषं अपि) दोषवाला भी हो तब भी उसको पुरुष (न त्यजेत्) न छोड़े (हि) जिस कारण (सर्वारंभाः) सभी काम (दोषेण) दोषसे (आवृताः) व्याप्त होते हैं (इव) जैसे (अग्निः) अग्नि (धूमेन) धुंए से व्याप्त होती है॥

सं०—फिर किस प्रकार उन कर्मों के दोषों से पुरुष बच सकता है? उत्तर

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥

पद०—असक्तबुद्धिः। सर्वत्र। जितात्मा। विगतस्पृहः। नैष्कर्म्यसिद्धिं। परमां। संन्यासेन। अधिगच्छति॥

पदार्थ—(असक्तबुद्धिःसर्वत्र) जिसकी बुद्धि उन सब कर्मों के फलों में फसी हुई नहीं अर्थात् सब स्थानों में निष्कामता के कारण सङ्ग से वर्जित है (जितात्मा) जिसने अपने मनको जीत लिया है (विगतस्पृहः) जिसकी सब कामनाएं दूर होगई हैं (परमां) सर्वोपरि (नैष्कर्म्यसिद्धि) कर्मों से रहित होकर जो सिद्धि प्राप्त होती है उस सिद्धि को पुरुष (संन्यासेन) संन्यास से (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥

भाष्य—संन्यासके अर्थ यहां निष्काम कर्म करने के हैं कर्मोंके त्याग के नहीं, क्योंकि आगे जाकर श्लो० ५६ में यह कथन करना है कि कर्मोंको करता हुआ ही पुरुष सिद्धिको प्राप्तहो सकता है ॥

सं०—अब जिस प्रकार इस निष्कामता रूपी सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है वह प्रकार वर्णन करते हैं :—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

पद०—सिद्धिं । प्राप्तः । यथा । ब्रह्म । तथा । आप्नोति । निबोध । मे । समासेन । एव । कौन्तेय । निष्ठा । ज्ञानस्य । या । परा ॥

पदार्थ—(कौन्तेय) हे अर्जुन (यथा) जिस प्रकार (सिद्धिप्राप्तः) सिद्धि को प्राप्त पुरुष ब्रह्मको (आप्नोति) प्राप्त होता है (तथा) उस प्रकार को (मे) मुझसे (निबोध) सुन, और (ज्ञानस्य) ज्ञानकी जो (परानिष्ठा) सबसे बड़ी निष्ठा है उसको भी (समासेन) संक्षेप से सुन ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं-

नियम्य च । शब्दादीन्विषयांस्त्य-
क्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

पद०—बुद्ध्या । विशुद्धया । युक्तः । धृत्या । आत्मानं । नियम्य । च । शब्दादीन् । विषयान् । त्यक्त्वा । रागद्वेषौ । व्युदस्य । च ॥

पदार्थ—(बुद्ध्याविशुद्धया) शुद्धबुद्धि से (युक्तः) युक्त (धृत्या) आत्मिक बल से (आत्मानं नियम्य) मन को रोककर (शब्दादीन्) शब्द स्पर्शादि (विषयान्) विषयों को (त्यक्त्वा) छोड़कर (च) और (रागद्वेषौ) रागद्वेषको (व्युदस्य) छोड़कर, ब्रह्मको प्राप्त होता है । आगे ५३ श्लो० से इसका अन्वय है ॥

सं०—और किन २ गुणोंवाला पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है ? उत्तर—

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ५२

पद०—विविक्तसेवी । लघ्वाशी । यतवाक्कायमानसः । ध्यानयोगपरः । नित्यं । वैराग्यं । समुपाश्रितः ॥

पदार्थ—(विविक्त सेवी) जो एकान्त सेवन करताहै (लघ्वाशी) परमित भोजन करता है (यतवाक्कायमानसः) जीत लिया है शरीर, वाणी और मन जिसने (ध्यानयोगपरः नित्यं) और सदैव ईश्वर विषयक चित्तवृत्ति निरोधरूपी समाधि में लगा हुआ है, और (वैराग्यं) वैराग्य को (समुपाश्रितः) आश्रय किया हुआ है । ऐसा पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥

सं०—फिर वह पुरुष कैसा है ?

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३

पद०—अहंकारं । बलं । दर्पं । कामं । क्रोधं । परिग्रहं । विमुच्य । निर्ममः । शान्तः । ब्रह्मभूयाय । कल्पते ॥

पदार्थ—(अहंकारं) अभिमान (बलं) धर्म से विरुद्ध बल (दर्पं) शिष्ट पुरुषों के तिरस्कार करनेवाला जो मद है उसका नाम दर्प है (कामं) काम (क्रोधं) क्रोध (परिग्रहं) भोग के साधनों का अधिक संग्रह (विमुच्य) इन सबको छोड़ कर (निर्ममः) ममता से रहित है (शान्तः) चित्त के सब विक्षेपों से रहित है, वह पुरुष (ब्रह्मभूयाय कल्पते) ब्रह्म के भाव को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—उक्त श्लोकों के अद्वैतवादी यह अर्थ करते हैं कि सब वस्तुओं का त्याग करके जो परमहंस संन्यासी हुआ है जिस के पास कौपीन मात्र ही शेष है उस पुरुष के पूर्वोक्त साधन कथन कियेगए हैं और "ब्रह्मभूयायकल्पते" के अर्थ इनके मत में यह हैं कि ऐसा संन्यासी अपने आपको ब्रह्म समझ लेता है, परन्तु इस प्रकार जीव के ब्रह्म बन जाने के इस श्लोक के अर्थ कदापि नहीं, क्योंकिः—ब्रह्मणोभावः, ब्रह्मभूयः = ब्रह्म का जो भाव है उसका नाम ब्रह्मभूय है, और वह ब्रह्म का भाव मुक्त पुरुष को ईश्वर के सत्य संकल्पादि गुणों के धारण करने से प्राप्त होता है जैसाकि हम तद्धर्मतापत्ति में प्रतिपादन कर आए हैं। और यदि यहां "ब्रह्मभूयाय" के अर्थ ब्रह्म बनने के होते तो अग्रिम श्लोक में यह क्यों कथन किया जाता कि उक्त गुणों वाला पुरुष भक्तिको प्राप्त होता है, क्या ब्रह्म

बनने के अनन्तर भी किसी की भक्ति करनी पड़ती है ? एवं विचार करने से सार यह निकलता है कि उक्त गुणों वाला निष्काम कर्मी पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है । देखोः—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४

पद०—ब्रह्मभूतः । प्रसन्नात्मा । न । शोचति । न । कांक्षति । समः । सर्वेषु । भूतेषु । मद्भक्तिं । लभते । परां ॥

पदार्थ—(ब्रह्मभूतः) ब्रह्म के गुणों को धारण करने वाला पुरुष (प्रसन्नात्मा) प्रसन्नचित्तवाला (न शोचति) न शोक करता है (न कांक्षति) न किसी वस्तु की इच्छा करता है (समःसर्वेषु- भूतेषु) सब प्राणियों को सम दृष्टि से देखता हुआ (परां) सब से बड़ी (मद्भक्तिं) मेरी भक्ति को (लभते) प्राप्त होता है ॥

भाष्य—इस भक्ति को परा इसलिये कहागया है कि यह निर्गुणोपासनारूपीभक्ति सब उपासनाओं से बड़ी है । पीछे चार प्रकार के भक्तों को निरूपण करके जो ज्ञानी को सब से श्रेष्ठ माना है उसी ज्ञानी भक्त की भक्ति यहां परा शब्द से कथन की गई है ॥

सं०—अब इस निर्गुण भक्ति का फल कथन करते हैंः—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चा स्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

पद०—भक्त्या । मां । अभिजानाति । यावान् । यः । च ।

अस्मि । तत्त्वतः । ततः । मां । तत्त्वतः । ज्ञात्वा । विशते । तदनन्तरम् ॥

पदार्थ—जो पुरुष (भक्त्या) उक्त भक्ति से (यावान्) जितना (यः च अस्मि) जो कुछ मैं हूं (मां) वैसे मुझको (तत्त्वतः) वास्तवस्वरूप से (अभिजानाति) भले प्रकार जानता है वह पुरुष (मां) मुझको (तत्त्वतः) स्वरूप से (ज्ञात्वा) भले प्रकार जानकर (तदनन्तरं) तिस जानने के पीछे (विशते) परमात्मा को ज्ञान द्वारा पालेता है ॥

भाष्य—"भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया" गी० ८। २२ इत्यादि श्लोकों में जो भक्ति वर्णन की गई है उस भक्ति द्वारा यहां परमात्मा की प्राप्ति कथन की है। मायावादी लोग "विशते" के अर्थ ब्रह्म में अभेदरूप से प्रविष्ट होने के करते हैं अर्थात् ब्रह्म के तत्त्वज्ञान के अनन्तर जीव ब्रह्म बन जाता है। यह अर्थ यहां कदापि नहीं घटते क्योंकि निम्नलिखित श्लोक में यह वर्णन किया है कि परमात्मा की शरण को प्राप्त होकर ही उस अव्यय पदको प्राप्त होता है, ब्रह्म बनकर फिर परमात्मा की शरण क्या ? देखो:—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६

पद०—सर्वकर्माणि । अपि । सदा । कुर्वाणः । मद्व्यपाश्रयः । मत्प्रसादात् । अवाप्नोति । शाश्वतं । पदं । अव्ययं ॥

पदार्थ—(सर्वकर्माणि अपि) सब कर्मों को भी (सदाकुर्वाणः) सदा करता हुआ (मद्व्यपाश्रयः) मेरे आश्रित होकर (मत्प्रसादात्) मेरी कृपा से (शाश्वतं) निरन्तर (अव्ययं) विकार रहित

(पदं) जो पद है, उसको (अवाप्नोति) प्राप्त होता है ॥

भाष्य—इस श्लोक की सङ्गति पूर्व श्लोक से मायावादियों ने यों लगाई है कि ब्राह्मण सब कर्मों को (संन्यास) त्याग करके ब्रह्म बन सक्ता है और क्षात्रियादिकों को कर्म करने पड़ते हैं, इसलिये यहां कृष्णजी ने अर्जुन को ज्ञान के अनन्तर कर्मों का उपदेश किया है। मायावादियों की यह सङ्गति गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि यदि अर्जुन को संन्यास का अधिकार न होता तो कृष्णजी उसको वारम्बार संन्यास का उपदेश क्यों करते ?

सं०—देखो अग्रिम श्लोक में कृष्णजी अर्जुन को फिर संन्यास का उपदेश करते हैं:—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७

पद०—चेतसा । सर्वकर्माणि । मयि । संन्यस्य । मत्परः । बुद्धियोगम् । उपाश्रित्य । मच्चित्तः । सततं । भव ॥

पदार्थ—(चेतसा) मनसे (सर्वकर्माणि) सब कर्मों को (मयि संन्यस्य) मेरे में छोड़कर (मत्परः) मेरे परायण हो (बुद्धियोगं) निष्काम कर्म रूपी बुद्धि योगको (उपाश्रित्य) आश्रय करके (मच्चित्तः) मेरे में चित्तवाला (सततं भव) सदैव हो ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथचेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि५८

पद०—मच्चित्तः । सर्वदुर्गाणि । मत्प्रसादात् । तरिष्यसि । अथ । चेत् । त्वं । अहंकारात् । न । श्रोष्यसि । विनंक्ष्यसि ॥

पदार्थ—(मच्चित्तः) मेरे में चित्त वाला होकर (सर्वदुर्गाणि) भवसागर के इन सब दुस्तर मार्गोंको (मत्प्रसादात्) मेरी कृपा से (तरिष्यसि) तैर जायगा (अथचेत्) कदाचित् (अहंकारात्) अभिमान् से (त्वं) तू (नश्रोष्यसि) न सुनेगा, तो (विनंक्ष्यसि) नाश होजायगा ॥

भाष्य—उक्त दोनों श्लोकोंमें "मां" "मत्" इत्यादि शब्दों का प्रयोग कृष्ण जी ने परमात्मा की ओर से किया है, जैसा कि ४६वें श्लोक में परमात्मा की उपासना से सिद्धि कथन की है, एवं उक्त श्लोकों में भी परमात्मा की शरण को प्राप्त होकर ही सब दुर्गम मार्गों का सुगम होना कथन किया है अन्यथा नहीं, यदि मायावादियों के इस भावका यहां कथन होता कि क्षत्रिय होने से अर्जुन को ब्रह्मज्ञानका अधिकार न था इसलिये दास भावका उपदेश कियागया है, तो निम्न लिखित श्लोकों में अर्जुन को क्षात्रधर्म के लिये उद्यत न किया जाता ! और यदि कृष्ण अपनी शरणका ही उपदेश पूर्व श्लोकों में करते, तो इन आगे के श्लोकों में एक मात्र परमात्मा की शरणागत होने का उपदेश अर्जुन को क्यों किया जाता ? देखो :—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति-
मन्यसे । मिथ्यैव व्यवसायस्ते
प्रकृति स्त्वांनियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

पद०—यत् । अहंकारं । आश्रित्य । न । योत्स्ये । इति । मन्यसे । मिथ्या । एव । व्यवसायः । ते । प्रकृतिः । त्वां । नियोक्ष्यति ॥

पदार्थ—(अहंकारं आश्रित्य) अहंकार को आश्रय करके

(न योत्स्ये) मैं युद्ध नहीं करूंगा (इति) ऐसा (यत्) जो (मन्यसे) तू माने तो (व्यवसायः) यह तुम्हारा निश्चय (मिथ्याएव) मिथ्या ही है (ते प्रकृतिः) तुम्हारा क्षात्रधर्म का स्वभाव (त्वां) तुमको (नियोक्ष्यति) युद्धके लिये नियुक्त करेगा ॥

सं०—अब उस क्षात्रधर्म के स्वभाव में पूर्व कर्मों को हेतु कथन करते हैं :—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा । कर्तुंनेच्छसि यन्मो-हात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

पद०—स्वभावजेन । कौन्तेय । निबद्धः । स्वेन । कर्मणा । कर्त्तुं । न । इच्छसि । यत् । मोहात् । करिष्यसि । अवशः । अपि । तत् ॥

पदार्थ—हे कौन्तेय (मोहात्) मोहसे (यत्) जिस युद्धको (कर्त्तुं) करने के लिये (न इच्छसि) तू इच्छा नहीं करता (तत्) उस युद्ध को (स्वभावजेन कर्मणा) अपने स्वभाविक कर्मों से (निबद्धः) बंधाहुआ (अवशः अपि) अवश्यमेव (करिष्यसि) करेगा ॥

सं०—अब इस प्रकृतिरूपी आधीनता के अनन्तर अर्जुन को ईश्वराधीन निरूपण करते हैं :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानियंत्रारूढानि मायया॥६१

पद०—ईश्वरः । सर्वभूतानां । हृद्देशे । अर्जुन । तिष्ठति । भ्रामयन् । सर्वभूतानि । यंत्रारूढानि । मायया ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (यंत्रारूढानि) परमात्मा के नियमरूपी यंत्रमें स्थिर (सर्वभूतानि) सब प्राणियों को (मायया) अपनी प्रकृतिरूपी माया से (भ्रामयन्) भ्रमण करता हुआ (ईश्वरः) परमात्मा (सर्वभूतानां) सब प्राणियों के (हृद्देशे) हृदय में (तिष्ठति) स्थिर है ॥

भाष्य—माया शब्द के अर्थ यहां प्रकृति के हैं। ईश्वर के सर्व नियन्ता होने का आशय "यः पृथिव्यांतिष्ठन्" बृ० ३। ७। ३ इत्यादि वाक्यों से गीता में लियागया है ॥

सं०—अब अर्जुन को ईश्वर की शरणागत होने का उपदेश करते हैं :—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। मत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानंप्राप्स्यसिशाश्वतम्।

पद०—तं। एव। शरणं। गच्छ। सर्वभावेन। भारत। मत्प्रसादात्। परां। शान्तिं। स्थानं। प्राप्स्यसि। शाश्वतं ॥

पदार्थ—(भारत) हे अर्जुन (सर्वभावेन) सर्व प्रकार से (तं एव शरणं) उसी ईश्वर की शरण को (गच्छ) तू प्राप्त हो (तत्प्रसादात्) उसी परमात्मा की कृपा से (परांशान्ति) सर्वोपरि शान्ति को और (शाश्वतं) अचल (स्थानं) पदको (प्राप्स्यसि) प्राप्त होगा ॥

भाष्य—"पराशान्ति" के अर्थ यहां समाधि के हैं और "स्थानं" के अर्थ परमात्मा के स्वरूप के हैं जैसाकि :—"तद्विष्णोपरमंपदं" अथर्व० ७। ३। ७ इत्यादि मंत्रों में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है, उसी स्वरूप का

अर्जुन को उपदेश किया है । यहां मायावादी स्थान शब्द के यह अर्थ करते हैं कि ब्रह्मरूप होकर जो स्थिर होना है उस का नाम स्थान है, अर्थात् उसकी शरण को प्राप्त होकर तु ब्रह्म बन जायगा ! यदि ब्रह्म बनजाने का उक्त श्लोक में उपदेश होता तो "तमेवशरणंगच्छ" यह कथन न किया जाता क्योंकि जो जिसकी शरण को प्राप्त होता है वह स्वयं शरणरूप नहीं होता । और तर्क यह है कि शरण अपने से अधिक वस्तु की ली जाती है, एवं जो ईश्वर सर्व स्वामी है जिसकी शरणागत जीव को शान्ति कथन की है वह अनन्त कल्याण गुणों की राशि ब्रह्म, जीव कदापि नहीं बन सकता । इसी अभिप्राय से स्वा० रामानुज ने इसके अर्थ विष्णु के पद के किये हैं ॥

सं०—अब इस गीता शास्त्रका उपसंहार करते हुए कृष्णजी इस वैदिक ज्ञानकी महिमा वर्णन करते हैं :—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥६३

पद०—इति । ते । ज्ञानं । आख्यातं । गुह्यात् । गुह्यतरं । मया । विमृश्य । एतत् । अशेषेण । यथा । इच्छसि । तथा । कुरु ॥

पदार्थ—(गुह्यात् गुह्यतरं) गूढ़ से गूढ़ (इति ज्ञानं) यह ज्ञान (मया) मैंने (ते) तुम्हारे लिये (अशेषेण) सम्पूर्ण रीति से (आख्यातं) वर्णन किया (एतत्) इसको (विमृश्य) विचार के (यथा इच्छसि) जैसी तुम्हारी इच्छा हो (तथाकुरु) वैसा कर ॥

भाष्य—यह वैदिक ज्ञान जिसका उपदेश कृष्णजी ने अर्जुन को किया है मायावादी इसका यह भाष्य करते हैं कि यह गुप्त ज्ञान जिससे जीव ब्रह्म बनजाता है इसका पूरा अधिकार तो

ब्राह्मण जन्म वाले पुरुष को है क्योंकि वह सब कर्मों का त्याग करके ब्रह्म बनजाता है और क्षत्रियादि वर्णों का अपने २ वर्णों के कर्म करने से ही कल्याण है, अथवा बिना संन्यास से ही उनको हिरण्यगर्भ के समान "अहंब्रह्मास्मि" का उपदेश किया जाता है वा मरने के अनन्तर दूसरे जन्म में उनको ब्राह्मण का जन्म मिलता है फिर वह इसी वाक्य द्वारा ब्रह्म बन सक्ते हैं। इस पौराणिक अर्थ का नाममात्र भी गीता में नहीं, यदि इनके इस मनोरथमात्र के संन्यास का वर्णन गीता में होता तो अर्जुन को संन्यासधर्म का उपदेश कदापि न किया जाता। अधिक क्या, इनका सर्वकर्मरूप संन्यास ही जब गीता में निर्मूल है तो फिर इनके इन मिथ्यार्थों की तो कथा ही क्या॥

सं०—अब उपसंहार में कृष्णजी परमकृपालुता से अर्जुन को गीताशास्त्र के अनन्यभक्तिरूपी तत्त्वका फिर उपदेश करते हैं:-

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥६४॥

पद०—सर्वगुह्यतमं। भूयः। शृणु। मे। परमं। वचः। इष्टः। असि। मे। दृढं। इति। ततः। वक्ष्यामि। ते। हितं॥

पदार्थ—(मे) मेरा (सर्वगुह्यतमं) सब से गोपनीय अर्थात् परम रहस्य (परमं) श्रेष्ठ (वचः) बचन (भूयः) फिर (शृणु) सुन (इष्टः असि मे दृढं) तुम अतिशय करके मेरे मित्र हो (ततः) इसलिये (ते) तुम्हारा (हितं) हितकारकवचन (वक्ष्यामि) कहता हूं॥

सं०—अब कृष्णजी वैदिकधर्म में अर्जुन की श्रद्धा को दृढ़ करने के लिये उपसंहार में फिर अपने वैदिकमत की दृढ़ता का

उपदेश करते हैं:—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसिसत्यंतेप्रतिजानेप्रियोऽसिमे॥६५

पद०—मन्मनाः । भव । मद्भक्तः । मद्याजी । मां । नमः । कुरु । मां । एव । एष्यसि । सत्यं । ते । प्रतिजाने । प्रियः । असि । मे ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (मन्मनाः) मेरे जैसे मनवाला हो (मद्याजी) मेरे जैसे यज्ञ करने वाला बन (मद्भक्तः) मेरा भक्त बन (मांनमः कुरु) मुझको नमस्कार कर, (सत्यं ते प्रतिजाने) मैं तुम्हारे समीप यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूं कि ऐसा करने पर (मां एव-एष्यसि) तु मुझको ही प्राप्त होगा (प्रियः असि मे) तु मेरा प्यारा है ॥

भाष्य—इस श्लोक में "मां एव एष्यसि" इस वाक्य में मां शब्द के अर्थ वैदिकधर्म के हैं अर्थात् ऐसा करने पर तु वैदिक धर्म को प्राप्त होगा जैसाकि गी० १६ । २० में मां शब्द के अर्थ वैदिकधर्म के हैं इसी प्रकार यहां भी वही भाव है ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहंत्वासर्वपापेभ्योमोक्षयिष्यामिमाशुचः ६६

पद०—सर्वधर्मान् । परित्यज्य । मां । एकं । शरणं । व्रज । अहं । त्वां । सर्वपापेभ्यः । मोक्षयिष्यामि । मा शुचः ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (सर्वधर्मान्) वेद विरोधि सब धर्मों को (परित्यज्य) छोड़कर (मां एकं शरणं व्रज) मेरी एक वैदिकधर्म-

रूपी शरण को प्राप्त हो, ऐसा करने पर (अहं) मैं (त्वां) तुम को (सर्वपापेभ्यः) सब पापों से (मोक्षयिष्यामि) छुड़ादूंगा (मा शुचः) शोकमतकर ॥

भाष्य—उक्त दोनों श्लोकों में सम्पूर्ण गीता के अर्थ का व्यास जीने सङ्ग्रह करदिया, क्योंकि गीताका तात्पर्य्य परमात्मा की अनन्य भक्ति में है जैसाकि पूर्व कई एक स्थलों में वर्णन कियागया है कि परमात्मा एकमात्र अनन्यभक्ति से मिलता है, एकमात्र परमात्मा की ही भक्ति को अनन्यभक्ति कहते हैं अर्थात् जिस में परमात्मा से इतर वस्तु का ध्यान नहो जैसाकिः— "अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः" बृ० ३ । ८ । ११ अक्षराधिकरण में यह निरूपण किया है, कि जो इस अक्षर परमात्मा को जानकर इसलोक से प्रयाण करता है वह ब्राह्मण है। इत्यादि वाक्यों में एकमात्र परमात्मा की भक्ति कथन कीगई है, इस अनन्यभक्ति को दृढ़ करने के लिये कृष्णजी ने सब धर्मों का त्याग कथन करके एक मात्र वैदिकधर्म की शरण कथन की है। इस श्लोक में धर्म शब्द के अर्थ धर्माभास के हैं अर्थात् जो सद्धर्मों के समान प्रतीत होते हैं और वास्तव में मिथ्या हैं उनको छोड़ कर तू एक मात्र वैदिक धर्म की शरण ले । मायावादियों ने इन दो श्लोकों का बड़ा भाष्य किया है प्रथम श्लोक का यह भाष्यकियाहै कि "तत्त्वमसि, अहंब्रह्मास्मि, इत्यादि वाक्योंद्वारा जिसने जीवब्रह्मका अभेद समझ लिया है उसके लिये कृष्णजी प्रतिज्ञा करते हैं कि वह ब्रह्म बन जाता है और मुझ परमेश्वर को वह अत्यन्त प्यारा होता है। पर श्लोकके "मद्या

जी" आदि शब्द इनके सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत हैं क्योंकि इनके मतमें ब्रह्मज्ञानसे मुक्ति होती है, और इस श्लोकमें यज्ञ और नमस्कार करने से भी भगवत् प्राप्ति कथन की है, इसलिये इनके मतानुकूल जीवब्रह्मकी एकता के अर्थ यह श्लोक कदापि नहीं देता। और "**सर्वधर्मान्परित्यज्य**" इस द्वितीय श्लोकके भाष्य में मायावादियों ने यह अर्थ किये हैं कि वर्णाश्रम के सब धर्मों को छुड़ाकर एकमात्र भगवत् शरणका उपदेश कियागयाहै और भगवत् शरणके इन्होंने तीन अर्थ किये हैं (१) मैं उस परमेश्वर का हूं (२) परमेश्वर मेरा है (३) वह परमेश्वर मैं हूं, यह अर्थ गीता के आशय से विपरीतहैं क्योंकि "**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्यसिद्धिं विन्दति मानवः**" इस ४६ वें श्लोक में यह कथन कर आए हैं कि चारोवर्ण अपने २ कर्मों से परमात्मा का पूजन करके सिद्धि को प्राप्त होते हैं, जब इस श्लोक में वर्णों के धर्म परमात्मा की पूजा का हेतु कथन किये गए हैं तो यहां आकर उनके त्याग के कथन से क्या तात्पर्य ? स्वामी शं० चा० इसके यह अर्थ करते हैं कि सबधर्मोंको त्यागकर इस श्लोक में संन्यास का विधान कियागया है, इनका यह कथन इसलिये संगत नहीं कि इनके मतमें संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण ही को है फिर कृष्णजी ने अर्जुन को ऐसे संन्यास का उपदेश क्यों किया जिसका उसे अधिकार ही न था, यदि यह कहाजाय कि अर्जुन को लक्ष्य रखकर ब्राह्मणों के लिये यह उपदेश किया गया है तब भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्व कर्मोंके त्यागका "**नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः**" इस अध्याय

के ११वें श्लोक में खण्डन किया गया है इसलिये वेद विरुद्ध धर्मों के त्याग में ही यहां कृष्णजी का तात्पर्य्य है ॥

सं०—अब इस सम्पूर्ण गीता शास्त्रके अर्थ का उपसंहार करके कृष्णजी इस ब्रह्मविद्या का अनधिकारी के लिये निषेध करते हैं :—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय-
कदाचन । न चाशुश्रूषवे वाच्यं
न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

पद०—इदं । ते । न । अतपस्काय । न । अभक्ताय । कदाचन । न । च । अशुश्रूषवे । वाच्यं । न । च । मां । यः । अभ्यसूयति ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (ते) तुम्हारे लिये कथन किया हुआ (इदं) यह गीता शास्त्र (अतपस्काय) विषय लम्पट पुरुष को (न वाच्यं) न कहना (न अभक्ताय) जो ईश्वर का भक्त न हो उसको न कहना (न च अशुश्रूषवे) और जो न सुनना चाहता हो उसको भी न कहना (न च मां यः अभ्यसूयति) और जो कृष्णजी के उपदेश की निन्दा करे उसको भी (कदाचन) कभी न कहना ॥

भाष्य—इस श्लोक का तात्पर्य्य यह है कि अनधिकारी पुरुष को उक्त ब्रह्मविद्यारूपी शास्त्रका उपदेश न करना ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभि-
धास्यति । भक्तिं मयि परां-

कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

पद०—यः । इमं । परमं । गुह्यं । मद्भक्तेषु । अभिधास्यति । भक्तिं । मयि । परां । कृत्वा । मां । एव । एष्यति । असंशयः ॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (इमं परमं गुह्यं) इस परम गुह्य ज्ञान को (मद्भक्तेषु) मेरे वैदिक भक्तों में (अभिधास्यति) कथन करेगा वह (मयि) मेरे वैदिक मार्ग में (परां भक्तिं कृत्वा) परम भक्ति करके (मां एव एष्यसि) मेरे वैदिक मार्ग को प्राप्त होगा (असंशयः) इसमें कोई संशय नहीं ॥

भाष्य—इस श्लोक में "**मामेकंशरणंव्रज**" इसके समान ही "**मां**" शब्द के अर्थ वैदिक मार्ग के हैं, यदि इस शब्द के अर्थ यहां कृष्ण के लिये जायं तो सङ्गत नहीं होते क्योंकि इसी अध्याय के श्लो० ४६ और ६१ में कृष्ण जी अपने से भिन्न परमात्मा का वर्णन कर आए हैं और उस वर्णनका "**तमेव शरणंगच्छ सर्वभावेनभारत**" इस ६२वें श्लोक में यह कथन करके कि हे अर्जुन तू सब भावों से उसी परमात्मा की शरणको प्राप्त हो, ईश्वर विषय का उपसंहार कर आए हैं, इस लिये इस स्थान में मां शब्द के अर्थ वैदिक मार्ग के हैं, अथवा कृष्णजी मां शब्दका प्रयोग यहां इस अभिप्राय से करते हैं कि जो इस गीता शास्त्रको भक्तों में सुनाता है वह मुझको ही प्राप्त होगा अर्थात् मेरे जैसे निश्चय वाला होगा, जैसा कि उक्तप्रकार से गीता शास्त्र के मानने वाले पुरुष को आगे के श्लोकमें अपना प्रिय कथन करते हैं :—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे-

प्रियकृत्तमः । भविता न च मे
तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

पद०—न । च । तस्मात् । मनुष्येषु । कश्चित् । मे । प्रिय-कृत्तमः । भविता । न । च । मे । तस्मात् । अन्यः । प्रियतरः । भुवि ॥

पदार्थ—(मनुष्येषु) सब मनुष्यों में (तस्मात्) उस पुरुष से (कश्चित्) कोई (मे प्रिय कृत्तमः) मेरा अति प्यारा (न च भविता) न होगा, और (तस्मात् अन्यः) उससे अन्य (प्रियतरः) प्यारा (भुवि) संसार में (न मे) मेरा नहीं है, जो इस गीता शास्त्र को ईश्वरके भक्तों में सुनाता है ॥

सं०—अब इसके अध्ययन कर्त्ता को फल कथन करते हैं :-

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेनतेनाहमिष्टःस्यामितिमेमतिः ७०

पद०—अध्येष्यते । च । यः । इमं । धर्म्यं । संवादं । आवयोः । ज्ञानयज्ञेन । तेन । अहं । इष्टः । स्यां । इति । मे । मतिः ॥

पदार्थ—हे अर्जुन (आवयोः) हम दोनों के (इमं संवादं) इस संवादको, जो (धर्म्यं) धर्म पूर्वक है (यः अध्येष्यते) जो पढ़ेगा (तेन) उससे (अहं) मैं (ज्ञानयज्ञेन) ज्ञानरूपी यज्ञ से (इष्टः स्यां) प्रसन्न होता हूं (इति मे मतिः) यह मेरी सम्मति है॥

भाष्य—यहां इष्ट के अर्थ ज्ञान यज्ञ से पूजे जाने के नहीं, किन्तु उसके ज्ञानरूपी यज्ञ से मैं प्रसन्न होऊंगा यह अर्थ है इन अर्थों से कृष्णजी अपने आपको ईश्वर प्रतिपादन नहीं करते किन्तु अपना अभिमत प्रतिपादन करते हैं । यदि इसके

अर्थ यहां ज्ञान यज्ञसे पूजे जाने के भी लिये जांय तबभी सार यह निकलता है कि सात्त्विक ज्ञानसे अर्थात् परमात्मा के एकत्व ज्ञानसे कृष्ण पूजा जाता है अर्थात् इस वैदिक ज्ञान से कृष्ण जी अपना सत्कार मानते हैं, मिथ्या ज्ञानसे नहीं। इस प्रकार भी गीता शास्त्र का तात्पर्य्य निराकारोपासना में है कृष्णादि विग्रह धारी पुरुषों की उपासना में नहीं॥

सं०—अब श्रवणकर्त्ता के फलको कथन करते हैं :—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः। सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥७१॥

पद०—श्रद्धावान्। अनसूयः। च। शृणुयात्। अपि। यः। नरः। सः। अपि। मुक्तः। शुभान्। लोकान्। प्राप्नुयात्। पुण्यकर्मणां॥

पदार्थ—(श्रद्धावान्) आस्तिक्य बुद्धिवाला (अनसूयः च) और अनिन्दक (यः नरः) जो इस प्रकार का पुरुष (शृणुयात्-अपि) सुनेभी (सः अपि) वह भी (मुक्तः) यहां से शरीर त्याग कर (पुण्य कर्मणां) पवित्र कर्मों वाले (शुभान्लोकान्) अच्छी अवस्थाओं को (प्राप्नुयात्) प्राप्त होता है॥

सं०—अब कृष्णजी अर्जुन की सन्देह निवृत्ति को पूछते हैं:—

कच्चिदेतत्श्रुतंपार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा। कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥७२

पद०—कच्चित्। एतत् श्रुतं। पार्थ। त्वया। एकाग्रेण। चेतसा। कच्चित्। अज्ञानसंमोहः। प्रनष्टः। ते। धनंजय॥

पदार्थ—हे पार्थ (कच्चित्) क्या (त्वया एकाग्रेण चेतसा) तुमने एकाग्रचित्त से (एतद् श्रुतं) इस शास्त्र का श्रवण किया? हे धनंजय (कच्चित्) क्या (अज्ञान संमोहः मनष्टः) तुम्हारा अज्ञानरूपी मोह नष्ट होगया?

अर्जुनउवाच

नष्टोमोहःस्मृतिर्लब्धात्वत्प्रसादान्मयाच्युत
स्थितोऽस्मिगतसंदेहःकरिष्येवचनंतव ॥७३

पद०—नष्टः। मोहः। स्मृतिः। लब्धा। त्वत्प्रसादात्। मया। अच्युत। स्थितः। अस्मि। गतसन्देहः। करिष्ये। वचनं। तव॥

पदार्थ—(अच्युत) हे कृष्ण (त्वत्प्रसादात्) तुम्हारी कृपा से (मोहः नष्टः) मेरा मोह नष्ट होगया और (मया) मैंने (स्मृतिः लब्धा) क्षात्रधर्म की ज्ञानरूपी स्मृति को लाभकिया, अब मैं (गतसन्देहः) सन्देह रहित (स्थितः अस्मि) होगया हूं (तव-वचनं करिष्ये) अब मैं तुम्हारा आततायियों को वध करनेवाला बचन पूरा करूंगा॥

सं०—यहां तक कृष्ण और अर्जुन का सम्वाद समाप्त हुआ अब संजय धृतराष्ट्र के प्रति इस सम्वाद का उपसंहार सुनाते हैं:-

संजयउवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
सम्वादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

पद०—इति। अहं। वासुदेवस्य। पार्थस्य। च। महात्मनः। सम्वादं। इमं। अश्रौषं। अद्भुतं। रोमहर्षणं॥

पदार्थ—हे धृतराष्ट्र (वासुदेवस्य) कृष्ण का और (पार्थस्य

च महात्मनः) और महात्मा अर्जुन का (इमं अद्भुतं सम्वादं) यह आश्चर्य्य जनक संवाद जो (रोमहर्षणं) आश्चर्य्य से रोमांचपुलकित करदेने वाला है (इति) इसको (अहं) मैंने (अश्रौषं) सुना ॥

सं०—ननु, कृष्णजी ने तो यह संवाद युद्धभूमि में किया था संजय ने यह सम्वाद कैसे सुना ? उत्तर

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमगुह्यमहंपरम्। योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतःस्वयम्॥७८

पद०—व्यासप्रसादात् । श्रुतवान् । इमं । गुह्यं । अहं । परं । योगं । योगेश्वरात् । कृष्णात् । साक्षात् । कथयतः । स्वयं ॥

पदार्थ—(इमं परं गुह्यं) इस परम गुह्य सम्वाद को (योगं) जो चित्तवृत्ति निरोध करनेवाला है (स्वयं साक्षात् कथयतः) स्वयं साक्षात् कथन करते हुए (योगेश्वरात् कृष्णात्) योगेश्वर कृष्ण से (व्यासप्रसादात्) व्यासजी की कृपा से (अहं श्रुतवान्) मैंने सुना ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्। केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥७६

पद०—राजन् । संस्मृत्य । संस्मृत्य । संवादं । इमं । अद्भुतं । केशवार्जुनयोः । पुण्यं । हृष्यामि । च । मुहुः । मुहुः ॥

पदार्थ—हे राजन् (केशवार्जुनयोः) कृष्ण और अर्जुन के (पुण्यं) पवित्र (अद्भुतं) आश्चर्य्यजनक (इमं संवादं) इस संवाद को (संस्मृत्य संस्मृत्य) वारम्वार स्मरण करके (हृष्यामि च मुहुः मुहुः) मैं पुनः २ प्रसन्न होता हूं ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः। विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ।७७

पद०—तत् । च । संस्मृत्य । संस्मृत्य । रूपं । अत्यद्भुतं । हरेः । विस्मयः । मे । महान् । राजन् । हृष्यामि । च । पुनःपुनः ॥

पदार्थ—हे राजन् (हरेः) कृष्ण के (अत्यद्भुतरूपं) अति-अद्भुतरूप को (तत् च संस्मृत्य संस्मृत्य) वारंवार स्मरण करके (मे) मुझको (महान् विस्मयः) बड़ा आश्चर्य होता है (हृष्यामि च पुनः पुनः) और उसको स्मरण करके मैं वारम्वार प्रसन्न होता हूं ॥

सं०—अब संजय अपनी नीतिनिपुणता से पाण्डवों की विजय को कथन करते हैं:—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः । तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८

पद०—यत्र । योगेश्वरः । कृष्णः । यत्र । पार्थः । धनुर्धरः । तत्र । श्रीः । विजयः । भूतिः । ध्रुवा । नीतिः । मतिः । मम ॥

पदार्थ—हे धृतराष्ट्र (यत्र योगेश्वरः कृष्णः) जिस पक्ष में योगेश्वर कृष्ण है (यत्र पार्थः धनुर्धरः) और जिस पक्ष में धनुष के धारण करने वाला अर्जुन है (तत्र) उस पक्ष में (श्रीः) लक्ष्मी (विजयः) शत्रुओं का जीतना और (भूतिः) प्रतिदिन धन की वृद्धि और (नीतिः) न्याय, ये चारों वातें (ध्रुवा) अवश्य होंगी (मम मतिः) यह मेरी सम्मति है ॥

भाष्य—कृष्णजी को योगेश्वर कथन करके श्री, विजय,

भूति, आदि फलों का वर्णन करना इस बात को सूचित करता है कि कृष्णजी मर्यादापुरुषोत्तम थे, इसलिये उन्होंने इस ब्रह्म विद्यारूप गीताशास्त्र में वर्णाश्रम की मर्यादा बांधदी ॥

इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्री-
मद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये
मोक्षसंन्यासयोगोनाम
अष्टादशोऽध्यायः
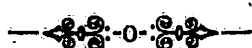
॥ इति तृतीयंषटकंसमाप्तम् ॥

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥